

॥ वेद ॥

वेद से बढ़कर दुनिया भर में कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक ~~अलोमि~~ ग्रन्थ नहीं है, मनुष्यों के हितार्थ इस से बढ़कर किसी भी भाषा या धर्म-सम्प्रदाय में ग्रन्थ नहीं। इस विषय में एक सुप्रसिद्ध विदेशी विधर्मी जर्मन विद्वान् * भट्ट मेशमूलर साहब यों लिखते हैं कि वैदिक संहिता का भाव, भाषा, तात्पर्य रचना प्रणाली और व्याकरण चटित वैलक्षण्य की विवेचना कर देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा में—संसार के विभिन्न जाति और देश की किसी भाषा में वैदिक संहिता की बराबर कोई पुस्तक नहीं यह अति पुरातन संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' संहिता है। यही मनुष्य जाति के हितार्थ प्रथम पुस्तक, मानवीय सभ्यता का एक मात्र प्रथम निदर्शन मनुष्य जाति का प्राचीनतम इतिहास और धर्म विश्वास का प्रथम पथ प्रदर्शक है—अतः एव यह मनुष्य मात्र ही को आदरणीय है। मनुष्य जाति को जिस समय का इतिहास कहीं नहीं पाया जाता, जिस समय की चिन्ता, धर्म, विश्वास, सभ्यता, उपासना, पट्टति, देवोत्थापन, सामाजिक रीति नीति, शाशा भरोसा और हृदय का भाव काल के अनन्त खेत के गर्भ में धिलीन हुए हैं, जिस समय के इतिहास के उद्धार के लिये अन्य-उपाय विद्यमान नहीं, उसी स्मरणातीत समय का इतिहास सुप्रणालीबद्धरूप ऋक् संहिता में सीने के अक्षरों में लिपिवद्ध है। इसी निमित्त सभ्य जगत के सर्वत्र पवित्रत ऋग्वेद संहिता का इतना सम्मान और आदर है।

* The Veda has a two fold interest it belongs to the history of the world, and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records any where, and gives us the very words of a generation of men, of whom otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, belong for ever to the Rig Veda, the most ancient of books in the library of mankind, which is more ancient than the Zendavesta and Homer (919 859 B C)

Prof Max muller's History of Ancient Sanskrit Literature P 63

वेद के अङ्ग ।

हमारे जिन वेद की प्रशंसा उक्त जर्मनदेश आदि के पण्डितगण निष्पत्त होकर करते, आज हम उस आलौकिक वेदज्ञान से शून्य हो रहे हैं। इस वेद के अति गम्भीर अर्थ को समझने के लिये 'शिक्षा' आदि (वेदाङ्ग) वेद के छः अङ्ग प्रवृत्त हुये हैं। इस शिक्षा प्रभृति को अथर्ववेदीय माण्डूकीय उपनिषद् में अपरा विद्या' कहा है जैसे "ब्रह्मवादीगण कहते हैं कि विद्या दो प्रकार की है एक परा, दूसरी अपरा। इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये सब अपरा विद्या हैं। श्रीर जिस के द्वारा अन्तर ब्रह्म का ज्ञान हो उसी का नाम 'परा विद्या' है।

धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का साधन है। साधन स्वरूप धर्मज्ञान का कारण कहकर यहङ्ग सहित कर्मकाण्ड (वेद का कर्मबोधक भाग) अपरा विद्या है। जो कि ब्रह्मज्ञान परमपुरुषार्थ है इसी कारण उपनिषद् की 'पराविद्या' कहते।

वर्ण, स्वर, प्रभृति उच्चारण प्रकार जिस में कहे गये हैं, वही शास्त्र "शिक्षा" है। तैत्तिरीय शाखाध्यायीगण उपनिषद् के आरम्भ ही में कहते हैं कि "शिक्षा का व्याख्यान करेंगे"। वर्ण-अक्षरादि। शिक्षा ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। शिक्षा ज्ञान बिना-वेद मन्त्रों का उच्चारण, हम लोग ठीक २ नहीं कर सकते। अथ कल्प नामक दूसरे अङ्ग का वर्णन करेंगे।

कल्पसूत्र ।

आपस्तम्ब, वौषायन, आश्वलायन आदि सूत्रों का नाम "कल्पसूत्र" है। याग प्रयोग-इसी "कल्प" ग्रन्थ में कल्पित अर्थात् समर्पित हुए हैं इसी लिये इस का नाम "कल्प" है। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्र संहितानुसार कल्पसूत्र रचे, हैं या ब्राह्मण भागानुसार? यदि कहो कि मन्त्र संहितानुसार, तो यह उत्तर असङ्गत है; क्योंकि उन ने सब से पहिले "दर्शपौर्णमास याग" की व्याख्या आरम्भ किया है। यदि मन्त्रकाण्ड अनुसार प्रवृत्ति होती, तो ऋग्वेद के सब से प्रथम मन्त्र "अग्नि मीले" इत्यादि जिस यज्ञ में, पहिले आवश्यक होना है, उसी यज्ञ की प्रथम व्याख्या करते। ऋग्वेद का "अग्नि मीले" इत्यादि मन्त्र दर्श पौर्णमास इष्टि में कही नहीं प्रयुक्त होता। यदि यह कहो कि ब्राह्मण भागानुसार कल्पसूत्र रचे गये हैं, तो यह भी कहना अनुचित है। "दीक्षणीया इष्टि में अग्नि विष्णु देवताक (अग्नि विष्णु देवता के उद्देश से जो दान किया जायेगा) एकादश कपाल, (११ मही के पात्रों में जिस का संस्कार किया है।

पुरोडाश (यज्ञपिटक) निर्व्याप करे (अर्थात् उस पुरोडाश द्वारा यज्ञ करे) इस प्रकार ब्राह्मण भाग में सब से पहिले दीक्षणीयेष्टि का वर्णन है । (यदि ब्राह्मण भागानुसार आश्वलायन कल्पसूत्र होता, तो दीक्षणीया इष्टि पहिले लिखना उचित था) यहां इन सब युक्तियों के उत्तर में यह कहा जाता है कि ब्रह्म यज्ञादि (अध्ययन या अध्यापन) जप (मन्त्र जप) के अनुसार मन्त्रकारण प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान प्रणाली से नहीं । (जो याग पहिले करना पड़ता, उन के मन्त्र पहिले लिपिबद्ध हैं, ऐसा नहीं । जो ८ । से पहिले शिष्य को पढ़ाना पड़ता अर्थात् पढ़ने की प्रथा है एवं कितने मन्त्रों का जप करने से याज्ञिक लोग जिस प्रणाली का अवलम्बन करते, तदनुसार मन्त्रों का आगे पीछे पाठ करना होता है) ब्रह्मयज्ञ का भी विधान देखा जाता है जैसे—एक भी ऋक्, साम, या यजुर्वेद का, जो पाठ करना पड़ता वही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ या वेदाध्ययन में (ऋक्संहिता पढ़ने से) सत्रसेपहिले अग्नि गीले” इत्यादि पढ़ने का नियम है। वायस्वीम में सब ऋक्, सब यजु; और सब, साम, उच्चारण करे, ऐसा विधि है । [यहां सम्प्रदाय सिद्ध अर्थात् गुप्त परम्परा चलित क्रम अनुसार पाठ करना पड़ता] “आश्विन ग्रह” पर्यन्त जाने पर भी यदि सूर्योदय न हो, सब दाशतरी मन्त्र पाठ करे, ऐसा विधान है । और प्रतिग्रहकारी प्रभृति उपवासी को तीनवार वेदाध्ययन (प्रापश्चित) करनेका विधान दिखलाते हैं । [यहां भी सम्प्रदाय सिद्ध क्रम आदरणीय है] इन मध्य मन्त्रकारणों का विनियोग अर्थात् जहां जिन कई मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उस स्थान (यज्ञादि) में अध्यापक [वेदपाठक] सम्प्रदाय प्रचलित क्रम—[पूर्वापरभाव] को सादर ग्रहण करना पड़ता । किसीएकमन्त्र को किसी एक कार्य में विनियुक्त करने में (भीमांसादर्शन प्रतिपादित) श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, प्रभृति प्रमाणानुसार आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्रों का विनियोग किया है । (श्रुति, लिङ्, प्रभृति का विशेष विवरण भीमांसादर्शन में देखो) यदि ऐसा हुआ तो मन्त्रकारण का क्रम न होने पर भी कोई विरोध नहीं । “इषेत्या” इत्यादि मन्त्र सब जिस प्रकार अवगम्यन कर यागादि कर्म करना होता, उसी क्रमानुयायी भाव से विधि बद्ध किया गया है । आश्वलायन, गोमिल आदि ने इसी नियमानुसार कल्पसूत्र निर्माण किया है । उसी नियम से ‘आम्नात हुआ है अतएव जपादि में वही नियम प्राप्त है ।

यद्यपि ब्राह्मणभाग में दीक्षणीया इष्टि सद्य से पहिले कही गयी है, तथापि दीक्षणीया इष्टि सद्य से पहिले दर्शपूर्णमास इष्टि की विकृति है इसी कारण दर्शपूर्णमास की अपेक्षा करती है। (दर्श पूर्णमास को पहिले न कहने ने दीक्षणीया इष्टि का कहना पूरा नहीं होता, क्योंकि दर्श पूर्णमास इष्टि की प्रक्रिया दीक्षणीया इष्टि में अतिदिष्टा हुयी है।) पस, आश्वलायनादि को पहिले दर्शपूर्णमास याग की व्याख्या करना उचित हुआ। इन से यह ज्ञात हुआ कि कल्पसूत्र मन्त्र विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान का उपदेश देकर उपकार करता है। यदि इस पर कोई ऐसी आपत्तिदेकि “प्रयोराज” इत्यादि मामधेनी ऋक् (एक जातीय ऋक्) मन्त्रों का विनियोग आश्वलायन कर सकते हैं क्योंकि उन को वे आम्नात (पठित) हैं। किन्तु “नम प्रयक्त्वा” इत्यादि ऋचाओं का विनियोग क्योंकर करेंगे? क्योंकि उनने उन मन्त्रों को पढ़ा ही नहीं। जिस प्रकार जो मन्त्र आम्नात हुए तदनुसार ही विनियोग करना उचित है जो आम्नात हुए नहीं, उनका विनियोग कैसे होगा? आश्वलायन ने निज वेद शाखा में उसे न पाकर भी विनियोग क्योंकि या? इस का उत्तर यह कहा जा सकता है कि इस में कोई दोष नहीं, क्योंकि शाखान्तर में जो मन्त्र आम्नात हुए हैं, उन सद्य का भी ब्राह्मणान्तर में विनियोग सिद्ध है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस कारण जिस शाखा में जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट क्यों नहो, कर्मके निर्वाह के लिये वे सद्य ही मन्त्र एकत्र किये जा सकते। (एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुण अपेक्षा करता, इन लिये शाखान्तर गत मन्त्र अन्यत्र विनियुक्त हो सकते हैं।) भीर्मासा शास्त्र से जो अवगत हैं उन का कथन है कि सद्य ही शाखाओं में यह कर्म प्रतिपादित हुआ है। इसी लिये वेद ज्ञान के लिये जिस प्रकार “शिक्षा” पढ़ना अत्यावश्यक है, उमीप्रकार कल्पशास्त्र भी वेदार्थ विचार में परमावश्यक है। कल्प सूत्र में मन्त्रविनियोग द्वारा यागों के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। इस शास्त्र को न जानने से यागादि विषय में जो सद्य सन्देह होता उन का निरास करना नहीं बन सकता। इसी प्रकार व्याकरण आदि ४ अङ्गों के भी भिन्न प्रयोजन है जिनके ज्ञान बिना वेद ज्ञान होना असम्भव है।

यह “कल्पसूत्र” दो भागों में विभक्त है, एक “श्रौतसूत्र” दूसरा “गृह्यसूत्र” जिससे साक्षात् श्रुति विहित अग्निष्टोम आदि अनुष्ठित होते, उस अग्नि को श्रौताग्नि कहते एवं उस अग्नि के सम्बन्ध में जो सब अनुष्ठेय कार्य है, उन सबकी, और ये कार्य सब प्रणालिवद् जिस ग्रन्थ में उपदिष्ट

हुए हैं उसे भी "श्रौत" कहते हैं। इसी प्रकार जिस अग्नि को अघलम्बन कर विवाहादि गृह्य कार्यों का अनुष्ठान किया जावे, उस अग्नि को, उन सय सम्पूर्ण कार्यों को, एवं उन सय कार्यों के प्रणाली विधायक ग्रन्थ को "गृह्य" कहते हैं। यद्यपि "श्रौतसूत्र" प्रत्येक वेद के एक से अधिक हैं किन्तु अमुक शाखा का अमुक श्रौतसूत्र ग्राह्य है ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, अतएव सायनाचार्य कहते हैं कि "सर्वशाखा प्रत्येकमेकं कर्म" * ।

अथात्-सकल शाखायोपि कर्म्यानुष्ठान एक ही है। मीमांसा-चार्य-जैमिनि ने भी ऐसी ही व्यवस्था कियी है (मीमांसा अ० ८ पा० २) और अधिकरण मालादि में भी यह बात कही गयी है। परन्तु गृह्यसूत्र आदि शाखा भेद से विभिन्न है, सुतरां जिस वेद की जितनी शाखा हैं, उस वेद के गृह्यसूत्र भी उतने ही मानने पड़ते। सामवेदीय श्रौतसूत्र प्रणेता लाट्यायन एवं तदीय कौयुनी शाखा के गृह्य-ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का नाम गोभिल है। इन्हीं गोभिल प्रणीत सूत्र आदि की व्यवस्थानुसार उक्त शाखा ध्यायी ब्राह्मणों के विवाहादि सय कर्म्य हुआ करते। एवं इसी सूत्र की प्रमाणता से महामहोपाध्याय भवदेव भट्ट ने विवाह आदि पटुति का प्रचार बङ्गदेश में किया है। अन्यान्य देशों में भी और २ पटुतियाँ हैं। इन्हीं गोभिलाचार्य के गृह्यसूत्र, संध्यासूत्र, स्नानसूत्र, और श्राद्धसूत्र, ये चार ग्रन्थ हैं। यदि ग्राहकों की रुचि हुयी, तो इन ग्रन्थों को भी हम सानुवाद प्रकाशित करेंगे ॥

यद्यपि इस गो० गृ० सू० पर नारायणोपाध्याय कृत वृत्ति पायी जाती है परन्तु इस में लेखक की अनवधानता में इतनी अशुद्धियाँ हैं, जिन को सम्भार कर छपवाना एवं नूतन टीका करनी, दोनों में समान परिश्रम है। इस लिये इस से उचैता कियी गयी। इस गृ० सू० पर दूसरी संस्कृत टीका पं० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार जी की है। यह टीका अन्यान्य शाखानुयायी गृ० सू० के मत के साथ एकता सम्पादन पूर्वक रची गयी है जिस कारण यह टीका अति वृहत् हुयी है। हमारी समझ में जिस शाखा के जो गृह्यसूत्र हों उस २ की टीका तद् २ शाखा के अनुकूल ही होनी चाहिये क्योंकि, अपनी २ शाखानुसार ही अपने २ गृह्यसूत्रादि में स्व २ शाखानुसार कर्तव्य लिखे गये हैं।

ऐसी संस्कृत टीका-इस गृह्यसूत्र पर पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने कियी है, हमने इसी संस्कृत टीका के अनुयायी भाषानुवाद किया है।

इस गोभिलगृह्यसूत्र में ४ प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में दश २ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एकाधिक सूत्र हैं। यों इस में ४ प्रपाठक, ३९ खण्ड एवं १००९ सूत्र हैं। और इस में सात मुख्य २ प्रकरण हैं। १ सर्वकर्मसाधारण विधि, २ ब्रह्मयज्ञ, ३ दर्शपौर्णमास, ४ विवाहादि संस्कार, ५ गृह्यिकर्तव्य ईकाग्र्यकर्म और ७ अर्हणीय प्रकरण हैं।

वेदों की शाखा।

चरणव्यूह नामक-महर्षि शौनक प्रणीत यजुर्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ में अनेक प्रकार की वैदिक शाखाओं का उल्लेख देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'चरणव्यूह' ग्रन्थ बनने के बहुत काल पूर्व ही से विभिन्न वेदों की नाना प्रकार की शाखायें विद्यमान थीं। 'चरणव्यूह' बनने के पूर्व जो सद्य वैदिक 'चरण' और 'शाखा' विलुप्त, या शाखान्तर के साथ मिल गयी थीं, उन सद्य की नामावली उस में नहीं पायी जाती, वरण उस की रचना समय में जो २ शाखायें विद्यमान थीं, उन की नामावली निःसंशय उस में सम्मिलित है। ऋग्वेदीय शाकल, वास्कल, शांख्यायन, माण्डुकायन, एवं आश्वलायन,—इन पांच, शाखाओं का नाममात्र उल्लेख है। परन्तु ऋग्वेद के ऐतरेयी, कौषीतकी पैङ्गी, शैशिरीय, प्रभृति प्राचीन शाखाओं का कोई भी उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में भी शाकल, शांख्यायन, आश्वलायन, माण्डुकायन, और वास्कल शाखा प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख है। जैसे—

“ऋचां समूह ऋग्वेदस्त मभ्यस्य प्रयत्नतः।

पठितः शाकलेनादी, चतुर्भिस्तदनन्तरम्।

शांखपाश्वजायनी चैव, माण्डुको वास्कलस्तथा।

बह्वृचां ऋषयः सर्वे, पञ्चैते एक वेदिनः” ॥—(शौनकीय प्रातिशाख्ये)

एक वेदीय विभिन्न शाखा में कोई शिष्य पार्श्वक्य था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु किसी स्थान में किसी शब्द वा मन्त्र का व्यतिक्रम, और परिवर्तन, किसी स्थान में दो चार मन्त्र नूतन संयोजन, किसी स्थान में मन्त्रों का परस्पर स्थान विपर्यय, किसी स्थान में मन्त्रों का उच्चारण घटित प्रभेद भिन्न २ शाखाओं में दीख पड़ते हैं। वेदाध्यापक प्रति आचार्यों के शिष्य परम्परा से, एक ही 'संहिता' (वेद) का शाखा भेद घटित यत्सानान्य अकिञ्चित् कर परिवर्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं दीखता, तात्पर्यतः नय शाखाओं की संहिता—एक सी हैं।

सामवेद की शाखा ॥

सामवेदीय शाखा प्रयत्नक आचार्यों की नामायली विष्णु पुराण में (अ० ३ । अंग ६) इस प्रकार दी है कि जैमिनि, सुमन्तु और सुकर्म, उत्तरोत्तर सामवेदसंहिता अध्ययन और अध्यापन करते थे । जैमिनि के पीत्र सुकर्म का हिरण्य नाम और पीप्पिलि नामक दो शिष्य थे, उन में से कोशल देश वासी हिरण्यनाम के १५ शिष्य प्राच्यसामग नाम से प्रसिद्ध थे । उन में से कृति नामक ऋषि के २४ शिष्य द्वारा सामवेद की बहुत सी शाखाएँ हुईं । सुकर्म का अन्यतर शिष्य पीप्पिलि के लोकाक्षि, कुधुमि, कुशीदि और लाङ्गलि नाम से ४ प्रधान शिष्य थे * विष्णु पुराण के मत से सामवेद के १००० शाखाएँ थीं । निरुक्त के भाष्य कार दुर्गाचार्य के मत से भी सामवेद सहस्र शाखाओं में विभक्त था ।

इस प्रकार चरण ट्यूह आदि के लिखानुसार ४ वेदों की ११३१ या ११३७ शाखाएँ हैं । और चरण ट्यूह में राणायनीय, शाठ्य, सुप्य, कालाय, महाकालाय, शाद्दूल, लाङ्गुलायन और कौयुम; सामवेद की इन सात प्रधान शाखाओं का चर्चलेख है । आसुरायन, घातायन, प्राङ्गलि, द्वैतभूत, प्राचीनयोप्य, और नैनेय, ये पाँच कौयुम शाखा के अन्तर्भुक्त उपशाखा मात्र हैं । कौयुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा कर्णाट में और राणायनीय शाखा, महाराष्ट्र देश में प्रचलित हैं । बङ्ग देश में कौयुम शाखा की छोड़ सामवेद की अन्य शाखा के प्राप्ति नहीं मिलते ।

“सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः ।

क्रमेण येन सैत्रेय विभेदं शृणु तन्मम ॥ १ ॥

सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूत्, सुकर्मोऽस्याप्यभूत्सुतः ॥

अधीतयन्ता वेदैकां, संहितां तौ महामुनी ॥ २ ॥

सहस्रं संहिताभेदं, सुकर्मो तत्सुतस्ततः ।

चकार त च तच्छिष्यो, लघ्वाते महामती ॥ ३ ॥

हिरण्यनाभः कौशल्यः, पीप्यलिश्च द्विजोत्तम ।

उदीच्य सामगाः शिष्यास्तेभ्यः पञ्चदशस्रताः ॥ ४ ॥

लोकाक्षिः कुधुमिश्च कुशीदीलाङ्गलिस्तथा ।

* यहि पत्रलि के कमनानुसार यजुर्वेद की १०१ शाखा, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ और अथर्व वेद की ६ शाखा हैं ॥ ** एक शतमन्त्र्यु शाखा सहस्र वत्सो सामवेद । एकविरातिर्बहुच नवधाऽअथर्ववेदे, । महाभाष्ये ॥

पौष्पक्षिशिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुली कृताः ॥ ५ ॥

हिरण्यनाभःशिष्यश्च, चतुर्विंशति संहिताः ।

प्रोवाच कृति नामासी शिष्येभ्यः सु महामतिः ॥ ६ ॥

तैशापि सामवेदोऽसौ शाखामि बह्वली कृतः ॥ ७ ॥—॥, विष्णुपुराण ३।६।

क्या व्यासजी से वेदों की शाखायें प्रवृत्त हुयीं?

बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन (महर्षि व्यास) वेदों के विभाग कर्त्ता, मन्त्र द्रष्टा और शाखा प्रवर्त्तक थे । पुराणों में भी इसी प्रकार (विष्णुपुराण तथा भागवत पु०) लिखा है परन्तु यह बात ठीक नहीं है । महर्षि व्यास वेद के अद्वितीय वेत्ता थे, इन्होंने ने इधर उधर से विकीर्ण वेद मन्त्रों का और भी उत्तम रीति से एकत्र कर, जिस वेद के जो मन्त्र थे उन्हें, यथा स्थान रख भिन्न २ संहितानुसार अनेक शिष्यों को उपदेश दिया और उन के पूर्व की जो शाखायें थीं, जो काल वशतः लुप्त हो गयीं थीं, उन्हें भी जहाँ तहाँ से लेकर बड़े उद्योग से प्रकाशित किया और अपने चार शिष्यों को, पढ़ाया इन के समय में वेद की धरम उन्नति थी और ये ही, उस समय वेद के अद्वितीय उन्नायक थे, अपने बुद्धि तप, और अध्यवसाय से यथा साध्य इनने वेद की सब शाखाओं का पता लगा कर ठीक किया । इस बात को लेकर “वेद, व्यास” जी से वेद प्रवृत्त हुए कहलाया । “शाखाप्रणयनं चैव द्वापरे समभूदिदम्” अर्थात् शाखाओं की रचना द्वापर में हो चुकी, यह लिखा है है, इसका अभिप्राय यह है कि द्वापर पर्यन्त वेदों की शाखा बढ़ती रही । क्योंकि द्वापर के पहिले त्रेता युग में भी शाखायें थीं, जैसा कि वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काण्ड में लिखा है कि “आचार्या स्तैत्तिरीयाणाम्” पुनः “एतेकठाः कलापाश्च” किन्तु पुराणों में इस के विरुद्ध कठ, कलाप आदि शाखा व्यास ही के शिष्योंमें प्रवृत्त हुई लिखा है । इस का तात्पर्य पहिलेही लिखा गया ।

सामवेद के आचार्यगण ।

सामवेद के सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचार्यों की नामावली * इस प्रकार लिखी है—ब्रह्मा ने बृहस्पति को उपदेश किया, उन ने नारद को, पुनः उन से विश्वक्सेन, उन ने पराशर के पुत्र व्यास को, व्यास ने जैमिनि को, उन ने

* अथास्य सामविद्यास्य सम्प्रदायप्रवर्त्तकानाचार्यान्नुक्तमेव सतीत्येति । सोऽयं प्रज्ञापत्यो विधिः । तस्मिन् प्रज्ञापतिर्बृहस्पत्ये प्रोवाच बृहस्पतिर्नारदाय । नारदो विश्वक्सेनाय । विश्वक्सेनो व्यासाय पराशराय । व्यासः पराशरो जैमिनेयः । जैमिनिः पाण्डित्याय, पाण्डित्यो पाराशर्याय । पाराशर्यायो वादरायणाय । वादरायणस्तार्क्ष्यः शान्तिनिधौ । तार्क्ष्यः—शास्त्रार्थनिर्णायकः ॥ सामवेदीय सामविधान्नाकरो ।

पौरुषिपद को, उनने पराशर्यायण को उनने घादरायण को उनने तारिह और शाटघानको, इन दोनोंने बहुत ग्रन्थों को पढ़ाया "सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या * प्रसिद्ध भाष्यकार पंडे कुमारिल भट्ट अपने तन्त्र वार्तिक नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं:-१ ताराड्य (प्रौढ़, महा या पञ्चविंश), २ षड्विंश ३ उपनिषद् (छान्दोग) ४ संहितोपनिषद् (जैमिनीय या तलवकार), ५ सामविधान, ६ देवताध्याय, ७ आप्य और ८ वंश ब्रह्मण । इन में से षड्विंश ब्राह्मण जो ताराड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट मात्र है-इस के छठे का नाम अद्भुत ब्राह्मण है, दशाध्यायी छान्दोग के शेष ८ अध्याय छान्दोग उपनिषद् है, तलवकार ब्राह्मण का शेष अध्याय केन या तलवकार उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वोक्त ८ ब्राह्मणों में से शेषोक्त ४ ब्राह्मण साम-वेदीय-अनुक्रमणी भिन्न कुछ नहीं है ।

उपलब्ध सामवेदीय ग्रन्थों की सूची ।

१-सामवेदमन्त्रसंहिता । २-सामसूची । ३-आरण्यसंहिता । ४-लाटघायनश्रौतसूत्र । ५-अष्टविकृति । ६-विकृतित्रयी । ७-अक्षर-तन्त्र । ८-सामप्रातिशाख्य । ९-सामगायनरुद्री । १०-ताराड्यमहाब्राह्मण । ११-आर्षेय ब्राह्मण । १२-सामविधानब्राह्मण । १३-देवतब्राह्मण । १४-देवताध्याय ब्राह्मण । १५-मन्त्रब्राह्मण । १६-वंशब्राह्मण । १७-षड्विंशब्राह्मण । १८-यज्ञसंग्रह । १९-गोभिलगृह्यसूत्र । २०-यज्ञपरिभाषा । २१-निदानसूत्र । २२-उपपन्यसूत्र । २३-सामप्रकाश । २४-शान्तिपाठ । २५-स्वराड्युक्त्य । २६-नारदीय शिक्षा । २७-सानपद संहिता । २८-सन्ध्यासूत्र । २९-स्नानसूत्र । *३०-आहुतसूत्र

यजमान और पुरोहित, या ऋत्विग्गण ।

यजमान उसे कहते हैं जो स्वयं अपने घर यज्ञानुष्ठान करते और ऋत्विक् उस को कहते हैं जो निर्दिष्ट समय में अपने या दूसरे के मङ्गल कार्य के निमित्त यज्ञ कार्य सम्पादन करे, 'पुरोहित' वा 'पुरोधा' भी इसी का नामान्तर है । काल क्रम से यज्ञीय आङ्गिरस की वृद्धि के साथ २ ऋत्विक् लोगोकी क्षमता और संख्या भी बढ़कर, सनातन आर्यसमाज या वैदिक समाज में शीर्ष स्थानीय स्वतन्त्र एकश्रेणी में परिणत हुयी । पहिले सनातन

* ब्राह्मणानि हि यान्येष्टी सरहस्यान्वयीयते । छन्दागास्तु सर्वेषु न करिचक्रियत स्वर ॥३॥

(कुमारिल भट्टप्रणीतनव्यवसिके १ । ३)

* यद्यपि सामवेद की १००० शाखाओं के भिन्न २ अनेक ग्रंथ हैं परन्तु अथर्वणि येही ग्रंथ मिले हैं ॥

आर्यमन्त्र में यज्ञमान स्वयं ही काष्ठ घिसकर अग्नि उत्पन्न कर प्रज्वलित अग्नि में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये पवित्र आज्ञाहुति प्रदान करते । ऋत्विक् नियोग व्ययसाध्य व्यापार होने से केवल, धनी लोग ही पुरोहित द्वारा यज्ञ कराते । अर्थात् धनी लोगोंही में ऋत्विग् गण आद्यद् ये * । पीछेकाल क्रमसे उस के सम्पादन का भार मन्त्रज्ञ ऋत्विक् (पुरोहित) लोगों के हाथ समर्पित हो, उन का प्रभाव और माहात्म्य सविशेष बढ़ चला । होत (बह्वृच) पुरोहितों के लिये 'ऋग्वेदसंहिता' निर्दिष्ट हुयी । 'उद्गाता' (छन्दोग) और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये यथाक्रम साम और यजुर्वेदसंहिता नियत हुयी । इन भिन्न २ श्रेणी पुरोहितों के यथार्थ कर्त्तव्य ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये गये बह्वृच पुरोहितों के लिये ऋग्वेदीय एतरेय और कीर्णित की ब्राह्मण उद्गाताओं के लिये ताण्ड्य ब्राह्मण; और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेदीय के लिये गोपथ ब्राह्मण नियत हुए । ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना पश्चात् अपने २ वेदों की शारानुसार कल्प वा श्रौत और गृह्यसूत्र बनने लगे । और श्रौत ग्रन्थानुसार बड़े २ यज्ञ एवं गृह्यसूत्रानुसार स्मार्त्त कर्म होने लगे । जब वेदोंका पढ़ना पढ़ाना कम हुआ और वैदिककर्म में बाधाये होने लगीं, राजा लोग वेदविद्या से दूर होने लगे, उस समय से पुरोहितों में परस्पर ईर्ष्या द्वेष की नीच पड़ी और लगे एक दूसरे के विरुद्ध निन्दा लिखने यहां तक कि जो होता (ऋग्वेदी) अध्वर्यु (यजुर्वेदी) उद्गाता (सामवेदी) और ब्रह्मा (अथर्ववेदी वा चतुर्वेदवेत्ता) एकसाथ एक यज्ञ में परस्पर आनन्द के साथ अपना २ कर्त्तव्य पालन कर, यज्ञकार्य सम्पादन करते वे स्वतन्त्र न ग्रन्थ बना, उस में अपनी २ प्रशंसा और अन्यवेदी की निन्दा लिखने लगे, जिस का परिणाम यह हुआ कि राजा तथा प्रजा एवं मनुष्यमान में साम्प्रदायिक * निदारुण विद्वेष फैलकर भारतवर्ष का सर्वनाश हुआ । इस के उदाहरण में हम "अथर्वपरिशिष्ट" नामक ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं ॥

पुरोहितों में साम्प्रदायिक निदारुणविद्वेष !!!

"अथर्वपरिशिष्ट" ग्रन्थ के ११२ में अध्याय में लिखा है कि ऋग्वेदी 'बह्वृच' पुरोहित यज्ञमान का राज्य, और यजुर्वेदीय अध्वर्यु (ऋत्विक्) यज्ञमान के पुत्र कलत्रादि का विनाश करते हैं; सामवेदी छन्दांग जिस यज्ञमान के पुरोहित होते उन का घन नष्ट हो जाता । अज्ञानता, या प्रमाद

* महर्षि आपस्तम्ब ने (या परिभाषा, नामक ग्रन्थ में यों लिखा है कि — स (यज्ञ) त्रिभिर्वेदैर्विधीयते ॥१॥ ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदै ॥२॥ एग्लेन होता एतेति ॥१६॥ सामवेदेनोद्गाता ॥१७ यजुर्वेदेनाध्वर्यु ॥११ सर्वैर्भक्षा १६।

से जो 'बह्वृच' ब्राह्मण को पुरोहित्य कर्म में वरण (नुर्रर) करते, निःसन्देह उन के देश, राज्य, नगर, और सन्त्री विनष्ट हो जाते हैं। जो राजा, अध्वर्यु ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियत करता, वह, धन, और यान (रथ) आदि से विहीन हो अस्वाचात से शत्रु के हाथ शीघ्र ही मारा जाता। पशु व्यक्ति, जिस प्रकार गन्तव्य मार्ग में चलने से असमर्थ होता, अण्डे से सद्योजात पक्षी जिस प्रकार आकाश गामी ग्रीह्ययस्त्र विहङ्गम की नाई आकाश मार्ग में परिचरण करने में असमर्थ होता; सामवेदी छन्दोग पुरोहित द्वारा राजा भी उसीप्रकार उन्नतिलाभ करनेमें असमर्थ होता है। और अथर्ववेदी * जलद और 'मौद्ग' शाखाध्यायी ब्राह्मण जिस राजा के पुरोहित होते, १० या १२ महीने में वह राजा, राज्यच्युत हो जाता है। अथर्ववेदी ब्रह्मा पुरोहित ही पुरोहितों में सबसे श्रेष्ठ हैं, वे भयातक कार्य उत्पादन और उस की शान्ति कर सकते, यज्ञ की अनेक विघ्न एवं विपद् से बचा सकते हैं।

अङ्गिरा ही, यज्ञके एकमात्र नियामक अधिपति हैं। अस्त्रवेदज्ञ अथर्ववेदी ब्राह्मण दिव्य, आन्तरीक्ष, और भौम, इन नाना विधियद्योत्पात के उपशमन विधान करते हैं। अध्वर्यु, छन्दोग, क्या बह्वृच कोई भी यज्ञ कालीन अनेक प्रकार के उत्पात प्रशमन नहीं कर सकते इत्यादि। साम्प्रादायिक निदारुण विद्वेष द्वारा परिचालित हो, क्रीधान्ध ग्रन्थकारों ने अपर वेदी और स्ववेदीय भिन्न २ शाखाध्यायी पुरोहितों के प्रति नितान्त अयैध यह कटूक्ति वर्पण पुरः सर अपनी प्रधानता जतलाने के लिये काण्डाकाण्ड विहीनता का परिचय दिया है।

* बह्वृचो हन्ति वैराष्ट्रं अध्वर्युं नाशयेत् सुतान् ।

छन्दोगो नाशयेत् धनं, तस्मादधर्व्वो गुरुः ॥

अज्ञानाद् वा प्रमादाद् वा, यस्य स्याद् बह्वृचो गुरुः ।

देशराष्ट्र-पुरामात्य, नाशस्तस्य न संशयः ॥

यदि वाध्वर्यवं राजा, नियुनक्ति पुरोहितम् ।

शस्त्रेण बध्यते क्षिप्रं परिचीकार्थं वाहनः ॥

ययैव षड्गुरध्वानं, अपक्षी चाण्डलो नभः ।

एवं छन्दोगगुरुणा, राजा वृद्धिं न गच्छति ॥

पुरोधो जलदो यस्य, मौद्गो वा स्यात् कथञ्चन ।

अब्दाद् दशेभ्यो मासेभ्यो राट्त्रभ्यं स गच्छति ॥

अथर्था सृजते घोरं, अद्भुतं शमयेत्तथा ।

अथर्था रक्षते यज्ञं, यज्ञस्य पतिरङ्गिराः ॥

दिव्यान्तरीक्षभौमानामुत्पाताना मनेकधा ।

शमयिता ब्रह्मवेदज्ञः, तस्मादक्षिणतो भृगुः ॥

ब्रह्मा शमयेन्नाध्वर्युं न हन्दीगी न बह्वृचः ।

रक्षांसि रक्षति ब्रह्मा, ब्रह्मा तस्मादथर्ववित् ॥-(अथर्वपरिशिष्टः)

॥ संस्कार ॥

आर्यऋषिगण ने दिव्य दृष्टि से देखा था कि उच्छृङ्खल मनुष्यजाति नियम-रहित होने से उत्तरोत्तर अवनति ही की ओर अग्रसर होगी, कभी स-
ङ्गल मय साधुमार्ग पर पैर न रखेगी, प्रत्युत अनुराग प्रणोदित हो निरन्तर
असत् कर्म का अनुष्ठान करेगी । सुतरां ऐसी अवस्था में समाज का शरीर
अक्षत नहीं रह सकता और मानव-हृदय में धर्मभाव भी प्रस्फुटित नहीं हो
सकता । इस कारण प्रत्येक जीव एवं समस्त समाज का ऐहिक और पार-
लौकिकहित साधन उद्देश्य से महर्षियों ने विशेष नियम व्यवस्था विधिबहु
कियी हैं । नकान-मजबूत करनेसे पहिले उसकी नेव मजबूत देनी पड़ती है,
इसकारण नामवशिष्ट भूमिष्ठ होनेके पहिले ही ऋषि ने सावधान किया है कि-

“निपेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारःस्यान्नेतरस्य कदाचन ॥, (मनुः।११)

अतएव गर्भाधान आदि संस्कार सब यथा समय सम्पादन करना आर्य-
मान को कर्त्तव्य है । संस्कार-का अर्थ शोधन करना, दोषों को हटाकर गुणों
को मिलाना । अर्थात् संस्कार द्वारा कहीं तो वस्तुगत दोष विनष्ट होते
और कहीं वस्तुमें गुण विशेष संयोजित होते । जैसे आर्द्रना स्वभावतः स्वच्छ
और प्रतिबिम्बग्राही होता है, किन्तु उनमें दोष विशेष से मालिन्य उप-
स्थित हो जाता एवं जिस समय तक उस का मैलापन दूर नहीं होता,
उतने समय तक उस की प्रतिबिम्बग्राहिता, या स्वच्छता कुछ भी प्रकाश
नहीं पाती, इस कारण उस में संस्कार का प्रयोजन पड़ता है । चर्पण आदि
क्रिया द्वारा वह आगन्तुक मालिन्य, दूर होने पर पुनः दर्पण का दर्पणत्व
प्रकाश पाता है ।

यही प्रथमोक्त संस्कार का फल है। इसीप्रकार किसी स्थल में वस्तु का किसी प्रकार दोष दूर नहीं होता किन्तु उस में एकप्रकार गुण या उत्कर्ष मात्र उत्पादन करता है। उसी प्रकार जीव, या जैव अन्तःकरण भी स्वभाव से स्वच्छ है किन्तु कामादि संसर्ग फल से उस में मालिन्य, या अज्ञान उपस्थित होता, मालिन्य उपस्थित होने से उस में पुनः विवेक ज्ञान प्रकाश नहीं पाता, विवेक के अप्रकाश से जीव का अधः पतन अवश्यम्भावी, और अधः पतित जीवों को सर्वत्र ही अशान्ति होती, यह स्थिर सिद्धान्त है। सब अनर्थों का मूल स्वरूप उस मालिन्य की दूर कर स्व २ तेज उद्दीपित करना ही संस्कारों का प्रधान प्रयोजन है। शास्त्र कारों ने भी इस विषय में सुन्दररूप से समझाया है:-

चित्रं कर्म्मार्नेकैरङ्गै रुन्मील्यते यथाशनैः ।

ब्राह्मरायमपितद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

जिस प्रकार हथि, चित्रकर और रचना की कुशलता से क्रमशः अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा प्रकाशित, या सम्पूर्ण होती, ब्राह्मणपतेज भी उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कार कार्म्य के द्वार २ अनुष्ठान से पूर्णत्व लाभ करता है। उल्लिखित संस्कार किसी के मत से १६, किसी के मत से १७, किसी के मत से इससे भी न्यून या अधिक हैं जैसे-१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ ब्रूहाकरणा, ९ कर्णवेद, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, (ब्रह्मचर्य) १२ समावर्तन, १३ विवाह, १४ गृहाश्रम, १५ वानप्रस्थ, १६ संन्यास और १७ अन्त्येष्टि ॥

१ गर्भाधान ।

पूर्व ही कहा गया है कि "मनुष्यों के तेज" का संयर्द्धन ही सब संस्कारों द्वारा साधारण और असाधारण का मुख्य उद्देश्य है। घर सुदृढ़ रखने के लिये उस की चेष्टा आरम्भ ही से करनी पड़ती है। सर्वलोक हितैषिणी जननीकल्पा यह श्रुति, उस निगूढ उच्चतम उद्देश्य सिद्धि के अभिप्राय से कहती है कि पितृ, मातृ शरीर में जो दोष रहता, वह सन्तान शरीर में संक्रामित होता है। यह बात विज्ञानशास्त्र भी मुक्तकण्ठ से कहता है। प्राचीन मात्र में ऐसे अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं, अधिक क्या पिता माता की मनोवृत्ति पर्यन्त भी सन्तान में संक्रामित हुआ करती है। मनु कहते हैं कि गर्भाधान, आदि संस्कार द्वारा द्विजाति शिशु के बीजदोष (पिता माता के असत्) संकल्पादि रूप बीज या उपादान गत दोष एवं गार्भिक (माता के शरीर जरायुसंक्रान्त, दोष सब दूर होते हैं)

“गर्भेर्होमैर्जातकर्मचौरमौञ्जीनियन्धनेः।

गर्भिकं वैजिकञ्चैव द्विजानामपमृज्यते” ॥ गृन्ः १२२७ ॥

तात्पर्य यह है कि सन्तान पिता माता के संस्कार को पाता है, सुतरां माता में किसी प्रकार अवैध कुत्सित भाव उपस्थित हो तो वह सन्तान के हृदय में भी अवश्य जम जाता है। महाभारत में लिखा है कि एक समय वीरवर अर्जुनने सुभद्रा को एक युद्ध वृत्तान्त सुनाया था, कथा का आधा अंश वाकी ही था कि सुभद्रा सो गयीं। उस समय सुभद्रा का गर्भस्थ अभिमन्यु भी पिता का कहा हुआ युद्ध वृत्तान्त के अर्द्धांश मात्र से अवगत हुआ। और माता के सो जाने के कारण अवशिष्ट अर्द्धांश नहीं जान सका। शास्त्रानुसार देखा जाता है कि उक्तप्रकार संस्कारों से संस्कृत द्विजातिगण धर्म धर्म के यथार्थ अधिकारी एवं अध्यात्म शास्त्र ग्रहण में भी पूरे अधिकारी होते हैं।

२ पुंसवन ॥

प्रत्येक कार्यों का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता ही है, सुतरां पुंसवन संस्कार का भी एक उद्देश्य रहना आवश्यक है, सो क्या है ? गर्भरक्षा। तात्पर्य यह है कि साधारणतः तीसरे मास से चौथे मास पर्यन्त गर्भ गिर जाने का एक प्रधान समय है, इस प्रयत्न विपत पात से गर्भिणी को उद्धार करना ही इस संस्कार का प्रधान प्रयोजन है। द्वितीय कार्य, पुत्र सन्तानोत्पादन अर्थात् कुत्सित भ्रूण से लड़का होगा या लड़की ? सो तीसरे मास तक स्थिर नहीं होता, कारण यह है कि तीसरे मास के पहिले गर्भस्थ सन्तान का ‘स्त्री’, या ‘पुं’, चिन्ह कुछ भी नहीं उत्पन्न होता (आयुर्वेद के अनुसार) सुतरां उस समय में पुत्रसन्तानोत्पादनार्थ पुंसवन क्रिया सम्पादन करना विशेष आनन्द कर होता, इस में सन्देह नहीं। पति, संस्कार आदि कार्य सब सम्पादन कर, जिस समय गर्भ-वती पत्नी को उद्देश्य कर कहता है कि “मित्रावरुणौ” ये दो देव पुरुष हैं—अखिनी कुमार भी पुरुष, एवं ‘वरुणदेव भी’ पुरुष हैं (इन के अनुग्रहसे) तुम्हारे सदर में भी पुरुष सन्तान प्रादुर्भूत हुआ है” इत्यादि। ऐसे समय गर्भिणी रमणी जो समधिक आनन्द से उत्फुल्ल और शान्ति शालिनी होती, यह निश्चित है। और उस समय शरीर की दुर्बलता, मूच्छा, अरुचि, * प्रभृति दोषों से अवसन्न प्रायः देह में कुछ उत्साह और आनन्द न होने से गर्भ विशेष शेष का उपाय नहीं। * अत एव पुंसवन संस्कार भी तत्त्वान्त्रेयियों के पक्ष

* पुंसवन काल में यब, और उडीद के साथ वड का दो फल लेकर गर्भिणी को मूषाणा होगा है। आयुर्वेद में लिखा है कि स्त्री के अङ्गों के दोष क दूर करने की यह एक उत्तम औषधि है ॥

में उपेक्षणीय नहीं। प्रत्यक्ष फल के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी है।

३ सीमन्तोन्नयन।

तीसरे मास से चौथे मास तक जिस प्रकार गर्भच्युति का समय है, उसी प्रकार छठे मास से ८ मास पर्यन्त गर्भभ्रंग का दूसरा एक समय है। गर्भिणी का पित्त जितना ही सिख होगा एवं शरीर भी जितना ही दुर्बल, या आलस्य प्रसूत होगा, गर्भ-भ्रंग की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। उसी अवसाद और दैहिक दुर्बलता दूर करने के लिये यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है।

सीमन्त-का अर्थ "केगवीणी" (सर, मांग) उन्नयन-ठठाना अर्थात् स्त्री के बालों को त्रिषिपूर्वक सम्भारना। स्वामी स्वयं एक घृन्तगत दो उदुम्बर की शलाका और स्वस्तिका आदि और भी कई एक माङ्गलिक द्रव्य एकत्रित कर, मूत्र द्वारा गर्भिणी के जूरे को धाँचे। अनन्तर स्वामी कुश, गुच्छ और सरकाष्ठिका प्रभृति द्वारा गर्भिणी के जूरे को उत्तोलन करने में जिन मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उन सब मन्त्रों का भाव भी अति मधुर और गम्भीरता से स्त्री की समझावे ॥

४ जातकर्म।

यह चतुर्थ संस्कार है। बालक के भूमिष्ठ होने के पीछे एवं नाभि काटने के पूर्व यह कार्य सम्पन्न करना पड़ता एवं उसी समय मन्त्रोच्चारण पूर्वक, सद्योजात शिशु का घृत, मधु, की मिला कर सोने की शलाका से जिह्वा में "ओ३म्" ऐसा लिखना पड़ता। इस से शिशु कटे के बल धीर्य, और तेज की वृद्धि होती है। यह धर्म शास्त्र की बात हुयी, अब सुनिये वैद्यक और विज्ञान शास्त्र की बात:-

योगिक प्रक्रियानुसार जाना जाता है कि विभिन्न गुण सम्पन्न दो या इससे अधिक पदार्थ मिलने पर एक अभिन्न गुणान्तर उत्पादन करता, जिस प्रकार श्वेत धूना, और पीत हरिद्रा मिलने पर एक नूतन लाल रंग की सृष्टि करता इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। अतएव कचित संस्कार समय परस्पर संमिश्रित घृत, मधु, सुवर्ण आदि वस्तु भी जो उसी प्रकार एक अभिनव दूसरा गुण उत्पादन करेगा इस में आपत्ति या अनुपपत्ति कुछ नहीं। यह वस्तु-शक्ति जो सद्योजात शिशु का विशेष उपकार साधन करती यह भी आश्चर्य का विषय नहीं, बरं पदार्थतत्त्व विचारानुसार वह नवजात सन्तान के शरीर में वन और पुष्टिकर, वायु और पित्तहर एक परम रसायन कहकर

प्रदण करता है। हमारे वैद्यकशास्त्र में उक्त घृत आदि के गुण यों लिखा है कि—

१ गध्यघृत—आंश का विशेष उपकारक, शीतल और वात, पीत, कफ का दूर करने वाला शुक्र और अग्निघर्दक, बल और आयुष्कर एवं बुद्धि और स्मृति के पुष्टि कारक ।

[विशेषेण चक्षुर्हितत्वं शीतलत्वं वातपित्तकफनाशित्वं शुक्राग्निस्वादुपाकमेधालाघयकान्त्योजस्तेजोयुद्धिवयःस्थिरबलायुर्हितकारित्वं , रसायनत्वं रोचणत्वं बुद्धिस्मृतिपुष्टियपुः स्थैर्यकारित्वं अमोपशमनत्वं बहुगुणात्वञ्च । (एतेगध्यघृतगुणाः) इति भावप्रकाशः] ।

२ मधु—शीतल, अनुग्रह, जिह्वा का रुचिघर्दक तीनों दोष का नाशक एवं स्वाश, काशदि निवर्तक है । *

सुवर्ण—मधुर, कपाय, हृद्य, स्वरूप, बल कारक, नेत्रोपकारी, शारीर तेज और बल घर्दक एवं आयुः मेधा और वाक्य शुद्धिकर, क्षय, उन्माद आदिकठिन २ रोग सब भी इसे प्रशंसित होते हैं । * *

यव—कपाय, मधुर, बल घर्दक, रुक्ष, गुरु, शीतल, एवं सूत्र, मेद, और दोष निवारक है । इसी प्रकार अन्योन्य चूड़ाकरण आदि संस्कार के अनेक प्रयोजन हैं जिन को हम विस्तार भय से यहां नहीं लिखते ।

विवाहसमयमीमांसा ॥

प्रथम हम इस अंश में इसी गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरुवेऽनुज्ञातोदारान्

कुर्वीतासगोत्रान् । १-४ । नातुरसपिण्डा ॥ ५ ॥ प्र० ३ खं० ४

अर्थात्—ब्रह्मचारी वेद को आद्योपान्त पढ़ कर उपनयन की दक्षिणा गुरुदेव को देकर उन की आज्ञा से अपना विवाह ऐसी कन्या से करे, जो अपने गोत्र की न हो और नाता की सपिण्डा न हो । पुनः

अनग्निकातु श्रेष्ठा ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

तत्र 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत् यावच्छ नम्रा चलङ्गापि विवर्त्तन्तु शस्नुपात्, सा नग्निका तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्त-यौवना सैव "श्रेष्ठा" प्रशस्याः कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्वमुपयुज्यते तदैव च 'सोमोऽददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते; नान्यथेत्येव दार

* रतिनलत्वं मृदुत्वं स्वादुत्वं निरोधं व्रथनाशित्वं रुचनत्वं चक्षुष्यं स्वाम्भारानाशित्वं (एतेमधुगुणा)

* सुवर्णं निकमधुरं कपायं गुण्येखनं हृद्यं रसायनं कल्या । चक्षुष्यं कान्तिदं शुचिं ॥ आयुर्मेधावलस्थैर्यवान् विरुदिप्रदं नृणां च योन्मादगन्तार्जनां रामनं परमुच्यते ॥ इति रामवल्लभ ॥

कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएव अनुरपि “देवदत्तां पतिर्भायां विन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५)”-इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयीवनायाम् आसन्नयीवनापि नोद्वाह्येति फलितम् ।

भा०:-जो कन्या उलङ्घ भाव से खेल करने में लज्जित न होवे, उसे नयिका कहते इस के विरुद्ध अर्थात् जिस कन्या का ऋतु प्रकाश पागया है, ऐसी प्राप्त यीवना कन्या को ‘अनयिका’ कहते । अनयिका कन्या ही विवाह के लिये श्रेष्ठा है; ऐसी कन्या समयानुसार न मिल सके तो जिस की यीवना अवस्था आरम्भ हो गई हो वह भी विवाहने योग्य है । यदि इस पर कोई भीचे लिखे वचन के आश्रय से यह आपत्ति देवे कि-

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत् कन्या तत उद्ध्यं रजस्वला ॥ १ ॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठोभ्राता तथैव च ।

प्रपस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

अर्थात् आठ वर्ष की (कन्या) गौरी, नववर्ष की रोहिणी, दश वर्ष की कन्या कहलाती है और इस के उपरान्त रजस्वला होती, एवं रजस्वला कन्या को देखकर माता, पिता, और बड़े भाई, ये नरक को जाते हैं ॥ तो इस के विरुद्ध अधिक पुष्ट प्रामाणिक वचन गौरी, रोहिणी आदि कन्या के त्रिपय में “अनग्नि का” शब्द की निरुक्ति करते हुए ये हैं कि-

“नग्निका तु वदेत् कन्यां यावन्ननुमती भवेत् ।

ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्तदनयिकाम् ॥ १३ ॥

अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।

अवपल्लिता भवेत् कन्या, कुचहीना तु नग्निका ॥ १८ ॥

स्पृष्टनेरस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।

पयोधरेस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्तितः ॥ १९ ॥

तस्मादव्यञ्जनोपेता, अरजा अपयोधरा ।

अभुक्ता चैव सोमादौः कन्यका न प्रशस्यते ॥ २० ॥

अर्थात्:-जब तक कन्या को मासिक धर्म न हो, तब तक उसे ‘नयिका’ कहते अतएव अनयिका ही कन्या को विवाह ॥ १७ ॥ जिस कन्या को रजो धर्म न हो, उसे “गौरी” और जिस के शरीर में ‘रज’ प्राप्त हो गया हो, उसे ‘रोहिणी’ और जिस कन्या को युवा अवस्था के कोई चिह्न न हुआ हो, उसे ‘कन्या’ और ‘कुचहीना’ (स्तन रहित) को नयिका कहते हैं ॥ १८ ॥

युवा अवस्था के चिह्न वाली कन्या को सोम भोगते पयोधरवाली को गन्धर्व और रजस्वला को अग्नि भोगते ॥ १८ ॥ इस लिये दिन यौवनावस्था के चिह्न हुए रजो धर्म हीन, पयोधर रहिता और सोमादि से अभुक्ता कन्या विवाह के लिये प्रशस्त नहीं । गृह्यसंग्रह २ ॥ १७-२५ ॥ (ग्रन्थ) के वचन हैं अब अधर वैद्यक का प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत कहता है कि-

“इसादेव स्त्रिया रक्त रज सद्या प्रवर्त्तते ॥

तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशत् क्षयम् ॥ सुश्रुते० अ० १४

अर्थात्-चारह वर्ष के पीछे कन्या का रजो धर्म आरम्भ होकर ५० वर्ष के बाद घटने लगता है । पुन

पिता ऋतून् स्व पुत्र्याश्च गणये दाहित सुधी ।

दिनावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजस्वलाम् ॥ १ ॥

संस्कारकौस्तुभ पृ० २१ मुम्बई मुद्रित (आके १८७४ ई०)

अर्थात्-पिता अपनी कन्या के ऋतु की आदि से ही गिने जितने ऋतु पर्यन्त कन्या को घर में पालन करने का विधान है, उतनीवार जब कन्या ऋतुमती हो जावे, तो उस कन्या का विवाह सम्बन्ध होना चाहिये, इससे न्यून कदापि नहीं प्रत्युत अधिक होतो-और भी अच्छा है ।

कन्या घर का विवाह शास्त्र एवं युक्ति अनुसार किस समय होना चाहिये इस प्रश्न में ब्रह्मरस के सुप्रसिद्ध पण्डित श्रीमान् महामहोपाध्याय प० रामनिश्च शास्त्री (स्वर्गयासी) जी अपनी “उद्वाहसमयमीमांसा नामक” पुस्तक की भूमिका में यो लिखते हैं कि-

PREFACE

At the present time in various parts of India among those who profess to be followers of the Vedic religion and practices, the custom of marrying girls in mere infancy is a common one, and people think that if they do not conform to this custom they incur sin. But the truth is that the rule about the infant marriage of girls enjoined in the Dharmasastras is not what is called *nitya* (a fixed and obligatory duty the non-performance of which is a sin) but *kamya* (optional and to be performed only through the desire of obtaining some particular benefit) and the principal age for marriage is that of twelve and upwards as clearly declared by Manu, only it is necessary that the marriage ceremony should take place before the age of puberty is

attained, (that is before the commencement of menstruation). Although, owing to desfering climatic conditions, the age of puberty is not the same in all parts of India, and therefore no fixed age is stated in the Dharmasastras, nevertheless they enjoin that the rite of marriage should be performed at some time prior to that age as indicated above. Hence the infant marriage of females is a useless and needless practice, and one that ought to be abandoned as often entailing the evil of child-widowhood.

The next point for consideration is, at what age the marriage of males should take place. This, too, in accordance with the Dharmasastras, should never be in infancy; nor, to speak generally, before the age of eighteen, which is the essential meaning of the injunctions contained in those Sastras. But the present Practice of marrying boys in mere infancy results from ignorance both of what is physically right and of what is religiously enjoined, and is a fruitful cause of rendering those who are thus married puny, sickly, diseased, and miserable throughout their lives, to say nothing of the condition of their offspring.

Lastly, as regards cohabitation, the Dharmasastras (e.g. Asvalayana, Manu, and Yama) with one voice declare that it should commence only after puberty, (i. e. after the appearance of the catamenia). Among the upper classes, people of all the four castes observe this rule, and with them cohabitation is never allowed beforehand, not only out of regard for the injunctions of the Dharmasastras, but also because to act otherwise would be opposed to their traditional customs. In the warmer parts of India, such as Bengal, Madras, and Bombay, females reach this state of maturity usually about the twelfth year, and in the colder regions of Rajputana and the Panjab about the thirteenth, and among the poorer classes still later. On this account the great physicians and rishis of this country, Charaka & Sushruta, have laid down the general rule that the wife should not join her husband before she has reached the age of twelve at least. (In those places in the Mahabharata & Brahma Purana where the age for the marriage in the case of females is declared to be sixteen, eighteen, or twenty, this applies to former times--in former times women attained maturity later, & retained their vigour longer).

I entertain the hope that by means of this book people will come to know that marriage at the age of twelve or thirteen is not prohibited by the Sastras, so long as it takes place before the period above indicated. Hence the marriage of mere infants is wrong. In any case, as appears from what I have stated above, males should not marry before eighteen, & in no rank of life should the wife join her husband till she is past the age of eleven.

My earnest prayer is that the princes & wealthy nobles of this country will exert themselves in this matter, and freely provide means for the circulation of this work throughout India. Then, if they follow the course therein advocated, will the inhabitants of Bharatavarsha become wiser, more powerful, energetic, and courageous, & better qualified to understand and take part in abstruse and difficult political concerns.

A true friend of the India People.

PANDIT RAMA MISRA SASTRI

Banaras.

7th December, 1890.

क्या कोई संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने कुल गोत्रकी वृद्धि और समृद्धि न चाहें ? और स्वाभाविक बल, पुष्टि, शरीररतेज और अङ्गसौष्ठव की वृद्धि न करते हों ? मुझे तो दृढ़ निश्चय है कि समस्त ही संसार के मनुष्य एक स्वर से स्वीकार करेंगे कि इन सब पूर्वोक्त फल की कामना स्वभावसिद्ध समस्त ही विचारशक्तिवाले जन्तुमात्र को है, इतना ही प्रभेद है कि बुद्धिमान लोग फल की कामना होते ही उपाय की चिन्ता करते हैं और उसे किसी न किसी प्रकार से पाय भी जाते हैं और सिद्धि कर लेते हैं, और बुद्धिहीन आलसी देवहत लोग सर्वदा फलकी इच्छा ही करते & प्राणान्त पाय जाते हैं उपाय की तो नाम मात्र भी भावना कभी नहीं जानते, और यह भी समस्त जन स्वीकार करेंगे कि जो बात पूर्वही बिगड़ जाती है उसे फिर बनाना कठिन है और विशेष करके पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन का महोपाय-स्वरूप शरीर का, जिस की रक्षा करने से चारो ही पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, और जिसकी उपेक्षा से चारो ही पुरुषार्थ रसातल में लीन हो जाते हैं।

* If people cannot all at once conform, as I think they should conform to the directions of Manu and Susruta, and make the age of twelve the earliest.

तो, यहां पर विचारना उचित है कि शरीर कौन वस्तु है ? । इसके उत्तर में आस्तिक, नास्तिक, वैद्य, हकीम, डाक्टर, मंत्री फिरके के और समस्त ही मत के लोग ऐकमत्य से कहेंगे कि, माता पिता के शुक्र और शोणित से बना, और विविध खाद्य पेय से पोषित, पार्श्वभौतिक हास्यद्विपुक्त एक विचित्र मांस-पिण्ड है जिसके दृष्टान्त देने के अर्थ भूपट पर कौन कहै नाकपुष्ठ पर भी कोई वस्तु नहीं देख पड़ती । जिस पिण्ड के भीतर शुक्र, वामदेव ऐसे विरक्त महानुभाव लोगों के वैराग्यमय चित्त का चित्र बना है; प्रह्लाद, पराशर ऐसे हरिभक्तजनों के भक्तिभाजन अन्तःकरण का चित्र खचित है । और जिस के भीतर भीम जैसे वीर, अर्जुन ऐसे कीर्तिमान और विविध विद्याविशारद, कर्ण ऐसे दानशील, दधीचि ऐसे परोपकारी लोगों के समस्त व्यवहार और सदाचार का मूलभूत कोई विलक्षण तत्त्व बैठा है; इसका वर्णन कहां तक हो सकता है, यही संसारस्वरूप महावटवृक्ष का परमनिदान बीज है इसी से आप लोग सन्तोष करिये और यह भी जान लीजिये कि इस शरीर की तुलना में समस्त संसार की समृद्धि अति तुच्छ है । बादशाहों की बादशाही, राजों का राजत्व, विद्वानों की विद्वत्ता, पराक्रमी लोगों का पराक्रम, सबही इस का छोटासा विलास है । वस यही निश्चय करके आज मैं इस बात में तत्पर हुआ हूं कि आप लोगों को इसका कुछ परिचय दे सकूँ कि शरीर किस चाल से उत्तम होता है । प्रिय भारतवर्षीय जनसमूह ! ध्यान रखना, जबतक बीज अच्छा नहीं होता, तब तक भूमि कभी उत्तम फल नहीं देती, क्या कभी कच्चे बीजसे भी उत्तम फल उत्पन्न हुआ है ? आप लोग अपने छोटे २ बच्चों का विवाह कर देते हैं और कच्ची अवस्था ही में बालक स्त्रीप्रसङ्ग के घोर अनर्थ में पड़ जाते हैं । यह सब जानते हैं कि समस्त ही वस्तुकी एक पूर्वावस्था और दूसरी उत्तरावस्था, इसीप्रकार एक आगमावस्था और दूसरी अपायावस्था होती है । इन में से बात्यावस्था मनुष्य की पूर्वावस्था होती है और यही अवस्था—

बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, शरीरकी लावण्य, पुष्टि, इन सबकी आगमावस्था होती है । और आगमावस्था ही में यदि कोई व्यय करने लग जाय तो कैसी उस की दुरवस्था होगी ? यह विचार आप स्वयं कर सकते हैं । यदि तालाब में पानी के आगमन ही के समय से प्रवाह होना आरम्भ हो जाय तो कदापि वह तालाब नहीं भर सकता, चाहे कैसे ही वेग से उस में जल का आगमन

क्यों न हो। यही एक दृष्टान्त, वाल्यविवाह की कुरीति से आप लोगों की कैसी हानि होती है, इसे दिखाने की भरपूर है ॥

इस अवसर पर कितने देश के शत्रु निज कुलनाशक यह कह बैठेंगे कि “विवाह वाल्य में होता है तो क्या हुआ, स्त्री का प्रसङ्ग तो योग्य समय पर ही होता है,” तो यहां पर हम यहां कहेंगे कि यह महा हो अनर्थ की बात है कि वृथा किसी की कन्या को बहू बनाय वालवैधव्य के घोर दुःखाग्नि-उवाला के सामने हाथ पैर काट के विवाहरूप महाकठोर अनिवाय जोहे कं सांकल से बांध देना, जिस सांकल से बहु घालिसा की मातृकुल, पितृकुल और भ्रातृ मित्रवर्ग कोई भी नहीं छुड़ा सकते, हां नये समाजी, पुराने ब्रह्मवादी इत्यादि लोग ऐश्वरीशक्ति के बल से भले ही छुड़ाकर घोर अपवाद का सा भान जुटा सकें, पर जब यही घोर अनर्थ इस वाल्यविवाह के संनिहित रहत है तो इसे बुद्धिमान भी कभी करें यहा बड़ा अनर्थ है। कितने लोग इस पर आंख नीचकर यह भी कहेंगे कि “संसार में सब ही अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है, यदि तरुण पुरुषका विवाह होय तो क्या वैधव्य भय नहीं है? सुर दुःख तो केवल ईश्वर के अधीन है, हमने अनेक बालकों को देखा है कि जिन का विवाह अत्यन्त वाल्य में हुआ है और वे सब ही प्रकार जन्म भर अच्छे रहे हैं और कितने तरुण भी विवाह के मास ही के भीतर अपनी नवीन तरुणी को छोड़कर यम मन्दिर की यात्रा कर गये हैं, इस हेतु वाल्यविवाह पर दोष देना केवल निरीश्वर जगत् की मानने वाले लोगों ही की शोभा देता है”। इस पर हम बहुत शास्त्रार्थ और विचार न करके इतना ही कहते हैं कि रणजीतसिंह, शिवाजी, और हैदर अली इन तीनों महाशयों ने अपना नाम लिखना भी नहीं सीखा था, और बहुत बड़े पुरुष हो गुजरे, यह ऐतिहासिक बात है, इसे सब ही को स्वीकार करना होगा, तो आप अब अपने कुल में किसी की भी लिखना पढ़ना मत सिखलाइये, वरन जुआ और डकैती की शिक्षा दीजिये क्योंकि, इन सब कार्यों में भी अनेक लोग बड़े धनी और नामी हो चुके हैं, विशेष करके हैदर ने इतना नाम और देशसम्पत्ति की जो पाया था सो प्रायः बेईमानी के बल से और शिवाजी ने डकैती से; तो अब आप बेईमानी और डकैती ही के भरोसे से बड़े होने की चेष्टा कीजिये। यदि कहीं इस पर आप भूल कर यह कह बैठेंगे कि, “होना न होना तो केवल ईश्वर के हाथ है, परन्तु मनुष्य की चेष्टा तो अच्छी ही करनी उचित है” तो अब

आप हमारे पय पर आगये, यही मेरा भी वक्तव्य है कि मनुष्य की चेष्टा अच्छी करनी उचित है; यों तो “यने की यात है” यह ममल मगहूर है। एक समय बड़े पिकन्दर ने किसी डाकू को पकड़ा और उस से पूछा कि तुम ऐसा काम क्यों करते हो? तब उस ने इस के उत्तर में यही कहा कि “तू बड़ी फौज, बहुत जहाज और बड़े २ सामान लेकर देशों को लूटता है और मैं छोड़े सामान और छोड़े आदमी के साथ उनी काम को करता हूँ परन्तु “यने की यात है” तू तो थड़ा इकैत है पर तुम्हें तो लोग बड़ा बादशाह करके जानते मानते हैं और मुझे इकैत कहते हैं,” तो इस दृष्टान्त से माना कि ‘यने की यात है’ परन्तु चोरी इकैती बुरी है और भले काम तो भले ही है यह मय ही को मानना होगा। तो फिर यह भी आप विचार कर ली जिये कि कदाचित् किसी को बाल्यविवाह करने पर भी किसी घटनान्तर से शरीर अच्छा रहा यह बात कदाचित् हो सकती है। परन्तु बाल्य विवाह अनर्थ का हेतु, और तारुण्य का विवाह सर्वथा उचित और शरीर सुख वरा का हेतु है, यह तो अवश्य ही मानना होगा। तो अब आप निश्चय कीजिये कि संसार सबही के देशों में बालकों की मृत्यु की अपेक्षा अधिक बय बाले लोगों का मरण अल्प होता है, जैसे २ अधिक बय होता है तैसे २ शरीर चिरस्थायी होता जाता है। इस में आम वृत्त के पुष्प आने के समय से फल की पुष्टि पर्यन्त अवस्था ठीक दृष्टान्त है; जितने संख्या में पुष्प गिरते, है उतने टिकोरे नहीं गिरते और जितने टिकोरे गिरते हैं, उतने पुष्ट आम नहीं गिरते और यही मनुष्य की संतति की भी दशा है तो, आप व्यर्थ पौत्र और दीहित्र के मुखनिरीक्षण की इच्छा से बालिका कन्या को एक बालक (जिसे पीती कहा है यह भी ज्ञान नहीं है) के साथ काहे नष्ट करते हैं, उसे तो आप ब्रह्मचर्य में रख कर विद्या सिखानाइये कि जिस में वह लोक द्वय का अभिज्ञ बन जाय और आप दा कुलभूषण हो जाय और जगत का भार भूत न होय। यहां पर कितने अल्पबुद्धि, बाल्य विवाह के हठी यह भी कह बैठते हैं कि “यह ब्रह्मचर्य का समय नहीं है, अब तो कलिकाल में बालक अवस्था ही में लड़के जोरु खोजने लगते हैं इस हेतु इन का बाल्यदशा ही में विवाह करना उचित है, नहीं तो विगड़ जाते हैं”। पत्थर पड़ें, इस बुद्धि पर, एक बालक के ब्रह्मचर्य के निर्वाह कराने में तो पिता माता असमर्थ हैं और विवाह के अनन्तर जब वे दो भये और प्रतिवर्ष तीन, चार, पांच होने लगे

तो उनका पालन पोषण से निर्वाह वे कैसे कर सकेंगे ! बड़ी अंधेर की बात है जो बालक का ब्रह्मचर्य निर्वाह नहीं करा सकें, वे तब पौत्र दल का भरण पोषण कैसे कर सकेंगे, इसका विचार नहीं करते । यहां पर एक यह भी बात ध्यान देने की है कि मैं तीस और पचीस वर्ष की अवस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य के उपदेश करने में उद्योग नहीं करता, मेरा केवल यही चक्षुष्य है कि निज देश के जल धातु क अनुकूल और भोजनाच्छादन के योग्य निज वित्त के अनुसार जिस देश में जितने वय पर जीवन शरीर में दृढ़बद्ध होजाय और अस्थि मोढ़ हो जाय, तब आप अपने बालकों की शादी कीजिये जिनमें वैधव्य भय भी आपेक्षिक अत्यल्प होजाय, बालकों के अङ्ग भी दृढ़ हो जाय और आगे उनकी संतति भी निरोग दृढाङ्ग * उत्पन्न होय। परन्तु सब देश में पुरुष की स्त्री का प्रसङ्ग अठारह वर्ष की अवस्था के पूर्व कदापि न होना चाहिये, यह सब देश और सब काल का नियम है इसे तो कदाचित् भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये “तिरिया तेरह नरद अठारह” यह प्राचीन काल से पामर पर्यन्त की कहावत प्रसिद्ध है इसे याद रखिये और स्त्रियों को भी बिना जीवन आये पुरुष संपर्क अहितहेतु है और सर्वथा धर्मशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के विरुद्ध है । यह समस्त वृत्त संस्कृत में हमने विशदरूप से लिखा है उसे देखने से ही यथार्थ परिचय हो जायगा । आज कलह के अतिवर्धिका विवाह के कारण संसार का अस्वास्थ्य होता है और प्रजा अल्पायुष, स्मृतिशक्तिहीन, दीन, विपत्तिग्रस्त होती जाती है इत्यादि सब बात हम ने संस्कृत में वर्णन की है, देज में धन ठहरा कर बालकों का विवाह करना अथवा धन लेकर कन्या को देना या वृद्धावस्था में विवाह करना तथा वर की अपेक्षा बड़े वय की कन्या से विवाह करना इत्यादि भी शास्त्र में निषिद्ध है, यह सब निरूपण किया गया है ॥

अब इस अवसर पर अनेक जन (जिन की समाज में प्रतिपत्ति अल्प है) असावधानता से बालविवाह के विरुद्ध कानून के शरण लेने का मनोरथ करते हैं और वैदिक पवित्र विवाह विधि को कलङ्कित करके आप भी अपना हृदय-दौर्बल्य दिखाते हैं परन्तु सरकार ऐसी नहीं है कि वह भी अपना दौर्बल्य * दिखावे, वह तो एक बहुत ही उत्तम नीतिपरिपूर्ण विश्वसनीय न्याय से विशाल निरालस और दयावान है, इस हेतु हमें हमारे धर्म के विरोधी अथवा न जानने वाले मिथ्या घमड़ी और हमारे पवित्र सनातन वैदिक-

* भयशास्त्र में वृद्धा स्मृति उत्पन्न करना लिखा है कि यह बात बालसंपर्क से कर्णिक होसकता है ॥

* सरकार तिन पर कानून बनाता है उन्हें बिना पूछे उस का प्रसार कभी नहीं करता ॥

धर्मपर आघात पहुँचाने की इच्छा करने वाले देशी और विदेशियों का अनुमात्र भी भय नहीं है कि वे हमारा इङ्ग्लैण्ड में मिथ्या वकाशत नामा लेकर कुछ धर्माघात कर सकें तथापि हमें अपनी तरफ से प्रकाशरूप से अपने विवाह इत्यादिक सामाजिक कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिये । यद्यपि हमारे यहां सामाजिक उपदेश देनेवाले नगर के निवासी परमविद्वान् पण्डितों से लेकर ग्रामनिवासी साधारण पाषाणपुरोहित पर्यन्त हैं, और वे प्रायः वंशमही कार्य कहते हैं, परन्तु अधिक दक २ नहीं करते और न इंग्लैण्ड में जाते और न तो इंचर उधर अपना पत्र व्यवहार करके अपने मांये में देश हितों का कलगी खोंभते हैं, केवल उन में इतनी श्रुति है कि न तो वे कोई दिशाज्ञ बन सकते और न तो समाज के अनुया होने का चमंड दिखाते तथापि कार्य करते ही हैं । वस्तुतः उन में और कोई श्रुति नहीं है । प्रतिदिन सर्व बुद्धिमान् ब्राह्मण बालविवाह, अति बालिकाविवाह, और बहुविवाह को अपने-बहुविवाह को अपने घर से और वेदानुयायी चातुर्वर्ण्य समाज से उठाते जाते हैं, और भी जो कुछ समाज में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी शनैः २ सुधारते हैं । अति बालिका से संपर्क करना, यह तो वेदानुयायी उच्चजातीय चातुर्वर्ण्यमें संभव ही नहीं है, क्योंकि गरीब से गरीब और अपठितके घर भी स्त्रियों के नवीन श्रुति होने पर पुष्पोत्सव होता है जिसे "कुनचीक" कहते हैं । और पुष्प तो स्त्रियों को धाल्य से उत्तीर्ण होने ही से होता है । यह बात सर्वथा उपराजित है और श्रुति होने के अनन्तर किसी समूहों से स्त्री की श्रुति के पश्चात् गर्भाधान संस्कार होता है, फिर क्योंकि हम लोगों में बालिका संपर्क की संभावना हो सकती है ? यह संभावना तो उन लोगों में हो सकती है जिन के यहां स्त्री संभोग पशुसंप्रदाय और केवल इन्द्रियपरायकता ही से हो होगा, हमारे वेदिक मार्ग तो यह परमप्रवित्र संपर्क बड़े २ विधि विधान से वेदिक सम्प्रत्येक होता है ॥

रहा अब बालविवाह तो उस की यह दशा है कि कितनी तो हमारे देश में ऐसा संप्रदाय है कि जिनमें युवावस्था ही में विवाह पुरुषों का होता है । जैसे कि मिथिलादेश में मेथिल मात्र का विवाह २० बीस वर्ष की अवस्था में पहिले नहीं होता (यत्कि ३० और ३५ तथा बालीस तक होता है जिसे कि समुपायुमार हम उत्तम नहीं समझ सकते) और यह तो स्वाभाविक बातों है कि जत्र जिस देश में बड़ी अवस्था के पुरुष का विवाह होगा तत्र उस देश में अतिबालिका के संग नहीं हो सकता, एक बड़े विद्याप्रधान मिथिला देश की तो बातें हो चुकी रहा कान्यकुब्ज देश, सो वहा तो बालिकाविवाह की कौन कथा, वदुकुमायी का भी विवाह होता है, जिन के रोकने का

उपाय कान्यकुब्ज भी करते हैं और अन्य लोग भी करते हैं और आशा है कि श्रीमं ही हम लोग इस अनर्थ को निवृत्त कर सकेंगे। यह तो ईश्वर का निधेम है कि जहां बड़ी अवस्था में कन्याओं का विवाह होता है वहां प्रायः घर छोटे नहीं हो सकते तो कान्यकुब्ज देश में भी विवाह समय प्रायः ठीक ही है,॥

रहा राजपूताना तो, वहां पचास वर्ष के पूर्व, सर्व ही वर्ण में अधिक वय के घर के संग अधिक वय की कन्या का विवाह होता था, परन्तु जब से सरकार अंगरेज की असलदारी में वहां के वैश्य फलकता, बंबई, मद्रास, चीन, ब्रह्मा, इत्यादि मुलकों में जाकर तिजारत के कारण धनी होने लगे, तब से उन्हें उन के आभाष्यवश (१) बाल्यविवाह ने घेरा है बल्कि वृद्धविवाह (२) और बड़ी उमर की कन्या के संग छोटी वय के लड़के के व्याह रूप घोर अन्धकार ने भी उन्हें दबाया है और उन के संग उस देश के अपठित ब्राह्मणादिक भी इसदुराचार से दूर नहीं हैं, परन्तु परमेश्वर की दया से राजपूतजाति में तो यह दुराचार नहीं है और आशा है कि यह जाति इस दुराचार से दूर भी रहेंगी। और राजपूताना के निकटस्थ होने ही के कारण दिल्ली के प्रान्त और ब्रज के निकटस्थ देशों में भी यह बाल्यविवाह की आग फैली थी, परन्तु धर्मवाद है भारत की ब्राह्मणमण्डली को कि उस ने इस को रोकने के उत्तम २ उपाय किये हैं और सुफल भी होते जाते हैं। पञ्जाब में भी युवावस्था ही के घरवधू का विवाह होता था और अभी अतिबा-ल्यवस्था में नहीं होता, परन्तु कुछ रीति बिगड़ गई है तो अब पठित ब्राह्मण सण्डी ने अपनी उपदेशवीरता से उसे भी सुधार देने का यत्न किया है और नित्य २ सामाजिक संशोधन होते जायेंगे क्योंकि वहां के रईस लोगों की भी इस तरफ विशेष दृष्टि है ॥

यह देश के विषय में हम यही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह देश धर्मशास्त्र की मर्यादा रखकर अपना सामाजिक संशोधन कर लेवे, और आशा है कि ठीक भी यद्गानुयायी होवे। और यही वक्तव्य मद्रास और बम्बई के उन प्रान्तों के विषय में है जहां संस्कृत विद्या जायें गीयें हैं और उस के स्थान पर नई २ विद्या और सुपाल तें सरगम है ॥

अब रहा नर्मदा पार और गुजरात तो, वहां की इन दिनों यह दशा है कि एक ओर तो धर्मशास्त्र के नाम ही पर घृणा करते हैं और एक ओर ये लोग हैं जो जानते हैं कि मातृ जाठ वर्ष की कन्या के विवाह न करने में न तो कोई धर्म की दानि है और न समाज की हानि ही है, परन्तु हठ यश-अनिग निका के गिनात में उधमदोष अधिकतर देगते हैं भी जानबूझ

कर आंग में गिरते हैं। यद्यपि नर्मदा पार में बालकों का विवाह प्रायः उचित समय पर होता है न कि अठारह बीस वर्ष के भीतर, परन्तु उधर कुछ कन्याओं के वर्ष में अधिक करने ही से ठीक हो जाता है उस पर ध्यान देना अत्यावश्यक है ॥

यहाँ पर मुझे उन दोनों दलों का (जो केवल जनमानस आँखों की विवाह चाहते हैं और वे जो शास्त्र का तात्पर्य के ज्ञान पुरानी लकीर के फकीर हो वृथा अतिवालिका के विवाह में आग्रह किये हैं) हठ देख घड़ा कट्ट होता है, और यही कहना पड़ता है कि ये दोनों दल मिल के काम करें तो सोना और सुगन्ध हो जाय इस के अर्थ प्रतिनगर ग्राम देशों में पञ्चायत होकर धर्मशास्त्र के अविरोध तत्त्वदेश के जन धातु के अनुसार विवाहकाल (३) निर्णय होजाय तो, जो आज बालविवाह के कारण हमारे देश में बल, वीर्य, पराक्रम, तीव्र बुद्धि और नैमीन शास्त्रीय तथा नीतिक कल्पना शक्ति का अभाव हो गया है और नाना प्रकार के अज्ञाननाम रोग उत्पन्न होते हैं वे एकान्तः मिट जायें ॥

आशा है कि हमारे देशभाई और पुरानी पण्डितमण्डली (जिसे आज भी लोग भारतवर्ष में बहुत मानते हैं) इसे गौरव से विचार करेंगे और हठ न करके ईर्ष्या और अन्धकार को त्याग यथार्थ कार्य का अनुष्ठान करेंगे ॥

ब्रह्मांशतर्पिणी ममा
बनारस । } आप लोगों का वही शुभचिन्तक
राममिश्र शास्त्री

गुरुमन्त्र-मीमांसा ॥

गुरु मन्त्र-मीमांसा के पहिले, गुरु किसे कहते हैं इस का विचार करतेकरना चाहिये इस "गुरु" शब्द की परिभाषा हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने पों कियी है कि:-

नियेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥

सम्भावयति चात्मेन स विप्रो गुरु उच्यते ॥ १४२ ॥

पुनः-पिता स्त्विनं जनयति पुरुषं पुरुषम् ! ॥

प्रज्ञां ददाति * चाचार्यस्तस्मात्स गुरु उच्यते ॥३॥ बालमी० अ० म० ११२

(१) इसे के अतिरिक्त इन में भवे ही वेद्य गुरु है परन्तु उक्त गुरुव नही कोरे, ।

(२) होली के दिनों में वही मारवाटी वैश्य, और ब्राह्मणों को जम घटा हेलो है बहा (काना ने परगांव जेवनों लोय है) इसे उरु मे गाने हैं ॥

(३) जैसा कि श्रुतु के पूर्व इस पुस्तक में काव्य निर्णय किया है उसे देशानुसार कर लेना ही अवसिष्ट है ॥

(४) अविनीति हि शास्त्रार्थ मानारे व्यापयति ॥ स्वयमानवने अम्म द्योषार्थः परिकल्पये ॥१॥ ऐतरेयार्थके प्र० २ के० मायणभाषः । यस्मादविनीतिना स आचार्यः ॥६३॥ स हि विचारने नयति ॥१५॥ तन्मध्य प्र० १२॥ आचरन्मय धर्ममन्त्र प्र० ६ प्र० ६ प्र० ६

पुन-त्रय पुरुषाभ्यासि गुरुयोभवन्ति, माता पिता आचार्यश्च ॥ ३१ ॥ विष्णु स्मृतिः ।
पुन-कस्मादाचार्य आचारं ग्राहत्याचिनोत्यर्थोनाचिनोति बुद्धिमिति वा ।
निरुक्त प० अ० १ पा० ३ सं० २

पर्याप्त-गर्भाधानादि संस्कार करके पुत्र की पालना करने में पिता को भी गुरु कहते हैं । यद्यपि माता पिता आदि भी बालक के गुरु हैं । परन्तु 'व्रत'दि विद्याओं के पढ़ाने से आचार्य ही मुख्य गुरु हैं ॥ १४२ ॥ 'पितरं पुत्रं' को उत्पन्न करता है और आचार्य बुद्धि को देता है जिस से शिष्य को संतुष्टि का विवेक होता है-इस से आचार्य ही को गुरु कहते हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य के तीन गुरु होते-माता, पिता, आचार्य ॥ ३४ ॥ अब निरुक्तकार का मत सुनी । आचार्य उस को कहते हैं जो आप सर्व विद्यार्थ सम्पन्न हो के मनुष्यों को अनुपम आचार सिखाकर सर्वार्थ सम्पन्न करता है ॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से आचार्यों ही का गुरु होना सिद्ध होता है और प्राचीन इतिहास के देखने से भी यह बात सिद्ध होती है कि पूर्वकालमें भारतवर्ष में ब्राह्मण पुरोहित आचार्य हुआ करते और वैदिक गुरु मन्त्र गायत्री का उपदेश करते थे । जैसा कि नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है ।

सद्यस्त्वेव गायत्रीम् ब्राह्मणायानु ब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुते ॥ १ ॥
त्रिष्टुभश्चराजन्यस्य ॥ ८ ॥ जगती वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥ १० ॥ ३।

हरिहरभाष्यम्-सद्य एव गायत्री ब्राह्मणायानु ब्रूयात् कथयेत् कुतः आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुते । आग्नेयो अग्निदेवस्य ब्राह्मण इति वेद वचनात् । त्रिष्टुभश्चराजन्यस्य जगती वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम् । तन्त्रियस्य त्रिष्टुभ त्रिष्टुप् छन्दोयस्या सा त्रिष्टुप् ता त्रिष्टुभ सावित्रीम् । जगती छन्दो यस्या अथ सा जगती ता जगती सावित्री वैश्यस्य विश सावित्री मनु ब्रूयादित्यनुपपद्यते । सर्वेषां वा गायत्रीं यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणतन्त्रियविशा गायत्री मेव गायत्री छन्दसका मेव सावित्री सवितृदेवताका तत्सवितुरिति सकल वेदगात्राभ्यासा अथमनु ब्रूयात् ॥ पारस्करगृह्यसूत्रे ।

अर्थात्-गायत्री ब्राह्मण को 'त्रिष्टुप्' तन्त्रिय को और 'जगती' वैश्यको उपदेश देवे । या ब्राह्मण तन्त्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों को गायत्री ही का उपदेश करे । यह पक्ष (१० सूत्रोक्त) वेद की सद्य शाखाओं के अनुकूल है । वृत्ती प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र में भी सद्य के लिये गायत्री मन्त्र का विधान है ।

“अथोपनीदत्यधीहि भो सावित्री मे भयानन्वशीत्यिति ॥ ३८ ॥ तस्मा

अन्वाह षष्ठोर्हर्षेण अकश इति महादयाहतीष विद्वताञ्जोकारान्ताः ॥३८॥४॥

गी० प्र० २ खं० १०

भा०—(उपेनधन समय) अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़कर मन्त्रों से प्रार्थना करे कि हे 'गुरो'! मुझे वेद पढ़ावे, गायत्री उपदेश करे ॥३८॥ इस प्रकार बालक कर्त्तृक वेदाध्ययन और उस का प्रारम्भ 'सूचक' सावित्री मन्त्र का, आचार्य एक २ चरण कर उपदेश करे ॥ ३९॥ ४० ॥

— यहाँ—यह नहीं लिखा गया है कि—ब्राह्मण आदि 'भिक्ष' २ वंशों की गायत्री, त्रिष्टुप् आदि भिक्ष २ मन्त्रों का उपदेश करे, किन्तु सब के लिये एक ही गायत्री गायत्री के उपदेश का विधान है।—

बया स्त्री को भी पुरुष के समान गुरु से—शिष्य होना चाहिये ?

गोभिलश्रुत में लिखा है कि स्त्रियों का केवल एक पति ही गुरु है, अन्य नहीं, उनके इस बात की अप्योन्य प्राचीन एवं नवीन संबंधों में निवेध है कि "पतिरेको कुलस्त्रीकां" अर्थात् स्त्रियों का गुरु, केवल पति ही है, जो कुछ सांसारिक या पारमार्थिक कार्य हो, सब ही पति के उपदेशानुसार करे। स्त्री को तीर्थ यमन, अतोपवास, सब ही का निवेध है, केवल पति ही की सेवा करना उस को प्रधान कर्त्तव्य है।

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणोभिवादयते ॥ १२ ॥ गी० प्र० २ खं० ३८ ॥

'अनुमन्त्रिता' का अर्थ, 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्यते गुरुं पतिम् अभिवादयते ॥ १२ ॥

पत्नी इस प्रकार वाक्य बोलती हुयी अमुक गोत्रा, अमुक नामवाली आप को (पति को) अभिवादन करती हूँ" चरण झूँकर प्रणाम करे। अंगरेजी बाल के अनुसार "गृहस्त्रीनिर्ग" १। केवल नमस्ते न करे। इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतसूत्र, धर्मसूत्रों में प्रमाण है।

॥ मधुपर्क में गौ का बया होता था ? ॥

आचार्य या ऋत्विक् आदि बड़े पुरुष के आने से उनकी पूजा मधुपर्क विधि से करनी चाहिये, यह हमारे शास्त्रों का लेख है। और प्राचीन समय जब आर्य धर्म यथावत् उत्थति शर बढ़ा हुआ था, उस समय वैसी ही विधि से पूजन भी हुआ करता था, यह बात भी इतिहासों में प्रसिद्ध है। अथ वह बात अत्यन्त ही अपरिचित हो गयी अतएव उस विषय में कोई प्रकार के संग्रह, भी उत्पन्न होने लगे हैं। १ आसन, (विष्टर) २ पाद, ३ अर्घ्य, ४

आचमन ५ मधुपर्क एवं गौ, ये छ-वस्तु आगत महात्माओं के भत्कारार्थ
 दीयी जाती थी । (१) बैठने के लिये आसन, पैर धोने के लिये "पाद्य," हाथ
 धोने की 'अर्घ्य', मुख शुद्धि के लिये "आचमन," भक्षण के लिये दधि, घृत,
 मधु आदि से खना 'मधुपर्क' और भेट के लिये 'गौ'; ये छ ओं बात होने से
 वह पूजन साङ्गोपाङ्ग होता । अब यहा यद्-प्रश्न है कि मधुपर्क में जो भी
 दीयी जाती थी उस का क्या होता था ? क्या यह गौ आये हुये महात्मा को
 भेट दीयी जाती थी या उस गौ का बध करके आये हुये अतिथि को उस
 उस का मांस खिलाया जाता ? वेद के वाक्य ऋषियों के धर्मशास्त्र, और
 कल्पसूत्रों की जो रीति और प्रसिद्ध पण्डितों के उदाहरण देखते हैं तो उक्त
 दोनों ही बातें होती थी यही प्रतीत होता है ; क्योंकि " आतिथ्येष्टि "
 प्रकरण की, ब्राह्मण श्रुति में (२) यह लिखा है कि-जब किसी
 मनुष्य का राजा आवे या औ कोई पूज्य पुरुष अपने घर पर आवें तो,
 कई लोग क्या तो- किसी उता (बेल-) को, या बन्ध्या गौ को छेदन कर
 उस का सम्मान किया करते, इत्यादि । स्मृति में लिखा है कि (३) क्या
 तो किसी बड़े, वृषभ, को या कोई बड़े बकरे को आये हुए श्रोत्रिय के लिये
 बलि देवे, कल्पसूत्रकार प्राश्वलायन भी लिखते हैं कि आगत श्रोत्रिय यदि
 गोबध कराया चाहे तो "नष्ट हुया मेरा पाप, पाप मेरा नष्ट हुआ"-(४) इस
 मन्त्रकी अपके हा, करो' इसप्रकार बधकी आज्ञा दे । तथा सामवेदीय लाट्या-
 यनमन्त्र में लिखा है, कि जब गौ सम्मुख लाके खड़ी कर दीयी जावे,
 तब उसके बधार्थ अतिथि यह वाक्य बोले कि 'हा, करो' इत्यादि विविध
 वाक्यों से प्रतीत होता है कि मधुपर्क के समय अवश्य गौ का बध होता था,
 यदि कल्पसूत्रोक्त "कुर्वते" कारयिष्यन्(५) इत्यादि पदों का और ही कुछे अर्थ है
 बध अर्थ नहीं, ऐसा कहो तो, प्राश्वलायन प्रागे लिखते हैं कि (६) बिना मांससे
 मधुपर्क ही नहीं होता और किसी पशु के मांस का वहा कहीं विधान है
 नहीं सिवाय गौ के । सुतरां उसी का वहा विधान समझना होगा इत्यादि
 प्रमाण से प्रतीत होता है कि मधुपर्क में गौबध होता था । परन्तु उन्हीं

(१) विष्ट पापम वमाऽमनीय मधुपर्कौ गौमिप्रत्येक विवेदयते । आश्वलायन सू० १।१।२४।७

(२) तदर्थैवायं मनुष्यराज आगतेऽन्यमिन् बार्हन्स्पृष्टाण बधन वाधन ॥ आ० शंख्य माधय

(३) मदाय वा महाज ॥ अत्रिष्येपयमपयन् या० स्मृ० आ० श्रौ० १८

(४) हनोमे पापमा पापमा मे हनन्ति जपितो ब्रून्ते नि ब्रवाता वरप्रियन् आ० सू० सू० १।२।१२६

(५) वरुन्ते परिषापया ब्रवात ॥ ला० श्रौ० सू०

(६) तामस मधवः आश्वलायन सू० १।४।२८

श्रुति स्मृति और कल्पसूत्रों की सम्मति से यह भी सिद्ध होता है कि मधु-
पर्क में गोवध नहीं भी होता था ? श्रुति में लिखा है (१) कि “पहं गौ रुद्र-
देवताओं की माता है; वसु देवताओं की पुत्री है, आदित्य देवताओं की
बहिन है और असृत स्वरूप दुग्ध के उत्पत्ति का स्थान है। इसलिये मैं ने
जिज्ञासमान जनो के प्रति वार २ कहा है कि इस अखण्डनीय निरपराध गौ
का वध मत करो ‘इत्यादि’ । तथा स्मृति में लिखा है कि (२) जो शरणा-
गत को मारे, या लोक जननी गौका वध करे वे महा पापी होते हैं। तथा
कल्पसूत्रकार ने जैमावध पक्ष लिखा है (३) यथा ‘माता रुद्राणां’ इत्यादि मन्त्र
को, जो के कहे कि “हा, इस को छोड़ दो यह घाम चरे” लाटघायन ने भी
ऐसा ही कहा है (४) इत्यादि। दोनों पक्ष के वाक्य देख के यही सिद्धान्त होता
है कि गौ का वध और उत्सर्जन दोनों ही अर्तें होती थीं। यद्यपि स्थान २ में
गौका नाम “अचन्या” और अदिति आते हैं जिन में वेदोक्त मत में गौ की
अवध्यता और अखण्डनीयता निश्चिन है परन्तु “तद्यथैवान्ये” इत्यादि उक्त
ब्राह्मणोक्त वाक्य में जब स्पष्ट गोवध का विधान लिख दिया है तो उक्त
नाम लिखने ही से जो गोवध न किया जावे, यह एक मात्र सामान्य बात
है जैसे “न हि स्यात् सर्वभूतानि, यह श्रुति कहती है कि किसी जीव को भी
हिंसा मत करो, किन्तु “अग्नीसोमैर्यं पशु मालाभेत” यहा “अग्नि सामयागी”
में श्रुति, पशुहिंसा का विधान करती है।

सोमानक लोग जैसे यहा पूर्व श्रुति को सामान्य विधि और अग्नि को
प्रयत्न और यथार्थ समझते हैं। इसी विशेष विधि मान के पूर्व श्रुतिकी उपेक्षा
कर, योग्य हिंसा विधि ही को प्रकार यहा भी हिंसा पक्षवादी लोग (तद्
यथैव) श्रुति के बल से हिंसापक्ष ही को यथार्थ समझते हैं सुतरा उन के मत
से जो मधुपर्क में श्रौत गौहिंसा होती थी वह कुछ अयोग्य नहीं समझी जाती
थी। यद्यपि श्रुति में उत्सर्जन पक्ष भी लिखा है किन्तु जो लोग मासभोगी
थे वे इस (त्याग पक्ष) को पसन्द नहीं करते। मास ही का देना और खाना
अतिथि का सत्कार समझते थे। सुतरा मास भक्षियों के लिये जहा पूज्य और
पूजक दोनों मास भोगी होते थे, मधुपर्क में गोवध होना अच्छा समझते और

(१) मत्ता रुद्राणां दुहिता वसना स्वमा रुद्राणां मासृतस्य नाभिः अशुवाच नि कन्यजनाय श्रमयन्मासादिनि वधिः॥

(२) शरणागतं वा ह्यदाशा वा भ्रूतस्य मानसम् ।

(३) गत्वा रुद्राणां दुहिता वसनामिमं त्रिष्वधं नृप नाना मुप ग गउन्

(४) अचन्या गौः कल्पेन च यजि न वा

जो लोग मांसभक्षण से निवृत्त, थे, वे, उत्सर्जन अर्थात् मधुपर्क के समय गो का बध न करके त्याग ही की उत्तम समझते। इसी बात का आभास महा कवि, भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक में दिखाया है (१) अस्तु। यदि ऐसा कहो कि मांसभक्षी सभी लोग मधुपर्क में गोबध करते थे यह भी ठीक नहीं, बहुत लोग “अन्या” नाम की लाज करते, किन्तु “अमांसी मधुपर्क, न भवति” इस बात के पालनाय बकरे का मांस अवश्य भक्षण करते थे, इसलिये, “महोक्ष वा महाक्ष वा” यहां स्मृति में व्याख्यातक ने गोबध से निवृत्ति लोगों के लिये “महाजं” इस पद से बकरे का बध भी लिखा है। और व्याख्यातक स्मृति के व्याख्याता मिताक्षराकार ने तो इस का अभिप्राय ही दूसरा लिखा है (२)। वह लिखते हैं कि ओत्रिय के आगमन समय में न तो कुछ खेल, या बकरा, उन के भेंट करे और न उस का बध ही करे। जब ओत्रिय पूजन, गृहस्थमात्र का धर्म, है, तो प्रत्येक ओत्रिया के लिये वेचारे गृहस्थ कहा से खेल और बकरे ला सकते हैं, क्योंकि कोई ओत्रिय तो गृहस्थ के घर में नित्यप्रति आया ही करेगा। यदि बधपक्ष की बात की बात कहे, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जिस बात से स्वयं की हानि और लोक निन्दा लड़ी हो जाये, वह बात चाहे धर्म कह कर सिद्धि भी हो, तो भी करनी उचित नहीं, (३) इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य हैं।

यद्यपि उक्त दोनों ही पक्ष सदा से चले आते हैं, किन्तु उन में सत्यत्व एवं निष्पात्त का निर्णय करना भीमांसा शास्त्र का काम है, अतएव हम भीमांसा शास्त्र के अनुसार ही उक्त बातका विचार करते हैं। केवल यही बात मान लें कि ये दोनों बात सदा से ही होती हैं, तो दोनों ही प्रमाण या यथार्थ हैं। यह नहीं हो सकता, क्योंकि भली बुरी दो प्रकार की बातें सदा ही होती रही हैं जिस में सदा की बात मान के चोरी या व्यभिचार आदि बुरी बातें कभी अच्छी या प्रमाण नहीं हो सकती। यदि कदाचित् वेद प्रमाण से गोबध प्रमाण कहो तो वेदप्रामाण्य का विचार तो भीमांसा के

(१) माण्डवनि । रामासीमधुपर्क इत्याध्याय बहुमव आना, ओत्रियाः समानाः, वनमदी महोष वा निर्वृत गृहमेधिन तं हि भयसुप्रवासा समामर्शन—अनिवृत्तमाप्तानामेव वस्यगृहमेध भवने निवृत्तमाप्सस्तु प्रव भवन् प्रवत । अनुष्ठे ॥

(२) महान्त मुलार्थ धरेव महान्त वा ओत्रिया उज्जमरणा उपरम्यन्ते । भवदर्थ मयमरमाभि परि-
वर्त्तित इति मन् प्रत्यय न तु दायाव व्यापदनाय वा । यथा मयमन्त भवदर्थमन । प्रविशन्ति मुखाः समानान् ।
॥ १२१५ ॥ न विरुद्ध धम गान्वावन्तु । इति निरुपाधः ।

(३) ॥ १२१६ ॥ मेदव, मनुमर्ग ॥

अधीन है ! कौनसा वेदवाक्य किसी रीति से प्रमाण हो सकता है, इस का निर्णय बिना भीमांसा के नहीं हो सकता, यदि सब ही वेदवाक्य प्रमाण हो जायें तो “वनस्पतयः सत्रमासत” “सर्पाः सत्रमासत” अर्थात् वृक्षों ने यज्ञ किया, इत्यादि वाक्यों का भी प्रमाण होना चाहिये, परन्तु इन का प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि अचेतन वृक्ष आदि यज्ञ नहीं कर सकते । उक्त वाक्य का प्रामाण्य रखने के लिये भगवान् जैमिनि-कहते हैं (१) कि “समस्त वेद का तात्पर्य कर्म कराने में है, जिन वेद वाक्यों में कर्म की विधिनहीं पायी जाती वे सब अनर्थक वचन हैं, किन्तु, विधि वाक्य के साथ जहां उन की एकता हो जाती है, तो वे भी वाक्य प्रमाण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं । यद्यपि अचेतन वृक्ष यज्ञ नहीं कर सकते तथापि इन वाक्य से यज्ञ विधि की प्रशंसा है, जैसे कोई कहे कि देखो ! “फलवान् होने से वृक्ष भी अपना सिर झुका लेते हैं” तो इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि ऐश्वर्यवान् को सदा नम्र ही रहना चाहिये इत्यादि, इसप्रकार यहां भी यही तात्पर्य है कि अचेतन वृक्ष भी जय यज्ञ करते हैं, तो चैतन्य मनुष्य को तो वह अवश्य ही करना चाहिये । इसी अभिप्राय से जैसे “वनस्पतयः सत्रमासत” इस वाक्य को सार्थक किया है, वैसे यहां भी विचारना चाहिये ।

“तदययैवान्ये०” इत्यादि वाक्यों में जो गोवध से आगत महत् पुरुषोंके पूजन करने का लेख आता है, इन का भी तात्पर्य कुछ गोवध करने पर नहीं है । किन्तु उस का तत्त्व यह है कि वह “आतिथ्येष्टि” प्रकरण का वाक्य है, वह प्रकरण अतिथि पूजन का है, वहां जितने का जितने वाक्य है, उन का तात्पर्य अतिथि के उत्कृष्ट पूजन एवं उस की स्तुति में है, अतएव उक्त वाक्य का भी यह अभिप्राय है कि जय गौ की हिंसा करके भी लोग अतिथि का पूजन करते कराते हैं, तो अन्यान्य रीति से तो सभी प्रकार उसे (अतिथिपू०) करना ही चाहिये यस । यही बात उक्त श्रुति में है, कुछ गोवध का विधान नहीं है, यह उक्त वाक्य को गोवध का विधान मानें तो “मागा मनागामदितिम्बधिष्ट” इस हिंसा निषेधक श्रुति वाक्य का विरोध होवेगा, अतएव यहां यह व्यवस्था समझनी चाहिये कि हिंसा बोधन करने वाला उक्त वाक्य केवल अर्थवाद वाक्य है । और हिंसा विधान की पोषक कोई युक्ति उस में लिखी नहीं किन्तु “मगामना गाम्” इत्यादि वाक्य विधि है । और उस में “अनागाम्” अर्थात् “निरपराधिनीम्” यह हिंसा निषेध की

पोषक युक्ति भी लिखी है अतएव पहिला वचन निर्वल एवं “हिंसा निषेधक वचन प्रयत्न है। तथा यह भी एक नीमांसाशास्त्र का मत है कि जिस वाक्य में “यत्” “तत्” “अन्य” “इव” और “अदः” इत्यादि शब्द आते हैं, वह वाक्य विधि धाक्य के आगे निर्वल पड़ जाता है। अत एव यहां भी “तद्” “यथा” “अन्य” इत्यादि पद घटित “तद् यथै वान्ये०” इत्यादि गोवध-सूचक श्राद्धवाक्य की अपेक्षा “मागा मनागा मदितिं यधिष्ट” इस संहि-तोक्त विधि वाक्य का विशेष प्रायत्न्य है, सुतरां जो लोग हिंसा एवं मांस के लोलुप थे और इस नीमांसाशास्त्र के गहन आशय की न समझते, वे ही लोग पहिले अतिविधि पूजन में गोहिंसा या किसी अन्य जीव की हिंसा करते, परन्तु शास्त्रानुसार मुख्य बात तो हिंसा का निषेध पक्ष या उत्सर्जन पक्ष ही प्रमाण है, यद्यपि प्रमाण नहीं * ।

श्री रामचन्द्रायनमः ।

स्वस्ति श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मणो शुभ माशीः ।

तामसपूजापेक्षया सार्विकपूजा देवताया अधिक सन्तोषाय पूजयितु-
श्चाधिककल्याणाय भवतीति ममापि सम्मतम् । परं मूल्यद्रव्ये न्यूनता न
करणीया वासनायैचिन्त्येण तामसप्रवृत्तावेव विश्वासभाजान्तु सार्विके दृढश्रद्धा
सम्पादनं विना प्रवृत्तिपरिवर्तनं न कार्यम् । इति शिवम् भाद्र शुक्ल ९ रविः ॥

श्री पण्डित शिवकुमार शर्मा ।

भाषार्थः—तामस पूजा की अपेक्षा सार्विक पूजा देवता के सन्तोष एवं पू-
जा करने वाले का कल्याण का निमित्त होता है। इस में मेरी भी सम्मति
है। परन्तु पूजा के मूल्य द्रव्य में कमी न करनी वासना की विचित्रता से ता-
मस प्रवृत्ति में विश्वास करने वालों की, सार्विक में दृढश्रद्धा के विना
प्रवृत्ति का परिवर्तन न करे ॥

पशुसंज्ञपन वा यज्ञ में हिंसा ॥

श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी की सम्मति ॥ (आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र
भूमिका पृ० ४-५)

* यह यज्ञ में हिंसा विषय पर सम्मति सुप्रसिद्ध सम्पादक “धर्म दिवाकर (भाग ४ मूल्य ४ सम्मत १६४३
पृष्ठ १३२—३७) ११ की है ॥ यह पत्र कलात्मे से निकलता था, अब बन्द हो गया ॥

मध्य हिन्द में एक सुठालिया—छोटी सी रियासत है, यहा के माननीय श्रीमान् राजा सुठालियाधीरा
ने श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी से नवरात्रि के समय दुर्गा पूजा में वस्त्र आदि के बलि की प्रथा रोकने में
शास्त्रीय व्यवस्था मांगी थी जिस पर उक्त पण्डित जी ने इस अंश में सम्मति लेने के लिये बनारस के सुप्रसिद्ध
श्रीमान् पं० रियन्मार् शारदा जी से पत्र द्वारा पूजा था इमी पत्र का उत्तर ऊपर दिया है ॥

हमारे पाठक महाशय इस बात का भी विशेष ध्यान रखें कि इन सूत्र ग्रन्थों को जब हम ठीक प्रामाणिक मान लेते हैं तब यह सिद्ध है कि जिस देश काल में और जिस रीति से जो काम, शास्त्र में, जिस के लिये कर्त्तव्य कहा है, वह उभी देश काल में, उभी रीति से किया हुआ, उसी मनुष्य के लिये उचित धर्म है। अन्यथा किया हुआ, वही अधर्म हो जाता है। जैसे अपने जयन स्थान में ऋतु काल में रात के समय विवाहित स्त्री से गमन करना गृहस्थ के लिये धर्म और गृहस्थ वैसा न करे, तो अधर्म है। ब्रह्मचारी संन्यासी को वैसा करनेसे अधर्म है, तीर्थ यात्रादि देश में, वन में प्रातःकालादि दिन में गृहस्थ को स्वभार्या गमन में भी अधर्म है। यदि शास्त्र की आज्ञा न मानें, तो धर्म अधर्म, कुछ नहीं बनता। रोना सर्वत्र घुरा समझा जाता है, परन्तु (अन्यत्र स्वदुःखदत्ताः संविशन्तु) वेद मन्त्रानुसार पिता के घर से पति-गृह की जाती सुयी कन्या का रोना अच्छा माना जाता है। गाली देना सर्वत्र घुरा काम है, पर विवाह में स्त्रियां तथा पुरुष गालियों की शुभ मानते हैं। इसी के अनुसार यज्ञादि में पशुओं का आलम्भन भी पूर्वकाल में घुरा नहीं माना जाता था। परन्तु लोक रीति से अपना मांस बढ़ाने के लिये शास्त्र विरुद्ध पशु-हिंसा अत्यन्त घुरी मानी जाती थी। अब कुछ ऐसा समय आगया है कि शास्त्र में लिखी बातों से तो लोग अधिक चौकते हैं, परन्तु मांसहारी लोगों के लिये नित्य २ हजारों गौ आदि पशु मारे जाते हैं, जिस को सभी जानते हैं, उन से इतने नहीं घबराते, पर जब ऋषि आचार्यों ने ऐसा विकराल समय आते देखा तब पहिले से ही (लोकविरुद्ध मेघघ) लिख गये कि जो धर्म जिस समय लोक में घुरा समझा जाये, उस समय वह कर्त्तव्य नहीं है, इस लिये "पश्वालम्भ" कर्म इस समय कर्त्तव्य नहीं है। इस कारण ऐसे विचार इन ग्रन्थों में देखकर उद्बेग वा संकोच नहीं करना चाहिये। देखिये विवाह यज्ञोपवीत की सभी पट्टियों में (नमम्रतेते हृदयं) मन्त्र से कन्या के हृदय का स्पर्श कर ऐमा लिखा है। सो पहिले लोगों का सिद्धान्त तो (अर्थ कामेष्ट्य सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते) के अनुसार था कि धर्म के सामने लोभ और कामात्मिकता के विचार से पृथक् सूर्य के सामने ग्रन्थकार के तुल्य समूल नष्ट हो जाती थी, तब विवाह के समय कन्या के हृदय का स्पर्श करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था, पर अब ऐसा करने में सभी को संकोच जान पड़ता है। जो इसका कारण अन्तःकरण का काम लोभादि से दूषित होना है। वैसे पश्वालम्भ में अन्तःकरण में शुद्ध धर्मभाव न रहने से लज्जा भय वा संकोच होता है। इसीलिये हम लोग इन दोषों के अधिकारी नहीं रहे।

सारांश यह है कि हमारे पाठक महाशय (पशुसंज्ञपन) कर्म को अपने विचारानुसार सर्वथा अनुचित ही समझें तो भी यह समझें कि हमसे ऐसे कर्म करने करानेका कोई आग्रह भी तो नहीं, करता, प्रत्युत धर्मशास्त्र मना करता है इसलिये हमको ग्रन्थोंमें लिखेहोने मात्रसे दोष करना व्यर्थ निष्प्रयोजन है। हमको अपनी दृष्टिसिद्धि के लिये समयानुसार जो २ यातें इन ग्रन्थोंमें उपकारी प्रतीत हों, उनसे लाभ उठाना चाहिये। सब काम सब देशकालों में सब के लिये, जब कदापि हो ही नहीं सकते तो, इन्हीं ग्रन्थों का सब लेख हमारे अनुकूल कैसे हो जायेगा ? जैसे, शीतकाल में खसरास की टही व्यर्थ होने पर भी फिर गर्मी आने पर स्वयं सायक हो जाती है, वा जैसे गर्मी के दिनों में वा गर्मदेश में शीतके यस्त्र धोभानात्र व्यर्थ प्रतीत होने पर भी फिर शीत का देश वा काल आने पर सायक उपकारी हो जाते हैं। तथा जैसे पंसारी की दूकान में रक्तागुग्गु विष कभी किसी अधिकारी के लिये असुतवत् उपकारी हो जाता है इसलिये उस से द्वेष घृणा वा असुवि करने वाले की भूल है, वैसे ही इन ग्रन्थोंके पशु संज्ञापनादि विषयों से द्वेष घृणा कुछ नहीं करे

ह० भीमसेन शर्मा, सम्पादक ब्राह्मणसर्वश्रेष्ठ—इटावा

उपसंहार ।

अन्त में निवेदन यह है कि इस गोभिलगृह्यसूत्र को अनुवाद में हमें पं० सत्यव्रत सामश्री जी की संस्कृत टीका से बड़ी सहायता मिली इस लिये इन महात्मा को हम अन्तःकरण से कोटिश; धन्यवाद देते हैं; पुनः इस के सु-द्रव्य फार्म में श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रक संशोधनादि कार्य में हमें सहायता दी है। इस कारण हम इन पण्डित जी के भी कृतज्ञ हैं।

यह पुस्तक पं० सत्यव्रत सामश्री जी मुद्रापित ५) रुपये की मिलती है, परन्तु इस में एक भारी त्रुटि यह है कि गृह्यसूत्रोक्त संस्कारों के साथ संस्कृत टीकामें मन्त्रों की प्रतीकें दीयीं तो हैं परन्तु मन्त्र नहीं दिये हैं और मन्त्र ब्राह्मण अलग लेने से ५) और देने पड़ते हैं इस प्रकार यदि सचाङ्ग सम्पन्न गोभिलगृह्यसूत्र कोई लेना चाहे तो उसे १०) रुपये खर्चने पड़ेंगे। हमने मन्त्र ब्राह्मणोक्त सब मन्त्रों की यथास्थान (जहां २ जरूरत हुई) छपवा दिये हैं और ४० पृष्ठ पर भूमिका एवं भाषानुवाद होने पर भी मूल्य केवल २॥) ही रक्ता है। द्वितीय निवेदन यह है कि गृह्यसूत्रोक्त कई एक विषयों पर हमने भूमिका में—इस लिये विशेष विचार नहीं किया है—अब ही वेदों के भिन्न २ शाखा के भिन्न सब गृह्यसूत्र हैं मिले नहीं हैं जिन का अन्वेषण हो रहा है, आशा है कि हम 'आश्वलायन और पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका में गृह्यसूत्रोक्त प्रत्येक विषयों पर पूर्ण विचार लिखेंगे।

भवदीय—

शास्त्रप्रकाश कार्यालय—मधरापुर

डाक—बिदुपुर (मुझफापुर)

} क्षत्रियकु० उदयनारायणसिंह

गोभिलगृह्यसूत्रस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

विषयाः पृष्ठानि

(सर्वकर्ममाधारणविधयः) १

१ ख० अधिकायीदिनिर्णयः २

अग्न्याधानम् ३

नित्यहोमकालः ७

२ ख० उपवीतविधिः ८

आचमनविधिः ११

(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)

३ ख० वैश्वदेवविधिः १६

४ ख० घृतिहरणम् २०

(अथ दर्शपौर्णमासप्रकरणम्)

५ ख० कालनिर्णयः २८

उपवासदिनकर्तव्यता ३२

६ ख० उपवामदिनाकर्तव्यता ३५

तृणनिरसनम् ३१

ब्रह्मस्पापनम् ३८

७ ख० तद्वह्निविधिः ३९

स्थालीपाकविधिः ४०

आल्यविधिः ४३

८ ख० उपघातहोमविधिः ४५

उपस्तीर्णाभिषारितविधिः ४५

स्विष्टकृद्होमविधिः ४७

महाव्याहृतिहोमः ४८

आवापकालनिर्णयः ४८

परिसमूहनादीनांतन्त्रविधिः ४८

मेतणाद्यनुग्रहरणम् ४९

मन्त्रभेदकथनम् ४९

यज्ञवास्तुकर्म ५०

९ ख० यागान्त्यकर्माणि ५१

महावामदेव्यमास ५७

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

(विवाहादिसंस्कारप्रकरणम्)

१ ख० कन्यापरीक्षणम् ५७

जातिकर्म ५८

कुशकण्डिकाकृत्यम् ६०

२ ख० परिणयविधिः ६३

पाणिग्रहणम् ६५

३ ख० उत्तरविवाहः ६८

४ ख० दध्नामयनम् ७२

५ ख० चतुर्थीकर्म ७५

गर्भाधानम् ७६

६ ख० पुंमयनम् ७८

७ ख० मीमन्तकरणम् ८२

सोप्यन्तीहोमः ८४

जातकर्म ८५

मेधाजननम् ८५

८ ख० निष्क्रामणम् ८७

नामधेयकरणम् ८८

पौष्टिककर्म (जन्मतिथिः) ९०

मूढोभिघ्राणम् ९१

९ ख० घृष्टाकरणम् ९२

१० ख० उपनयनम् ९७

॥ अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

१ ख० समावर्त्तनगोदानं वा १०६

ब्रह्मचारिकृत्यम् ११२

महानाश्वीसाम १२२

३ ख० उपाकर्म १२५

अनध्यायविधिः १२८

अद्रुतविधिः (दुःस्यं) १३०

४ ख० स्नातकविधिः १३२

५ ख० समावृत्तविधिः १३८

६ ख० गोपालनविधिः	१४४	दारिद्र्यनाशकामकर्म	१८४
गोपालनविधिः	१४४	यशस्कामकर्म	१८५
गोयज्ञः	१४६	स्वस्त्यनकामकर्म	१८६
ऋषभपूजा	१४७	आचितशतकामकर्म	१८६
अश्वयज्ञः	१४७	७ ख० वास्तुनिर्माणकर्म	१८८
७ ख० अयणाकर्म	१४८	वास्तुयागः	२०१
८ ख० आश्वयुजीकर्म	१५२	८ ख० अवणामहायणीगोपालतैः	} २०
नवयज्ञः	१५४	काम्यकर्म	
९ ख० आग्रहायणीकर्म	१५७	(२) प्रसादकामकर्म	२०४
१० ख० अष्टकाविधिः	१६१	शङ्कुयतहोमः	२०४
(१) अपूपपाटका	१६२	(यधकामकर्म)	२०४
(२) मांसाष्टकापूर्वकृत्यानि	१६४	स्पर्शिलहोमः	२०५
॥ अथ चतुर्थः प्रपाठकः ॥		(पण्यकामकर्म)	२०६
१ ख० मांसाष्टकाहोमः	१६७	यशस्कामकर्म सहायकामकर्म	२०७
२ ख० अन्यष्टक्यम्	१६९	९ ख० पुरुषाधिपत्यका०	२०७
३ ख० अन्यष्टक्यआहुम्	१७६	आचितसहस्रकामकर्म	२०९
४ ख० पिरडपितृयज्ञः	१८३	पशुकामकर्म	२०९
(३) शाकाष्टका	१८४	क्षुद्रपशुकामकर्म	२०९
यपाहोमः	१८४	वृषयविच्छिन्निकामकर्म	२०९
ऋणहोमः	१८५	विषदोषनाशकामकर्म	२०९
हलाभिषेगः	१८५	स्नातकस्वस्त्यनकर्म	२०९
(अथ काम्यकर्मप्रकरणम्)		क्रिमिनाशकामकर्म	२१०
५ ख० होमपूर्वकृत्यानि	१८७	(अथ अर्हणीयप्रकरणम्)	
भोजननियमः	१८९	१० ख० उपस्थानविधिः	२११
ब्रह्मवर्चसकामकर्म	१९०	विष्टरग्रहणविधिः	२१२
पुत्रपशुकामकर्म	१९०	पाद्यग्रहणविधिः	२१२
सभयकामकर्म	१९०	अघर्यग्रहणविधिः	२१३
पशुस्वस्त्यनकामकर्म	१९०	आचमनीयग्रहणविधिः	२१३
(१) प्रसादकामकर्म	१९१	मधुपर्कग्रहणविधिः	२१३
पार्थिवं कर्म	१९१	बहुगोमुक्तिप्रकारः	२१४
भोगादिकामकर्माणि	१९२	गवालम्भनालम्भनयोर्व्यवस्था	२१५
६ ख० अकालमृत्युपापरोगाभ्यां	} १९४	अर्हणीयपरिगणनम्	२१५
शातमदेहरक्षाकामकर्म		गोभिलीयटीकापरिशिष्टम्	२१७

सामवेदीयम् ॥

अथ गोभिल-गृह्यसूत्रम् ॥

—०:३:०—

अथातो गृह्याकर्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

‘अथ’ ग्रन्थारम्भद्व्योक्तकोऽयं निपातः । ‘अतः’ तदानीन्तनाचार्याणां वचोभङ्गीप्रयुक्तमिदम् । ‘गृह्याकर्माणि’ गृह्याय हितो गृह्यः, योगकृत्वा अ-
ग्निरिति बुध्यते ; घट्यत्यनुपदमेव ‘स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति (२१ सू०)’
इति ; तत्र , कर्त्तव्यानि ‘कर्माणि’ नित्याग्निहोत्रहोनादीनि , तदङ्गभूता-
न्यग्न्याधानादीनि च ‘उपदेक्ष्यामः’ तत्तदितिकर्त्तव्यतां बोधयिष्यामः । गृह्ये-
तिदीर्घशब्दान्दसः ॥ १ ॥ अथ तत्र सर्वकर्मसाधारणविधीनाह—

भा०—इस के अनन्तर “ *गृह्य” अग्नि में कर्त्तव्य नित्य अग्निहोत्र आ-
दिक और उस के उपयोगी “अग्न्याधान” प्रभृति कर्मों का उपदेश करेंगे॥१॥

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम् ॥ २ ॥

‘यज्ञोपवीतिना’ किञ्च ‘आचान्तोदकेन’ उदाकाधमनं कृतवर्तैव पुन-
रेव ‘कृत्यम्’ कार्यम् , घट्यमाणकार्यजातमिति ॥ २ ॥

*अग्नि सामान्यतः तीन प्रकार का होता है, १ श्रीताग्नि, २ गृह्याग्नि, और ३ लौकिकाग्नि । अर्थात् ब्राह्मण भाग में जिस का व्यवहार व्यवस्था आदि सु-
नी गयी है, उसी को “ श्रीताग्नि ” कहते हैं, जैसे गार्हपत्य (अग्नि) प्रभृति ।
इस के अतिरिक्त और वेदोक्त अर्थात् वेद में गृही के उपयोगी एवं कर्त्तव्य
कह कर जानने पर भी जिस की व्यवहारप्रणाली सुनी नहीं जाती शतएव
गोभिल आदिक की स्मृति द्वारा उपदिष्ट अग्नि को भी ‘गृह्याग्नि वा स्मा-
त्ताग्नि’ कहते हैं । और वेद में जिस के लिये न तो विधि है और निषेध ही
है, पर अन्न पाकादि कार्य के लिये जिस अग्नि का लोक में व्यवहार होता है
उसे ‘लौकिकाग्नि’ कहते हैं ।

भा०:—आगे कहे जाने वाले कर्मों को यज्ञोपवीत ‡ धारण कर और आचमन करके करना चाहिये ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादन्हः कालं विद्यात् ॥ ३ ॥

‘उदगयने’ उत्तरायणे ‘पूर्वपक्षे’ शुक्लपक्षे ‘पुण्येऽहनि’ मेघाच्छन्नादि-
दोषशून्यदिने ‘अन्हः’ दिवसस्य ‘आवर्त्तनात्’ परिवर्त्तनात् ‘प्राक्’ पूर्वं
पूर्वाह्णमेव ‘कालम्’ समयं ‘विद्यात्’ जानीयात्, यद्यप्यमाणाकर्मणां सर्व-
पामेवेति ॥ ३ ॥

भा०:—जहां २ (इस ग्रन्थ में) समय की कोई व्यवस्था नहीं कियी गई हो
कि ‘अमुक समय अमुक कार्य करना;’ ऐसे स्थानों में समस्त कार्य उत्तरायण
शुक्लपक्ष, ‘निर्दोष (घादल रहित) दिन में दोपहर के पहिले करना
चाहिये ॥ ३ ॥

यथादेशञ्च ॥ ४ ॥

यथादेशमपि कालं विद्यात् । यत्र यत्र च विशेषतः कालमादेश्यमानस्तत्रतत्र
स स एव काल आदरणीयो न तु सामान्यतः उक्त उदगयनादिक इति ॥ ४ ॥

भा०:—जहां २ जिस २ कालादिक की व्यवस्था करेंगे, वहां २ वही २
काल माननीय होगा, सामान्यतः ३ सूत्रोक्त काल नहीं ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वाहार्यवन्ति ॥ ५ ॥

‘सर्वाणि’ गृह्यकर्माणि ‘आहार्यवन्ति एवं’ आहरणीयानि कुशाद्य-
पकरणानि तद्विशिष्टान्येवेति ॥ ५ ॥

भा०:—सब ही गृह्य कर्मों में कुशा प्रभृति अनेक “उपकरण” (सा-

‡ उपवीत—जो वामस्कन्ध से दहिने पार्श्व में लटकता हो उसे ‘यज्ञोप-
वीत’ और जो दहिने स्कन्ध से वामपार्श्व में लटकता हो उसे “प्राचीनावीत”
और जो भाला की नाईं गले में पहना जाता उसे “निवीत” कहते हैं ॥
पितृ कार्यों में “प्राचीनावीती,” दैव कार्यों में “यज्ञोपवीती” और
जिस समय देव या पितृ कार्य कुछ न हो, ऐसे समय एवं मल मूत्रत्याग, या
भ्रमणादि शारीरिक कार्य करते समय “निवीती” होना चाहिये । यह
एक प्रकार का संकेत है । पूर्वकाल में प्रायः सब ही लोग अधिक समय देव
कार्य में व्यतीत किया करते थे सुतरां वे ही लोग प्रायः “यज्ञोपवीती”
रहते थे । इस समय के कर्ममिश्र द्विजों की “निवीती” होना ही उचित
है, इन के प्रमाण क्रमशः इसी ग्रन्थ में आगे मिलेंगे ।

सामग्री) आवश्यक होते हैं ॥ ५ ॥

अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ॥ ६ ॥

‘अपवर्गे’ कर्मसमाप्ति ‘अभिरूपभोजनम्’ अभिरूपः शास्त्रबोधित-
या यथोपयुक्तः; तस्य तयोः तेषां वा भोजनं ‘यथाशक्ति’ स्वकीयायाद्यनुगतं
कार्यमिति ॥ ६ ॥ इति सर्वकर्मसाधारणविधयः ।

भा०—सब ही कर्मों की समाप्ति में यथाशक्ति यथाशास्त्र उपयुक्त एक,
दो, या अधिक व्यक्ति को भोजन कराना चाहिये ॥ ६ ॥



अथाग्न्याधानविधीनाह—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्याथ्समिधमभ्याधास्यन् ॥७॥

सक्तं ‘गृह्याकर्माणि’ इति, तत्र कीऽसौ गृह्योऽग्निः? प्रथमन्तावत् स ए-
व उपदिश्यते ‘ब्रह्मचारी’ इत्यारभ्य ‘गृह्योऽग्निर्भवति’ इत्यन्तेन धन्यस-
न्दर्भेण । ‘ब्रह्मचारी’, ‘वेदम् अधीत्य’ गुरुकुले स्थित्वा वेदाध्ययनं समा-
प्य ‘अन्त्यां’ ब्रह्मचर्यसमाप्तिकां ‘समिधमाधास्यन्’ समिधमाधातुं प्रवृत्तः
“अग्निस्माधानं कुर्वीत (१४ सू०)” इत्यनेन सम्बन्धः । प्रतिदिनं यथाऽऽचा-
र्याग्नावेव समिधमाधत्ते तदानीं न तथा आदधीत अपितु अपञ्चाहरणादिपूर्वकं
अग्निप्रणयनं कृत्वैव तत्र स्वकीयेऽग्नी तामन्त्यां समिधमादधीतेति ॥ ७ ॥

भा०—ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रह कर) वेदाध्ययन के अन्त में शेष ‘स-
मिध’ (होनीय काष्ठ) हवन करने में प्रवृत्त होकर ॥७॥

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मचर्यसमाप्तिकान्त्यसमिदाधानकालेऽग्निग्रहणं न कृतं भवेत्, तदा
पूर्वपूर्वदिनवत् गुरोरग्न्यावेव ता मन्त्यां समिधमादधीत । पुनः कीऽग्निग्रह-
णकालः? इत्याह—‘वा’ अथवा ‘जायायाः’ ‘पाणिं’ ‘जिघृक्षन्’ ग्रहीतु-
मिच्छन्, पाणिग्रहणात् पूर्वमेव ‘अग्निस्माधानं कुर्वीत (१४ सू०)’ इति ॥८॥

भा०—या जाया के पाणिग्रहणार्थ (विवाह के लिये) समुद्यत होकर ॥८॥

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देशात्समं वा प-
रिसमुद्गोपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीञ्च सत्
हतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिस्र उलिउख्याभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

तदग्निप्रणयनाय कीदृशः स्थानसंस्कारदृष्टः ? इत्युच्यते—‘अनुगुप्ताः’ वि-
गमूत्रप्रक्षेपतैलाभ्यङ्गादिवारणेन सुरक्षिताः ‘अप’ उदकानि ‘आहृत्य’ ‘प्रा-
गुदकप्रवण’ प्राक् उदक् या क्रमनिम्नं यस्य ईदृशं, ‘समं’ समतलं ‘धा’ ‘देशं’
स्थानं तैरुदकैः ‘परिसमूह्य’ ‘मध्यतः’ तत्स्थानस्यान्तरे ‘प्राचीं’ प्रागग्रां,
‘च’ अपिच ‘पश्चात्’ तस्यैव पाददेशे ‘उदीचीं’ उदगग्रां ‘संलग्नां’ प्रा-
चीरेण्यया संहता अपरां, ‘लेखां’ रेखां, ‘मध्ये’ मध्यस्थले ‘तिस्रः प्राचीः’
एव अपराः रेखाश्च ‘उल्लिख्य’ तत् स्थानम् ‘अभ्युक्षेत्’ कुशाद्यपञ्जलविन्दुभिः
सिञ्चेत् । तदेतत् स्थानं “स्थण्डिल” उच्यते । ८

भा०—*(जिस तालावादिक में जल,मैला फेके जाने, या भूत्र त्याग, या
तैलाभ्यङ्गन, या सेयार आदि द्वारा दूषित नहीं होता, किन्तु राज आज्ञा
आदि शासन में विशेष सावधानी से रक्षित हो, ऐसा जल-स्थान से) दोष
शून्य जल लाकर उस से स्थान को लीपे । यह स्थान पूर्व या उत्तर दिशा में
क्रम-निम्न समतल (घराघर) होना आवश्यक है । इस लीपे हुए स्थान के
धीचे में पूर्वार्ध एक रेखा अङ्कित करे और उसी के नीचे एक रेखा उत्तरार्ध
धरवी उसी में भिलावे, मध्य में और भी तीन रेखा खींचे, पीछे उक्त-लाये
हुए जल को उस पर छिड़क देवे इसी को “स्थण्डिल” कहते हैं ॥ ८ ॥

लक्षणावृत्तेषा सर्वत्र ॥ १० ॥

‘एषा’ अपआहरणादिका क्रिया ‘लक्षणावृत्’ उच्यते; ‘सर्वत्र’ एव अग्नि-
प्रणयने व्यवहर्तव्येति । १०

भा०—इस क्रिया का नाम “लक्षणावृत्” है । यह अग्निप्रणयन मात्र में
सब जगह व्यवहार के योग्य है ॥ १० ॥

भूर्भुवःस्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

‘भूर्भुवःस्वः’ इति मन्त्रेण ‘अभिमुखं’ यथास्यात् तथा कृत्वा ‘अग्निं’ ‘प्रण-
यन्ति’ । ‘लिङ्गार्थे’ लेट् (पाणिनीये ३।४।३)—इति लेटि, रूपम्; प्रणयेयुः । सर्वकर्मसु
सर्वैः कर्मिभिरैवैव मग्निप्रणयनं कार्यमिति सामान्यविधित्वस्यापनायेव बहुवच-
नम्, सर्वे प्रणयेयुरिति । ११

गृहस्वामी पितादिर्जीवितइति ब्रह्मचर्यावसानसमये पाणिग्रहणकालेऽप्य-
ग्निग्रहणं न भवेच्चेत्,—गृहस्वामिनि मृते, यदैव गृहस्वामी म्रियेत तदैव अग्नि-
ग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह—

*अग्नि प्रणयन करने के लिये कैसा स्थान प्रस्तुत करना चाहिये इस का
उपदेश किया जाता है ।

भा०:—उस के बाद उस अभ्युक्षित स्थान में “भूर्भुवः स्वः”—इस मंत्र को पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि स्थापन करे ॥ ११ ॥

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ॥ १२ ॥

‘वा’ अथवा ‘गृहपतौ’ पित्रादौ ‘प्रेते’ मृते तदैव परमेष्ठीकरणम्’ कृतच्छिन्न-प्रत्ययस्यैतद्रूपम् , क्रियाविशेषणम्; परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथास्याच्छाया ‘अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)’ इति । परमेष्ठिकरणमिति ह्रस्वेकारयुक्तपा-स्तु कापि पुस्तकेऽनुपलब्धत्वाच्च युक्तः ॥ १२

भा०:—यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह समय तक पिता आदि घर । मालिक जीते हों, तो ब्रह्मचारी को अग्नि ग्रहण कब करना चाहिये इस र कहते हैं कि घर के मालिक के मरने ही पर वह अग्नि ग्रहण करे ॥ १२ ॥

अग्निग्रहणस्य सामान्यतः कालत्रयमुक्तम्, तत्रैव विशेषमाह—

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ॥ १३ ॥

‘तथा’ अग्न्याधाने यथा अन्त्यसन्निदाधानादिः कालोऽपेक्षितस्तद्वदिति । तिथिनक्षत्रपर्वणां त्रयाणामेवैषां शुभानां समवाये—(उत्तरेण सम्बन्धः) ॥ १३ ॥

तादृशसमवायः शीघ्रो न घटेत् वेदाह—

भा०:—अन्त्य सन्निदाधान के लिये जिस प्रकार काल अपेक्षित होता है उसी प्रकार अग्नि स्थापन में भी तिथि, नक्षत्र, पर्व का एकत्र होना आवश्यक है * ॥ १३ ॥

*गुरु गृह में वास पूर्वक वेदाध्ययन समय में प्रतिदिन ही गुरु के गृह्याग्नि में ब्रह्मचारी गण सन्निदाहुति दिया करते, किन्तु पाठ समाप्त होने पर शेष आहुति पूर्वयत् न होकर ब्रह्मचारी के स्व सम्पादित अग्नि में आहुति होनी उचित है, यदि किसी प्रकार की रुकावट से इस समय अग्नि ग्रहण न हो, तो विवाह के पूर्व उसे ग्रहण कर (उसी) अपने ही अग्नि में लाजा होमादि पूर्वक पाणिग्रहण कर्त्तव्य है । परन्तु उस समय यदि पिता वा अपर गृहस्वामी जीवित रहें, तो एकान्त स्थल में, उस समय भी अग्नि ग्रहण करना अनावश्यक है, अतएव गृहस्वामी के मरने ही पर अग्नि ग्रहण करना चाहिये॥

सामान्यतः अग्नि ग्रहण के ये तीन काल कहे गये हैं । १ ब्रह्मचर्य समाप्ति का सन्निदाहुति समय, २ विवाह के समय और ३ गृहस्वामी के मरने पर । अथ इस सूत्र एवं अगले सूत्र द्वारा और भी विशेष रूप से काल घटलाया जाता है ॥

दर्शं वा पौर्णमासे वाऽग्निः समाधानं कुर्वीत ॥ १४ ॥

‘वा’ अथवा ‘दर्शं’ अमावास्यायां, ‘वा’ अथवा ‘पौर्णमासे’ पौर्णस्याम्, ‘अग्निसमाधानम्’ अग्नेः सम्यक् आधानं धारणं पोषणञ्च ‘कुर्वीत’ ॥ अग्निश्च सः कुतो ग्राह्यः ? इति विधत्ते—

भा०—तिथि, नक्षत्र, पर्व इन के यदि एकत्र मिलने में विलम्ब जान हो किसी अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को अग्नि ग्रहण करे ॥ १४ ॥

अग्निफहां से लाकर स्थापन करे—सो कहते हैं किः—

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीपाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

‘वैश्यकुलाद् वा’ वैश्यजातिगृहस्थग्रहात्, अथवा ‘अम्बरीपाद्वा’ भ्राष्ट्र वा ‘अग्निम्’ ‘आहृत्य’ ‘अभ्यादध्यात्’ अभ्याधानं ग्रहणं कुर्वीतेति ॥ १५ ॥

भा०—वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से, या भ्राष्ट्र (भार) से अग्नि लाकर स्थापन करे ॥ १५ ॥

अपि वा बहुयाजिन एवागाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

‘अपि वा’ अथवा ब्राह्मणस्य वा ‘राजन्यस्य वा’ ‘वैश्यस्य वा’ ‘बहुयाजिनः एव’ ‘आगारात्’ अग्नि माहृत्येत्यादि पूर्वेषां सम्बन्धः । बहुयाजिनो ग्न्याहरणं विधेयम्, स च बहुयाजी, त्रयाणामन्यतमो यः कथनं भवेन्नामेति अत्र वैश्यस्यानुल्लेखे ब्राह्मणक्षत्रिययोरन्यतरबहुयाजिनोऽग्निः ग्रहणीयः स्यात् तु वैश्यस्य बहुयाजिनः, पूर्वत्रानुक्ते तु बहुयाजिन एव वैश्यस्य स्यात्, तदति रिक्तस्यापि वैश्वमनोऽग्निग्रहणमिष्टं तत्र भवेदित्युभयत्रैव वैश्यस्योल्लेखः ॥ १६ ॥

भा०—या बहुयाजी (जिस के यहां प्रायः यज्ञ होते हों) के घर अग्नि लाकर स्थापित करे । उक्त बहुयाजी चाहे ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय, या वैश्य, इस में कोई हानि नहीं ॥ १६ ॥

अपि वाऽन्यमथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

‘अपि वा’ अथवा ‘अथित्वा’ अरणिद्वयमन्यनं प्रकृत्यैव ‘अभ्यादध्यात्’ ‘अन्यम्’ अपरं नूतनम् अग्निमिति ॥ १७ ॥

भा०—या ‘अरणि’ (एक प्रकार की लकड़ी होती है जिस के दो लकड़ी को परस्पर रगड़ने से आग स्वयमेव निकल आती है) भयकर दूसरा अग्नि ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवा नर्दुको भवतीति ॥ १८ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ १९ ॥

‘अनर्दुःकः’ ऋद्धिशून्यः ‘पुण्यः तु एव’ पुण्यमात्रजनकएव भवति, अयमारणेयोऽग्निरिति शेषः । ‘इति’ अतो हेतोः ‘यथा कामयेत तथा कुर्यात्’ स यदि आमुष्मिकफलं मृदुपादिकं कामयेत वैश्यकुलादेरग्निं गृह्णीयात्, यदि तु तत्र न प्रवृत्तिः परं पुण्यमात्रं कामयेत तर्हि अरणिं निर्नेयैव गृह्णीयादिति ॥ १८-१९ ॥

भा०:-इस ‘अरणि’ से नवोत्पन्न अग्नि में वक्ष्यमाण अनुष्ठानों के करने पर पुण्य तो होता है परन्तु* सम्पत्ति नहीं होती ॥ १८

भा०:-इस लिये जैसी कामना हो वैसा करे १४-१९ (सू० पक्षों में से कोई) ॥ १९ ॥

स यदेवात्स्यात्समिधमभ्यादधाति जायाया वा पाणिं
जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥ २० ॥

‘सः’ पुरुषः ‘यत् एव’ यस्मिन्नेवाग्नौ ‘अन्त्यां समिधम् आदधाति’, ‘वा’ अथवा ‘जायायाः पाणिं जिघृक्षन् जुहोति’ लाजादिकान्, ‘तम्’ अग्निम् ‘अभिसंयच्छेत्’ यत्नेन रक्षेत् । २०

भा०:-इस प्रकार अग्नि आहरण पूर्वक जिस में शेष “सन्ति” की आहुति देवे, या विवाह कार्य के लाजा, होम आदि जिस में सम्पन्न करे उस अग्नि की बड़े यत्न से रक्षे ॥ २० ॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥ २१ ॥

‘सः एव अग्निः’ ‘अस्य’ ग्रहीतुः ‘गृह्यः’ गृह्याय हितः गृहकर्मापयोगी अतएव ‘गृह्यः’-इत्येतन्नाम्ना प्रसिद्धी भवति । २१

भा०:-यही उस का ‘गृह्य’ अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत दिनों तक अपने सब गृह्य कार्य सम्पन्न करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

‘च’ अपिच, ‘तेन एव’ अन्त्यसमिदाधानेन लाजादिहोमेन वा एव ‘प्रातराहुतिः’ ‘हुता’ हुतैवेति सिद्धा ‘भवति’; तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्यतइति भावः । ‘इति’ अग्न्याधानप्रकरणसमाप्तिसूचकोऽयमिति शब्दः । २२ ।

अथनित्यहोमकालादिः—

भा०:-और यही ‘अन्त्याहुति’, या ‘लाजाहुति’ ही उस की प्रातः कालिक

* यह अर्पयाद है।

आहुति सिद्ध होगी, उस दिन दूसरी प्रातःकालिक आहुति की आवश्यकता नहीं ॥ २२ ॥

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥ २३ ॥

तद्दिनस्य प्रातराहुतिस्तेनैव सिद्धा परन्तु तद्दिने एव सायमाहुति रूपदेष्टव्येवेति 'सायमाहुत्युपक्रमे एव' वदामि—'अत ऊर्ध्वं' अग्न्याधानोपदेशात् परं 'गृह्येऽग्नौ' तस्मिन्, 'होमो विधीयते' सायं प्रातश्च होमप्रकार उपदिश्यते इति ॥ २३ ॥

भा०—उस दिन की प्रातः कालिक आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी उस दिन भी सायं आहुति की विधि उपदेष्टव्य है; इसलिये इस के पश्चात् सामान्यतः सब दिन के लिये ही इस गृह्य अग्नि में सायं और प्रातःकाल क होम कहा जाता है ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायंप्रातरनुगुप्ता अपआहरेत्
परिचरणीयाः ॥ २४ ॥

अपि वा सायम् ॥ २५ ॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥

पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ॥ २७ ॥

पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं
जुहुयात् ॥ २८ ॥ १ ॥

बोधनीकर्याय प्रथमन्तयात् सप्तविंशाष्टविंशसूत्रयोर्व्याख्यानं प्रकृत्यैव चतुर्विंशादीनि सूत्राणि व्याख्यायन्ते—

'अस्तमयात् पुरा' यावत् सूर्यास्तो न भवति तावदेव 'अग्निं' 'प्रादुष्कृत्य' सन्दीप्य, 'अस्तमिते' सूर्ये 'सायमाहुतिं जुहुयात्'—इत्युक्तः सायमाहुतिकालमात्रः (२७) । 'उदयात् पुरा' यावत् सूर्यो नोदेति तावदेव 'प्रादुष्कृत्य' अग्निम्, 'उदिते' सूर्ये 'अनुदिते' उदयसमये वा 'प्रातराहुतिं जुहुयात्',—इत्युक्तः प्रातराहुतिकालमात्रः (२८) । 'सायं' 'प्रातः' च द्विवारमेव 'प्रादुष्करणवेलायाः पुरा' अग्निसन्दीपनकारणात् प्रागेव काले 'अनुगुप्ताः' सुरक्षिता निर्मलाः 'परिचरणीयाः' आचमनादिपरिचर्यापयुक्ताः 'अपः' उदयानि 'आहरेत्' (२४) । 'अपि वा' अथवा 'सायम्' प्रतिदिनि मेकवारं सायङ्काले अग्निसन्दीपनकालात् पृथं मेव अप आहरेत्, तेनैव

प्रातश्चाचमनादिकाः क्रियाः कर्तव्याः; न तु पुनः प्रातराहरेदिति (२५) ।
 'अपिवा' अथवा एकदैव सायं प्रातर्वा अग्निसन्दीपनात् प्राक्काले अनुगुप्ता
 अप आहत्य कुम्भे मणिके वा स्थापयेत्; प्रतिदिनं ततएव 'कुम्भाद्वा' 'म-
 णिकाद्वा' ताः सायं प्रातश्च 'गृह्णीयात्' । २६ ।

इति गोभिलगृह्यसूत्रीय-प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डस्य

व्याख्यानम् ॥ १, १ ॥

भा०:-सायंकाल में-सूर्योस्त होने के पहिले ही उसी रक्षित अग्नि की
 खूब जलाकर सूर्योस्त होने पर उस में आहुति प्रदान करे ॥ २७ ॥ प्रातः
 काल में-सूर्योदय के पहिले उसी रक्षित अग्नि की सन्दीपित कर सूर्योदय
 के पीछे या उदय हो रहा हो ऐसे समय उस में आहुति प्रदान करे ॥ २८ ॥ सायं
 और प्रातःकाल में, (दोनों काल में) अग्नि प्रज्वलित काल के पहिले आचम-
 नादि के उपयुक्त क्षुरक्षित जल लावे ॥ २९ ॥ या सायंकाल में एकवार इस जल
 को लाने ही से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ २५ ॥ अथवा एक दिन
 सायंकाल में, या प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जल को
 लाकर कलसे या मणिके (पानी रखने का बड़ा वर्तन) में रख देना चाहिये,
 पीछे प्रतिसायं और प्रातः समय आवश्यकतानुसार उस से जल लिया करे
 (२६) *२४-२८ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथमखण्ड का अनुवादपूरा हुआ । १।१॥



अथ उपवीतविधिः-

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

पूर्वमुक्तं 'यज्ञोपवीतिना कृत्यम्'-इति, इदानीं तद्यज्ञोपवीतमेवोपदि-
 श्यते-

'सूत्रं' 'वा' अथवा 'वस्त्रं' 'अपिवा' अथवा 'कुशरज्जुमेव', यदा
 यत्र यत् सुलभं, तदा तत्र तदेव 'यज्ञोपवीतं', 'कुरुते', लोटोरूपनिदम्, कु-
 र्वीतेत्यर्थः । १

* सुगमता से समझने के लिये पहिले २७ और २८ सूत्र का अनुवाद
 करके इस के बाद २४, २५, २६, सूत्रों का अनुवाद किया गया है ।

भा०:-सूत, या दक्ष, या कुशरज्जु, जिस समय जो आसानी से मिल सके, उस समय उसी के यज्ञोपवीत से काम करना चाहिये + ॥ १ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येऽसे प्रतिष्ठापयति

दक्षिणं कक्षमन्ववलम्ब्यं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥२॥

तत्र ' दक्षिणं बाहुम् ', ' उद्धृत्य ', उत्क्षिप्य, ' शिरः ', ' अवधाय', वेष्टयित्वा ' सव्येऽसे ', वामस्कन्धोपरि 'प्रतिष्ठापयति', तत्र ' दक्षिणं कक्षमन्ववलम्ब्यं ', दक्षिणकक्षान्तलम्बमानम् ' भवति', भवेत् । ' एवम् ', प्रकारेण सूत्रोऽन्यतमस्य धारणेन ' यज्ञोपवीती ', भवति । प्रसङ्गात् प्राचीनावीतिनोर्गालक्षणमुच्यते-

भा०:-उस (जनेक) को दाहिने कांधे पर रखकर, शिर में लपेट कर श्रीः वामस्कन्ध से दक्षिण कक्ष (वगल) के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार से जनेक पहनने वाले को " यज्ञोपवीती " कहते हैं ॥ २ ॥ *

सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमन्ववलम्ब्यं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥ ३ ॥

' सव्यं ', वामम् । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् । ३

भा०:-इसीप्रकार बायें कांधे के ऊपर जनेक को रख कर, शिर में लपेट कर पहना और दाहिने कांधे से वामे कक्ष के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार जनेक पहनने वाले को "प्राचीनावीती" कहते हैं ॥ ३ ॥

पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

' पितृयज्ञे ' आहुतादी ' तु ' ' प्राचीनावीती एव ' ' भवति ' भवेत् । एवञ्च देवपितृकार्याभ्यागम्यत्र निवीत्येव तिष्ठेदिति श्रुतरां लभ्यते ॥ ४ ॥ अथ आचमनविधिरुपस्पर्शनविधिरां—

+ 'जनेक नी गुण का होना चाहिये, तीन तागे का और दो जनेक, या तीन जनेक पहनना चाहिये,' इत्यादि यहां कुछ नहीं लिखा है । जैसे २ संस्कार की पृष्टि होती गई है वैसे २ शास्त्र और भी बढ़ता गया है ॥

*-यह यज्ञोपवीत की लम्बाई का प्रमाण हुआ । इस के विरुद्ध जो किसी अन्य शास्त्र के ग्रन्थों में जनेक की लम्बाई का विधान है, वह साम्प्रदायिक और प्रामाणिक शास्त्राध्यायी द्विगों के ग्रहण योग्य नहीं ॥ २ ॥

भा०:-केवल पितृयज्ञ में “प्राचीनावीती” होना चाहिये । इस्से यह सिद्ध होता है कि देवकार्य एवं पितृकार्य को छोड़ कर अन्य समय में “निवीती” होना चाहिये ॥ ४ ॥ +

उदङ्गनेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचा-

मेह द्विः परिसृजीत ॥ ५ ॥

पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ॥ ६ ॥

इन्द्रियाण्यद्विः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥

अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥

यद्वयन्मीमांशस्य स्यात्तत्तद्विः सत्सृशेत् ॥ ९ ॥

उक्तञ्च ‘आचान्तोदकेनैव कृत्यम्’-इति, इदानीं तदितिकर्तव्यतादिकमुपदिश्यते—

‘अग्नेः’ ‘उदङ्’ उत्तरतः ‘उत्सृप्य’ सर्पणेन गत्वा, ‘पाणी पादौ’ ‘च प्रक्षाल्य’, ‘उपविश्य च’,—‘त्रिः’ त्रिवारम् ‘आचामेत्’ जलं पिबेत् ; ‘द्विः’ द्विवारं ‘परिसृजीत’ ओष्ठाघरलघ्नमुदकं मार्जेयेत् ; ततश्च ‘पादौ अभ्युक्ष्य’ पादयोरभ्युक्षणं प्रकृत्य, ‘शिरः’ ‘अभ्युक्षेत्’ । ततश्च ‘अक्षिणी’ अक्षिगोल-कट्यम्, अनन्तरं ‘नासिके’ नासिकारन्ध्रद्वयं, तदनन्तरञ्च ‘कर्णौ’ कर्णश-ङ्कुलिद्वयम्,—इति षट् ‘इन्द्रियाणि’ ‘अद्विः’, ‘संस्पृशेत्’ । ततोऽनन्तरमपरमप्यङ्गं ‘यत् यत्’ ‘मीमांस्यं’ अवबोधय ‘स्यात्’ ‘तत्तत् अपि’ ‘संस्पृशेत्’ । ५—९

+—सर्व कर्म साधारण विधि-प्रकरण के द्वितीय सू० में (दैवकार्य में) यज्ञोपवीती हो कर कार्य करने की व्यवस्था कियी गयी है ? एवं इस स्थल में विशेषतः पितृ यज्ञ में प्राचीनावीती होनेकी व्यवस्था कियी है । इस से जिस समय पितृकार्य या दैवकार्य कुछ न हो ऐसे अवसर पर, या शारीरिक मलमूत्र स्वागते समय यज्ञोपवीती या प्राचीनावीती रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस्से यह भी सिद्ध होता है कि जिस समय दैव वा पितृकार्य में व्यापृत न रहे उस समय (बौध होता है कि) “निवीती” ही रहना उचित है । मनु कहते हैं—कि ‘निवीती कण्ठ सज्जने’ (२ अ० ६३ श्लो०) अर्थात् कण्ठ में माला की नाईं जनेऊ-धारी को “ निवीती ” कहते हैं ॥ ४ ॥

भा०:—अग्नि के कुछ उत्तर की ओर सरक कर, जावे और दोनों हाथ पैर धोकर उचित स्थान में बैठकर तीन बार आचमन करे । उस के बाद दो बार ओठ और अधर में लगा जल साफ करे, उसके पीछे दोनों पैर और माथे पर जल छिड़के, तदनन्तर दोनों आंख, नाक के दोनों छिद्र और दोनों कान, इन छः इन्द्रियों के स्थान में जल स्पर्श करे, तदनन्तर और भी जिस २ अङ्ग को अवबोधित करने की इच्छा हो उस २ अङ्ग को जल से स्पर्श करे ॥ ५, ६, ७, ८, ९॥

तत्रैतदाहुः—॥ १० ॥

‘तत्र’ आचमनविषये ‘एतत्’ मद्बुद्धिस्थमोष्ठागतं वक्ष्यमाणम् ‘उच्छिद्यो ह्येवातोऽन्यथा भवति’ (सू० ३०)—इत्यन्तग्रन्थम् आहुः केचनेति शेषः ॥१०॥

तद्यथा—

भा०:—इस आचमन के विषय में कोई २ आचार्य कहते हैं—कि ॥ १० ॥

नोपस्पृशेद् ब्रजन् ॥ ११ ॥

‘ब्रजन्’ इत्येतच्च भ्रमन् ‘न’ उपस्पृशेत् अपइति शेषः ॥ ११ ॥

भा०:—भ्रमण करते समय आचमन न करना चाहिये ॥ ११ ॥

न तिष्ठन् ॥ १२ ॥

‘तिष्ठन्’ दण्डायमानः सन् ‘न’ उपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते ॥ १२ ॥

भा०:—उड़े होकर ‘भी’ आचमन न करे ॥ १२ ॥

न हसन् ॥ १६ ॥

‘न हसन्’ हास्यं कुर्वाणः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

भा०:—हंसते समय ‘भी’ आचमन न करे ॥ १३ ॥

न विलोकयन् ॥ १४ ॥

‘विलोकयन्’ अपरं किमपि ईक्षमाणः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

भा०:—इधर उधर ताकता हुआ (अन्य मनस्क होकर) भी आचमन न करे ॥ १४ ॥

नाप्रणतः ॥ १५ ॥

‘अप्रणतः’ क्रोधदम्भादिभिरुपमूर्त्तिः सन् ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १५ ॥

भा०:—क्रोध, दम्भ आदि के कारण अनस होकर आचमन न करे ॥ १५ ॥

नाङ्गुलीभिः ॥ १६ ॥

‘अङ्गुलीभिः’ अङ्गुल्यग्रेषु जलं गृह्णन्प्राच्यामुद्धृत्वा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १६ ॥

भा०:-अङ्गुली के अग्र भाग में जल लेकर (अग्राह्य बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

‘अतीर्थेन’ तीर्थ ब्राह्मादिकं मन्वादिभिरुक्तम्, तदतिरिक्तेन यथा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

भा०:-अतीर्थ द्वारा (धातु पात्रादि में मुंह से जल ले कर या कण्ठ में डाल कर) आचमन न करे ॥ १७ ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

‘सशब्द’ क्रीडाभिप्रायेण शब्दं यथा भवेत् तथैव कुर्यात्ती ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

भा०:-शब्द करके (जल क्रीडानुसार) आचमन न करे ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

‘अनवेक्षितम्’ हस्तगृहीतमुदकं अनवेक्ष्यैव यथा लब्धं दृश्यकीटादिसहितं ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १९ ॥

भा०:-जल को भली भांति देखे बिना आचमन न करे ॥ १९ ॥

न बाह्यांशः ॥ २० ॥

‘बाह्यांशः’ बाह्यौ वहिर्भूतौ जान्वोः, अंशौ स्कन्धौ यस्य, तादृशः सन् ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २० ॥

भा०:-दोनों जानु के बाहर स्कन्ध रहने से (वक्र शरीर) आचमन न करे ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

‘अन्तरियैकदेशस्य’ परिहितवसनस्यैकांशस्य ‘उत्तरीयतां’ कल्पयित्वा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २१ ॥

भा०:-एक ही वस्त्र को पहन कर उसी के एक अंश को ओढ़ कर आचमन न करे ॥ २१ ॥

नोष्णामिः ॥ २२ ॥

‘उष्णामिः’ वह्न्यादितप्ताभिः अग्निः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २२ ॥

भा०:-गरम जल से आचमन न करे ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

‘सफेनाभिः’ केनादियुक्तैर्मलिनैरद्रिभ्यः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २३ ॥

भा०: केनैले जल से आचमन न करे ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

‘च’ अपिच ‘क्वचित्’ स्थानविशेषे, यत्रानावश्यकं तत्र, ‘सोपान-
त्कः’ उपानद्विशिष्टः सन् ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

भा०:—और अनावश्यक स्थान में दोनों पैर में जूता पहन कर आचमन
न करे ॥ २४ ॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥

गले बद्धः ॥ २६ ॥

चरणौ न प्रसार्य च ॥ २७ ॥

के मस्तके आसक्तिर्वन्धनं यस्य स ‘कासक्तिकः,’ ‘गले’ गलदेशे ‘बद्धः’
गलाधः करणे व्याघातः स्यादेवं दृढबद्धः, ‘च’ अपिच ‘चरणौ’ ‘प्रसार्य’
‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २५—२७ ॥

भा०:—मस्तक या गले में दृढ़ बन्धन रहते या दोनों पैर फैला कर आ-
चमन न करे ॥ २५, २६, २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

‘अन्ततः’ आचम्यारब्धकर्मकेण अनारब्धकर्मकेण वा शयनादीनामन्ते
‘प्रत्युपस्पृश्य’ अनुपद-बह्यमाणाप्रत्युपस्पर्शनं प्रकृत्यैव ‘शुचिर्भवति’ ॥ २८ ॥

भा०:—सो कर अपने पर इत्यादि समय दोबारे आचमन न करने से शु-
द्धि होगी ॥ २८ ॥

हृदयस्पृशस्त्वेवापआचामेत् ॥ २९ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—‘हृदयस्पृशः’ यावन्त्यः पीताः हृदयं स्पृश-
न्ति, तावन्तपण्यापः हृदयस्पृशः ताः ‘आपः’ ‘आचामेत् ॥ २९ ॥

भा०:—जितना जल पीने से हृदय पर्यन्त सिक्क हो सके, न्यून से न्यून
उतने जल से अवश्य आचमन करना चाहिये ॥ २९ ॥

उच्छिष्टोहैवातोऽन्यथा भवतीति ॥ ३० ॥

‘अतोऽन्यथा’ उक्तादन्यप्रकारकृताचमनः ‘उच्छिष्टः एयं’ अशुद्धएव ‘ह’
निश्चयं ‘भवति’—‘इति’ ‘आहुः’ (सू० १) इति पूर्वैरुक्तान्ययः ॥ ३० ॥

भा०:—ऐसा नहीं करने पर (हृदय तक जल नहीं पहुंचने से) उच्छि-
ष्ट ही रह जाता है ॥ ३० ॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ॥ ३१ ॥

‘अथः’ अनन्तरम् ‘प्रत्युपस्पर्शनानि’ कीदृक्स्थलकृताचमनं प्रत्युप-
स्पर्शनसंज्ञां लभते ? तत् उपदेक्ष्यामइति ॥ ३१ ॥

भा०:—किस २ स्थान के आचमन को “ प्रत्युपस्पर्शन ” कहते हैं ? सो
कहा जाता है ॥ ३१ ॥

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च
रथ्यामाक्रम्य श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

‘सुप्त्वा’ स्वापानन्तरम् १, ‘भुक्त्वा’ भोज्यभोजनानन्तरम् २, ‘क्षुत्वा’
क्षवनानन्तरम् ३, ‘स्नात्वा’ स्नानानन्तरम् ४, ‘पीत्वा’ पेयपानानन्तरम् ५,
‘विपरिधाय’ वसनादिपरिधानानन्तरम् ६, ‘च’ अपिच ‘श्मशानम्’ ‘र-
थ्याम्’ ग्राम्यमार्गम् ७, ‘आक्रम्य’ विचरणानन्तरम् ८ ‘आचान्तः च’ या-
गाद्यनुरोधतः प्रथम नाचान्तोऽपि पुनराचामेत् द्वितीयमाचमनं कुर्वीत । अत्रेदं
तत्त्वम् स्वापाद्यनन्तरमाचामेत्, तत्रैकमेवाचमनं कर्तव्यम् ; अथ आचम्यारब्ध-
कर्मकेषु तु स्वापाद्यनन्तरं पुनश्च द्वितीयमाचमनं कर्तव्यम् ; तदिदमेवंस्थानि-
कमाचमनमेव प्रत्युपस्पर्शनमुच्यतेइति ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय-गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके

द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १, २, ।

भा०:—सो कर उठने पर, भोजन करने पर, हिचकी आने पर, स्नान
करने पर, रसादि पीने पर, वसन, भूषणादि पहनने के क्रम के ऽ उपशमार्थ

‡ शयनादि के पीछे जो आचमन किया जाता है उसी को “ प्रत्युपस्पर्-
शन ” कहते अर्थात् नीन्द टूटने पर आचमन अवश्य करना चाहिये ; यदि
किसी देवानुष्ठानादि कार्य करते २ आलस्य जात तन्द्रा रूप निद्रा, या कि-
सी प्रकार आहार या हिचकी हो तो ऐसे स्थान में पुनर्वार आचमन करे ऐसा
न समझे कि एक बार आचमन कर चुका हूँ फिर क्या आवश्यकता है ॥
एवं गली और मुँद जलाने के स्थान में अमण करने पर, या इस के पूर्व अपर
किसी कार्य के अनुरोध से आचमन किया गया हो, तो ऐसे स्थलों में भी पुनः
आचमन करे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड

का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, २ ॥

(इति सर्वकर्मसाधारण-प्रकरणं समाप्तम्)

-(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)

अग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेना-
ग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

‘अग्निम्’ पूर्वोक्तप्रकारेण (१, २७-२८) ‘उपसमाधाय’, ‘परिसमूह्य’
वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण, ‘दक्षिणजान्वक्तः’ दक्षिणं जानु अर्क्तं भूमिगतं यस्य, ता-
दृशः सन्—‘अदितेऽनुमन्यस्व’ हे अदिते ! देवि ! एतत्कर्मकरणे अनुमति देहि
‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अग्निम् दक्षिणेन’ कृत्वा ‘उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

भा०:-पूर्वोक्त (१, २७-२८) अग्नि उपसमाधान कर, परि समूहन करके
दक्षिण जानु भूमि पर टेककर, हे अदिते ! मुझ को इस कार्य के करने में अ-
नुमति देओ’, इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में उदकाञ्जलि सौंचे ॥ १ ॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥ २ ॥

‘अनुमतेऽनुमन्यस्व’ हे अनुमते देवि । अत्रानुमतिं देहि—‘इति’ मन्त्रेण
‘पश्चात्’ अग्नेः पश्चिमतः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ २ ॥

भा०:-‘हे अनुमते ! मुझ को इस कार्य के करने में अनुमति देओ’—इस
मन्त्र से अग्नि के पश्चात् भाग में दूसरी उदकाञ्जलि सौंचे ॥ २ ॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥ ३ ॥

‘सरस्वत्यनुमन्यस्व’ हे सरस्वति ! देवि । अत्रानुमतिं देहि—‘इति’ म-
न्त्रेण ‘उत्तरतः’ अग्नेः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ ३ ॥

भा०:-और ‘हे सरस्वति ! मुझ को इस कार्य के करने में अनुमति देओ’
इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में तीसरी उदकाञ्जलि सौंचन करे ॥ ३ ॥

देवसवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा ॥ ४ ॥

‘देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः के-
तन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वायन्नः स्वदतु’ इत्यनेन मन्त्रेण (स० ब्रा० १ क०)
‘अग्निं प्रदक्षिणं’ यथाभवेत् ‘सकृत् वा’ एकवारं वा ‘त्रिर्वा’ अथवा
चारत्रयं ‘पर्युक्षेत्’ उदकधाराभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

भा०:-एकवार या तीनवार ‘देव सवितः प्रसुव’ इस मन्त्र से अग्नि की
प्रदक्षिणानुसार जल धारा गेरे । इसी को पर्युक्षण कहते हैं ॥ ४ ॥

पर्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

‘पर्युक्षणान्तान्’ अङ्गयागान् ‘व्यतिहरन्’ व्ययहरन् ‘होमीयम्’ होमी-

पयोगितया सङ्गृहीतं वस्तुजातम् ' अभिपर्युक्षन् ' उदकविन्दुभिः सिञ्चन् ॥५॥

भाः—उक्त प्रकार ' पर्युक्षन् ' पर्येत कार्यो को शेष कर अनन्तर होम के उपयोगी अन्नादि को जल विन्दु से सींचे। इसी को ' पर्युक्षण ' कहते हैं ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा ॥६॥

' अथ ' अनन्तरम् ' अग्नौ ' तस्मिन् ' कृतस्य ' वा पक्वस्य वा ' अकृतस्य वा ' अपक्वस्य वा ' हविष्यस्य ' अन्नस्य यवादेः (अंशमितिशेषः) ' जुहुयात् ' ॥६॥

भा०—अनन्तर उसमें अग्नि में का पका या कच्चा हव्य हवन करे ॥ ६ ॥

अकृतञ्चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥७॥

' तच्च ' होमीयं ' अकृतम् ' अपक्वं ' चेत् ' तत् ' प्रक्षाल्य ' उदकैः, ' प्रोदकं ' जलादौ च ' कृत्वा ' ' जुहुयात् ' ॥७॥

भा०—यदि अग्नि-पक्व भात आदि होम के योग्य न हों, मत्पुत तण्डुल या फलादि ही हवनीय हों, तो उन सब को अच्छे प्रकार धोकर जल से भीगे ही दशा में हवन करे ॥ ७ ॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कथंसेन वा चरुस्थाल्या वा सुवेण वै वा ॥८॥

' अथ ' तत्रापि यदि दधि पयः यवागूं ' वा ' होतव्यं भवेत् तदा ' कंसेन वा ' कांस्यपात्रेण वा ' चरुस्थाल्या वा ' चरुपाकपात्रेण ' वा ' अथवा ' सुवेण ' ' वै ' एव जुहुयात् न तु साक्षात् हस्तेन ॥८॥

भा०—विशेषतः—यदि दही, दूध या यवागूं, होम करना हों, तो उसको धोने की आवश्यकता नहीं, जैसा हो उसी प्रकार बिन धोये ही कांस्यपात्र चरुस्थाली में रख कर उस से या सुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजिता-याञ्चैव दिशोति सायम् ॥९॥

' मध्ये ' अग्नेर्मध्यस्थले ' पूर्वां ' प्रथमानाहुतिम् "अग्नये स्वाहा" इति अग्नेन मन्त्रेण ' अपराजितायां ' दिशि अग्नेरैशान्यां ' उत्तराम् ' द्वितीयानाहुतिम् ' तूष्णीम् ' मन्त्रशून्याम् जुहुयात् । ' इति ' एवं ' सायम् ' सायङ्कालीनो होमः ॥९॥

भा०—प्रथम आहुति तो " अग्नये स्वाहा " इस मन्त्र से अग्नि के बीच में और द्वितीय आहुति ईशान कीर्ण में बिना मन्त्र ही करे। यही सायङ्काल के होम का विधि हुआ ॥ ९ ॥

अथ प्रातः,—सूर्याय स्वाहेतिपूर्वा, तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये
चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ॥१०॥

“अथ प्रातः—” ‘पूर्वाम्’ प्रथनामाहुतिं “सूर्याय स्वाहा” “इति” अनेन मन्त्रेण । अन्यत् समानं पूर्वण ॥१०॥

भा०—प्रातःकाल के होम की व्यवस्था भी इसी प्रकार, होगी, केवल “अग्नये स्वाहा” मन्त्र के बदले “सूर्याय स्वाहा” मन्त्र से आहुति होगी इतना ही इस में विशेषता है ॥ १० ॥

समिधमाधायानुपर्च्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वम-
थस्या इति मन्त्रविशेषः ॥११॥

सायं प्रातश्चोभयत्रैव होमानन्तरम्—‘समिधम्’ अमन्त्रकमेव आधाय तत्रामी दुत्या ‘अनुपर्च्युक्ष्य’ पुनः पर्च्युक्षणं कर्तुं प्रवृत्तः ‘तथैव’ पूर्ववदेव ‘उदकाञ्जलीन्’ प्रसिञ्चेत् । तत्र ‘अन्वमंस्था’—‘इति’ अयमेव भूतार्घ्यपद-प्रयोगएव ‘मन्त्रविशेषः’ मन्त्रे विशेषः कर्तव्यः ॥ ११ ॥

भा०—‘सायं’ या ‘प्रातः’ दोनों ही काल में होम के पीछे अग्नि में एक समित् (होम की सफ़्टी) बिना मन्त्र के डाल कर पहिलेकी नाईं फिर ‘पर्च्युक्षण’ करने की प्रवृत्त होकर उदकाञ्जलि सोंचे । इसी को ‘अनुपर्च्युक्षण’ कहते हैं । इसी ‘अनुपर्च्युक्षण’ में पूर्व मन्त्र के बदले में ‘हे रुदिते ! तू ने मुझे इस कार्य के करने में अनुमति प्रदान किया थी’ (मैंने भी उस के अनुयायी कार्य सम्पन्न किया)—इसी मन्त्र का व्यवहार करना चाहिये यही विशेषता है ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापाथशेषं निनीय पूरयित्वा चमसं
प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

उक्तानुपर्च्युक्षणान्तरम्—‘अग्निं’ ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘परिक्रम्य’ ‘अपाम्’ अनुगुप्तानां कुम्भादर्शहीतानां वा ‘शेषं’ ‘निनीय’ पुनर्ग्रहीत्या, तेनीवो-दकशेषेण ‘चमसं’ पानपात्रं ‘पूरयित्वा’ ‘प्रतिष्ठाप्य’ संरक्ष्य च ‘यथार्थम्’ यथा-प्रयोजनम् एतदुत्तरवक्ष्यमाणं सायं सायमाशादिकं प्रातः प्रातराशारिकञ्च कुर्यात्तिति ॥ १२ ॥

भा०—उक्त “अनुपर्च्युक्षण” के पीछे प्रदक्षिण द्वारा अग्नि परिष्कार

करके, गृहीत जल के अवशिष्ट को 'चमसि' में ढाल कर यथा आवश्यक कार्य के लिये रख छोड़ें ॥ १२ ॥

एवमेत ऊर्ध्वं गृह्योऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृ-
थात् ॥ १३ ॥

'अतः ऊर्ध्वम्' एतद्विषयत ऊर्ध्वम् 'आ जीवितावभृथात्' जीवितं जी-
वनम्, अवभृथस्तु अश्वमेधादिमहायागक्रियान्त्यकर्म, तयोः समाहारः तस्मात्
यावज्जीवनं महाक्रतुसम्पादनान्तं वा प्रतिदिनमेव सायं प्रातश्च 'एवम्' अनेन
प्रकारेणैव तत्र 'गृह्ये अग्नौ' 'जुहुयात् वा' स्वयम्, 'हावयेद्वा' अपरेण प्रतिनि-
धिना ॥ १३ ॥

भा०—जिस दिन अग्नि ग्रहण पूर्वक प्रथम होम करे, उस दिन से याव-
ज्जीवन या अश्वमेधादि महायाग में 'अवभृथ' (अन्तिम स्नान) स्नान करने
पर्यन्त प्रतिदिन सायं और प्रातः दोनों ही समय उपदिष्ट प्रकार से स्वयं
होम करे या प्रतिनिधि (अपने बदले में दूसरे किसी के) द्वारा इस होम
को करावे ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

'अथा' अत्र विषये 'उदाहरन्ति अपि' अपरेण हावने विशेष विधिमुच्य-
नेके वदन्ति ॥ १४ ॥

भा०—इस प्रतिनिधि के विषय में कतिपय लोग यह (विशेष) कहते हैं ॥ १४ ॥

कामं गृह्योऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी
गृह्यएपोऽग्निर्भवतीति ॥ १५ ॥

'एवः अग्निः' 'गृह्यः' गृहाय हितएव 'भवति',—'पत्नी' च 'गृहाः' गृहा,
'इति' अतोद्देशतोः 'गृह्ये अग्नौ' अत्र 'पत्नी', 'कामं' यथा स्वात्तया, इच्छेत्
'सायंप्रातर्होमौ' यथोक्तीं द्वावेव, 'जुहुयात्' ॥ १५ ॥

भा०—पत्नी को गृहा (गृह कार्य की उपयोगिनी) कहते हैं एवं इस
अग्नि को भी गृह्याग्नि कहते हैं अर्थात् घर के काम के उपयोगी अतएव पत्नी
इच्छा करने पर सायं और प्रातः दोनों ही होम करे ॥ १५ ॥

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत् ॥ १६ ॥

अनन्तरम्, 'सायमाशप्रातराशे' सायं सायम्भोजने प्रातः प्रातर्भोजने च
'निष्ठिते' अनुष्ठिते, ततः 'भूतम्' इदानीं कर्तव्यज्ञातं सम्पन्नम् 'इति' मनसि

विचार्य अन्तेवासिनो विज्ञाप्य वा 'प्रवाचयेत्' स्वाध्याय सध्यापयेत्; स्वान्ते वासिन इति शेषः । एष एव ब्रह्मयज्ञः ॥ १६ ॥

भा०—अनन्तर सायंकाल में सायंकाल का भोजन और प्रातःकाल में प्रातःकाल का भोजन प्रस्तुत होने पर छात्रों (विद्यार्थियों) को अध्ययन करावे । (इसी को ' ब्रह्मयज्ञ ' कहते हैं) ॥ १६ ॥

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा—॥१७॥

प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मै नमस्तन्माक्षा इत्युपांशुशु ॥ १८ ॥

ब्रह्मयज्ञकाले 'भगया वाचा ऋते' वेदवाक्यं विना अपरं किमपि लौकिकं प्रवृथ्य 'अशुचिः भूत्वा, तदशुचित्वं दूरीकर्तुम् 'उच्चैः ओम् इति' किञ्च 'उपांशु' नीचैः ' तस्मै नमस्तन्माक्षाः ' 'इति' मन्त्रद्वयं 'प्रतिजपति' प्रतिवार यावद्द्वारं लौकिकं धदेत् तावद्द्वारमेव जपेदिति ॥ १७-१८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१, ३॥

भा०—(ब्रह्मयज्ञ काल में) जिस वाक्य से कल्याण हो ऐसे वाक्य को छोड़, अन्य वाक्य का व्यवहार करने ही से अशुचि होगी ॥ १७ ॥

अपवित्र—वाक्य के व्यवहार से अशुचि होने पर प्रकट में " ओम् " कह कर, मन ही मन " उन को नमस्कार ये इस प्रकार कहने से फिर प्रवृत्त नहीं करते " इस मन्त्र का जप करे ॥ १८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के तृतीय

खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, ३ ॥



अथ वाग्यतो वलीन् हरेत् । १

'अथ' प्रकरणारम्भद्योतकः । 'वाग्यतः' नियतवाक् हास्यकौतुकादिनिमित्तकमनृतभाषणाद्यनियतवाचं परित्यज्य 'वलीन्' वल्यर्थपाकादीनि प्रथमक-संख्यानि 'हरेत्' आहरेत् सम्पादयेदित्यर्थः ॥१॥ उक्तनिषयवाक्यमेव विगदयति—

भा०—इसी ओलगी (हास्य कौतुकादि) के निमित्त भी झूठ धोलना आदि अनियत वाक्य को छोड़ कर अर्थात् काम में मन लगा कर "वलिकर्म" करना चाहिये विषार पूर्वक पाकादि सम्पादन करना उचित है ॥ १ ॥

भापेतान्नसंश्लिष्टमितिभिः कामं सम्भापेत । २

'अन्नमगिद्धि' अन्नमग्न्यन्धिर्ना संमिद्धिं विष्कृत्यादियिपली ' कषां '

प्रश्नोत्तरादिकां 'भाषेत' न तत्र निषेधः । किञ्च 'अतिथिभिः' समागतैः सह 'कामं' यथेच्छं विनयादिकं 'सम्भाषेत' तत्रापि न निषेधः ॥ २ ॥ वैश्यदेवविधिपठ्यते-

भा०—हां, अन्नपाक सम्बन्धी बातचीत (कथोपकथन) करने का निषेध नहीं और आये हुये अतिथियों के साथ भी नम्रता से बात करने में कोई बाधा नहीं ॥ २ ॥

अथ हविष्यस्थान्नस्पोष्टृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्यामी जुहु-
यात्तूष्णीं पाणिनैव ॥ ३ ॥

'अथ' पाकनिष्पत्त्यनन्तरं, 'हविष्यस्य अन्नस्य' तस्यैव पक्कस्य हविष्यस्य पाकस्य किञ्चिद् 'उद्धृत्य' गृह्यत्वा, 'हविष्यै व्यञ्जनं' सूपादिभिः 'उपसिच्य' गृहीतं तत् सम्मिश्रय, 'अमी' पूर्वोक्तलक्षणे गृह्ये, 'तूष्णीम्' अस्फुटवाक् सन् 'पाणिनैव' जुहुयात्, न तत्र स्तुवादेरपेक्षा ॥३॥ तत्र मन्त्रदेवते विधीयते-

भा०—पाक प्रस्तुत होने पर उस हविष्यान्न में वे कुछ लेकर हविष्य व्यञ्जन के साथ उसी अग्नि में बिना मन्त्र पढ़े एक आहुति देवे । इस आहुति में 'स्तुवादि' की अपेक्षा नहीं, हाथ ही से उस का काम चल जावेगा ॥ ३ ॥

प्रजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

'प्रजापत्या' प्रजापतिदेवताका, तथाच मनसा प्रजापतिं प्रजानामीशानं पृष्टिस्वितिलयकर्तारं परमदेवं विचिन्त्य 'प्रजापतये स्वाहा'—इत्यस्फुटमेवोक्त्वा पूर्वाहुतिः प्रथमा आहुतिः भवति सम्पद्यते । 'सौविष्टकृती' स्विष्टकृद्देवताका, स्विष्टं शोभनाभिलाषं करोति पूरयति यः तमेव सर्वान्तर्गामिणं परमेशं मनसा विचिन्त्य 'स्विष्टकृते स्वाहा' इत्यस्फुटएवोक्ते 'उत्तरा' आहुतिः भवति । इत्यनुपदिष्टो देवयज्ञापरनामको नित्यहोमाभिषो वैश्वदेवः ॥ ४ ॥

भा०—प्रजापति देवता अर्थात् जो इस विश्व (सम्पूर्ण) राज्य का प्रकृत (असल) राजा होकर प्रजारूप विश्व संसार को पालन कर रहे हैं उन्होंने परमेश्वर का मन ही मन चिन्तन कर प्रथम आहुति और स्विष्टकृत देवता अर्थात् जो एक मात्र सम्पूर्ण संसार का अन्तर्यामी और सुमनोरथ पूरण करने वाला है उन को मन ही मन चिन्तन करके द्वितीयाहुति देवे इसी को " देवपञ्च " " नित्यहोम " और " वैश्वदेव " कहते हैं ॥ ४ ॥

अथ बलीन् हरेत्, वाह्यतोवान्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ॥ ५ ॥

‘अथ’ देवयज्ञापरपर्यायवैश्वदेवहोमानन्तरम्—

‘वाञ्छतः वा अन्तर्वा’ अग्न्यागारस्येति शेषः, ‘सुभूजि’ नार्जनादिभिर्भूमि
शोधनं ‘वृत्वा’ ‘वलीन्’ भूतयज्ञात्मकान् पशुपक्षिपिपीलिकादीनामाहारदा
रूपान् ‘हरेत्’ सम्पादयेत् ॥ ५ ॥

भा०—देवयज्ञ आगस्त उक्त होम के पीछे अग्नि-गृह के बीच में ह
वा बाहर । अर्थात् यथायोग्य पाहे जिस किसी स्थान में हो, भाड़ू आदि
से भूजि की भली भाँति साफ कर उस २ स्थान में पशु, पक्षी, पिपीलिका
आदि की आहार देकर “ वलिनीय ” पूरा करे ॥ ५ ॥

सकृदपो निनीय चतुर्था वलिं निदध्यात्, सकृदन्ततः परि-
पिञ्चेत् ॥ ६ ॥

‘सकृत्’ एकवारम् ‘अपः’ उदकानि ‘निनीय’ भूमौ सिञ्चनं प्रकृत्य ‘वलिं’
पार्थिवभूताद्बुधेश्वरं दानं ‘चतुर्था’ चतुःप्रकारं यथा स्वात् तथा ‘निदध्यात्’
तत्र मार्जितजलपिच्छे च स्थाने संरहेत्; ‘अन्ततः’ वलिनिधानान्ते पुनरपि
पूर्ववत् ‘सकृत्’ एकवारम् अपः ‘परिपिञ्चेत्’ ॥ ६ ॥

भा०—मार्जित (साफ किया हुआ) मृगि में पहिले एक बार जल छीट
कर ४ भाग वलि अलग २ रखे और फिर उस पर जल छिड़के ॥ ६ ॥

एकैकं वानुविधानमुभयतः परिपिञ्चेत् ॥ ७ ॥

‘वा’ अथवा ‘अनुविधानम्’ एकस्य पश्चादपरमिति क्रमेण चतुर्णामेव
वलीनां स्थापनं कार्यमिति शेषः, किञ्च ‘एकैकम्’ एव ‘उभयतः’ स्थापनात्
पूर्वस्तिन् पश्चादपि ‘परिपिञ्चेत्’ ॥ ७ ॥

भा०—या एक २ भाग करके ही वलि स्थापन करे और प्रत्येक भाग,
के रखने के पहिले एकवार गोर पीछे एकवार जल छिड़के ॥ ७ ॥

स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो वलिर्भवत्यथ यद् द्वितीयं
स वायव्यो यत् तृतीयं स वैश्वदेवो यच्चतुर्थं स प्राजापत्यः

‘स’ वलिप्रदाने प्रवृत्तः पुरुषः ‘यत् प्रथमं निदधाति’, ‘सः’ प्रथमो ‘वलिः’
‘पार्थिवः’ पृथिवीदेवताको भवति । ‘अथ’ अनन्तरं ‘यत् द्वितीयं’ निदधाति,
‘स’ वलिः ‘वायव्यः’ वायुदेवताको भवति । ‘यत् तृतीयं’ निदधाति, ‘सः’ वलिः
‘वैश्वदेवः’ दिव्यदेवदेवताको भवति । ‘यत् चतुर्थं’ निदधाति, ‘सः’ वलिः
‘प्राजापत्यः’ प्राजापतिदेवताको भवति ॥ ८ ॥

[प्र० १ खं० ४ सू० ६-११]

भा०:—बलि ऋ उत्त० ४ भागों में से प्रथम बलि पृथिवी देवी का, द्वितीय वायु देवता का, तृतीय विश्वेदेवा देवता का, चतुर्थ प्रजापति देवता का है ॥८॥

अथापरोन् बलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्याब्दैवतः
प्रथमो बलिर्भवत्योपधिवनस्पतिभ्यो द्वितीय आकाशाय तृतीयः ९

‘अथ’ तद्बलिचतुष्टयविधानानन्तरम् ‘अस्य’ बलिनिधातुः ‘उदधानस्य’ अस्मिन् गृहे परिचरणीया आपो रक्षिताः तस्य ‘द्वारस्य’ मध्यम् मध्यतः अपरान् त्रीन् ‘बलीन्’ ‘हरेत्’ सम्पादयेत् । तत्र, ‘प्रथमः बलिः’ ‘अब्दैवतः’ भवति, ‘द्वितीयः’ ‘ओपधिवनस्पतिभ्यः’ ओपधिवनस्पतिदेवताकाः भवति; तृतीयः ‘आकाशस्य भवति; तोपायेति नवंत्र शेषणीयः ॥८॥

भा०:—इन चार बलि के स्थापन के पीछे यह बलि स्थापयिता (रखने वाला) के निज गृह के अर्थात् जिस गृह में “ परिचरणीय ” जल रक्षित रहता हो, उसी घर के द्वार से मध्य देश में अन्य तीन बलि रखे। उन में से प्रथम बलि जन देवता का, द्वितीय ओपधि-वनस्पति का, और तृतीय आकाश का होता है ॥ ८ ॥

अथापरं बलिं हरेच्छयनं वाधिवर्जं वा स कामाय वा
बलिर्भवति मन्यवे वा ॥ १० ॥

‘अथ’ उक्त बलिप्रत्यहरणानन्तरम् ‘अपरम्’ अपि एकं ‘बलिम्’ ‘हरेत्’ सम्पादयेत् । तस्य स्थानं निर्दिशति—‘शयनं वा अधिवर्जं वा’ शयनागृहस्य मध्ये शयनस्थानं वा तद्गृहमध्ये एव अधिवर्जं मूत्रत्यागादिस्थानं वा अभिलक्षयेति । देवतां विधत्ते—‘सः’ शयनस्थाने वा स्थापितो बलिः ‘कामाय’ भवति, अधिवर्जस्थाने वा स्थापितो बलिः ‘मन्यवे’ भवति ॥ १० ॥

भा०:—इन तीन बलियों के रक्षाने के बाद शयन गृह में चाहे सोने की जगह हो, या गल मूत्रत्याग आदि स्थान ही हो, एक और बलि रखे। उन में से शयन-स्थान वाला बलि ‘काम देवता’ का और अधिवर्ज स्थान (मूत्र त्यागादि स्थान-जो सोने के घर में होता है) का बलि ‘मन्यु देवता’ का होता है ॥ १० ॥

अथ सस्तूपं स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

‘अथ’ अनन्तरं ‘सस्तूप’ गृहायर्जनादिमक्षोपस्थान समिलक्ष्य तापि बलि मेक प्रक्षिपेत् । ‘सः’ बलिः ‘रक्षोजनेभ्यः’ भवति ॥ ११ ॥

भा०:—उस के पश्चात्—कूड़ा आदि फेंकने के स्थान में एक बलि देवे, यह बलि राक्षसी का होगा ॥ ११ ॥

अथैतद्बलिशेषमद्विरभ्यासिच्यापसलवि दक्षिणानिनयेत्
पितृभ्यो भवति ॥१२॥

‘अथ’ तदनन्तरम्, ‘एतद्बलिशेषम्’ अद्भिः अभ्यासिच्य जलसेकेन धीत-
प्रायं प्रकृत्य ‘अपसलवि’ अपसल्येन पितृतीर्थेन ‘दक्षिणा’ दक्षिणस्यां दिशि
‘नियेत्’ विकिरेत्। स एव विकीर्णो बलिः ‘पितृभ्यः’ पितृदेवताकः ‘भवति’ ॥१२॥

भा०:—उसके बाद पात्रस्थ बचे हुए अन्न को जल में धोकर हाथ की
चैत्र अंगुली से दक्षिण की ओर फेंके, वह बलि पितृगण का होगा ॥ १२ ॥

[इस से गोमिलाचार्य के मत से १० भूतबलि निर्णित हुए । उन में
से ४ अग्निगृह में, ३ जलगृह के द्वार पर, एक शय्या-स्थान में हो या सूत्र-
त्पाग स्थान में हो, शयन-के कक्ष (चगल) में एक, और कूड़ा रखने की
जगह एवं शेष को भूकान के दक्षिण भाग में । किन्तु साधारणतः उत्तरोत्तर
जल की तीन रेखा करके उस के ऊपर क्रमोद्भवे भाग से ४ करके १२ बारह
एवं सब के उत्तर एक और सब के दक्षिण एक इस प्रकार १४ बलि * का
व्यवहार इन दिनों देखा जाता है]

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥ १३ ॥

आसीनः पितृभ्यो दद्यात् यथोपपादमितरान् ॥१४॥

‘आसीनः’ उपविष्टः ‘एव’ ‘अग्नी जुहुयात्’ पूर्वोक्तप्रकार नय हवि-
ष्यस्यान्नस्योद्भृत्येत्यादिकं वैश्वदेवहोमं कर्त्तव्यम् । ‘पितृभ्यः’ अपि अथैत-
द्बलिशेषमित्युक्तं बलिशेषम् ‘आसीनः’ एव ‘दद्यात्’ । ‘इतरान्’ अथा-
परानित्याद्युक्तान् उदधानादिवलीन् ‘यथोपपाद’ यथा यथा उपपद्यते
तथातथैव तिष्ठन् प्रहृष्यन् वा दद्यात् ॥ १३, १४ ॥

- * (१)—जैती — ०—ब्रह्मणेन म १२ ०—वागाय नम ८ ०—प्रजापतये नम ४
०—वासुदेवे नम ११ ०—आकाशाय नम ७ ०—विश्वेभ्यो नम ३
१३ रघोजनेभ्य ० ०—पितृभ्यो नम १४
०—इन्द्राय नम १० ०—ओषधिवनस्पतिभ्यो नम ६ ०—वायवे नम २
०—मन्यवे नम ६ ०—अद्भ्यो नम ५ ०—पृथिव्यै नम १

इस प्रकार १४ बलि की पाल का प्रणाली यद्यपि भग्न नही, परन्तु जिस कारण गोमिलाचार्य ने नहीं
मारा है, इस विषे की पुत्री स्वयं बाले दिवगो को ये १४ बलि कर्त्तव्य है ऐसा नहीं सोच होना है ॥ १२ ॥

भा०—पूर्वोक्त वैश्वदेव होम बैठकर ही करे ; पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी (सू० १२) बैठ कर ही प्रदान करे । अन्य अर्थात् पूर्वोक्त जल गृहादि में देने योग्य बलि आदिक जिस २ प्रकार सम्पन्न हो सके उस २ प्रकार करे अर्थात् खड़े होकर, बैठ कर, निहुर कर, (जहां जैसा सुभीता हो वहां वैसा) करे ॥ १३, १४ ॥

स्वयन्त्वेवैतान् यावद्वैसेद् वलीन् हरेत् ॥ १५ ॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥

दम्पती एव ॥ १७ ॥

‘ एतान् ’ ‘ वलीन् ’ ‘ यावद् ’ ‘ वसेत् ’ स्वग्रहे, तावत् ‘ स्वयमेव ’ ‘ हरेत् ’ । ‘ अपिवा ’ पीडादी ‘ अन्यः ब्राह्मणः ’ प्रतिनिधिरपि अत्र अधिकारी । अत्र कार्ये ‘ दम्पती ’ भार्या पतिश्च उभौ ‘ एव ’ तुल्याधिकारिणौ ॥ १५, १७ ॥

भा०—ये बलि जिस समय नकान पर रहे उस समय स्वयं ही सम्पन्न करे अथवा (पीडा आदि होने के कारण स्वयं असमर्थ होने पर) अन्य ब्राह्मण द्वारा भी कराने से हो सकत है । इस कार्य में लिये स्त्री पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं । इससे पत्नी भी बलिहरण कर सकती है ॥ १५, १६, १७ ॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

‘ इति ’ एतत्सख्योक्तं वैश्वदेवादिकं ‘ गृहमेधिव्रतम् ’ गृहमेधिनः गृहस्थस्य व्रतम् अवश्यं प्रतिपात्य नियमितकार्यम् ॥ १८ ॥

भा०—यह (इस खण्ड के आरम्भ से अब तक जो कुछ कहा गया है) गृहस्थों के लिये अवश्य कर्तव्य है ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

‘ सायं स्त्री ’ ‘ प्रातः पुमान् ’ कुर्यादिदं बलिहरणम् ‘ इति ’ एवं नियमः कस्यचिदाचार्यस्य अभिमतः । अत्राप्यस्य गोभिलस्य नासम्मतः ॥ १९ ॥

भा०—‘ प्रातः काल में गृहस्थानी ही और सायंकाल में उस की पत्नी ही बलिहरण करे ’ यह भी किसी २ आचार्य का मत है ॥ १९ ॥

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् वलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा

स्वस्त्ययनस्य वाऽर्यार्यस्य वा ॥ २० ॥

‘ पितृवस्य वा ’ पितृकर्मार्थं शृतस्य, ‘ स्वस्त्ययनस्य वा ’ स्वस्त्ययनार्थं कल्याणार्थं ब्राह्मणभोजनाय शृतस्य वा, ‘ अर्घ्यार्थस्य वा ’ अर्घ्यः प्रयोजनं किं-
नपि प्रयोजनं स्वभोजनादिकमुद्दिश्य पक्षस्य वा ‘ सर्वस्य एव ’ सर्वप्रकारस्यै-
वाग्नस्य ‘ एतान् बलीन् हरेत् ’ बलिहरणे इदमेवाजं ग्राह्यमिति न नियमः ॥२०॥

भा०:—पितृ कार्य के लिये हो, या ब्राह्मण भोजनादि कल्याण कार्य के लिये हो या शपने ही पेट भरने के लिये हो, सब ही प्रकार के अन्न से बलि कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ॥ २० ॥

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

‘ यज्ञात् ’ ज्योतिष्टोमादिकं यज्ञमारभ्य (त्यज्जलोपे पञ्चमी) ‘ एव ’
‘ निवर्त्तते ’ इतः कर्त्तव्यः पुरुषइति यावत् । यज्ञे दीक्षितस्य नास्त्यत्रातिर्कष-
्यतेति भावः ॥ २१ ॥

भा०:—ज्योतिष्टोमादि जिस किसी यज्ञ या क्यों न हो, अनुष्ठान आरम्भ करने पर फिर यह बलिकार्य करना उचित नहीं ॥ २१ ॥

यद्येकस्मिन् काले ब्रीहियवौ प्रक्रियेतान्यतरस्य

कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् काले ’ ब्रीहियवौ ‘ उभयविधे अन्नेप्रक्रियेतान् प्रस्तु-
तीकृते स्यातां, तर्हि ’ ‘ अन्यतरस्य ’ ब्रीह्येयस्य वा बलिहरणं ‘ कृत्वा ’ ‘ कृतम् ’
सम्पन्नं विधिबिहितं बलिहरणमिति ‘ मन्येत ’ जानीयात् ॥ २२ ॥

भा०:—यदि एक ही समय ‘ तण्डुल ’ और “ यव ” दोनों ही प्रकार का अन्न प्रस्तुत हो, तो दोनों प्रकार के अन्न से बलि कार्य न करना चाहिये, चाहे दोनों अन्न में से किसी से हो एक ही से बलि कार्य हो सकता है ॥२२॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद्

बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् काले ’ ‘ पुनः पुनः ’ भृशम् ‘ अन्नं पच्येत, ’ तर्हि
प्रथमपक्वेनाग्नेन द्वितीयाद्यैर्वा ‘ सकृत् ’ एकवारमेव ‘ एतद् ’ ‘ बलितन्त्रं ’ ‘ कुर्वीत ’ ॥२३॥

भा०:—यदि एक ही समय दो, तीन, या इससे भी अधिक बार, अन्न पके तो प्रतिवार बलिकार्य नहीं करना किन्तु एक ही बार करे ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन् काले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसा-

देवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २४ ॥

‘यदि’ ‘एकस्मिन् कुले’ बहुभ्रात्राद्यधिकृते एकवैश्वान्यपि पृथगन्त्रत्वाद् बहुमहानसेषु सत्सु बहुधा अन्नं पच्येत, तर्हि ‘गृहपति-महानसात्’ तेषां मध्ये यस्य गुरुत्वादेर्होतः स्वामित्वं तस्यैवैकस्य महानसात् पाकस्थानात् ‘एव’ एतद् बलितन्त्रं, ‘कुर्वीत’ न तु प्रतिमहानसात् ॥ २४ ॥

भा०:—यदि एक ही मकान में एक वंश के अनेक व्यक्ति भिन्न २ पाक करके रहते हों, तो उन में से जो सब से श्रेष्ठ होने से घर के स्वामी या मालिक बने हों, वही पाकघाला से इस बलि दाघं को करे; प्रत्येक ‘महानस’ (रसोई घर) से बलि कार्य न करना चाहिये ॥ २४ ॥

यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येन्नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्नं ब्राह्मणाय

दत्त्वा भुञ्जीत ॥ २५ ॥

यस्यो जघन्यं भुञ्जीर्तयेति ॥ २६ ॥

‘एषाम्’ एकगृहस्थितानां पृथगन्नानां भ्रात्रादीनां मध्ये ‘यस्य तु’ ‘अग्रतः सिध्येत्’ अन्नमिति यावत्, सः किञ्चिदन्नम् ‘अग्नौ’ ‘नियुक्तं’ ‘कृत्वा’ अन्नन्तरम् ‘अत्र’ पक्वान्नस्याग्रभागं ‘ब्राह्मणाय’ अतिथये ‘दत्त्वा’ ततः स्वयं भुञ्जीत । ‘यस्य च’ यस्य तु निष्पन्नायवाक्यस्य ‘जघन्यम्’ अन्नधिकरं कर्तव्यमन्नं पाकादिदोषेण स्यात्, स तु ‘भुञ्जीत एव’ न तेनाग्नेनातिथिं सेवयेत् अपितु तदग्नन्तरकृतपाकएवार्तिथिं सत्कुप्येत् ॥ २५, २६ ॥

भा०:—यदि एक घर में अनेक पाक वाले (लोग) रहते हों तो उनमें से जिस का भोजन सब से पहिले प्रस्तुत हो वही थोड़ा अन्न अग्नि में डाल कर पके अन्न में से अतिथि सेवा के पश्चात्, आप भोजन करे; परन्तु यदि वह अन्न पाकादि दोष से अग्रात्त (गराग) हो जाये तो उस से अतिथि सेवा न करके उसे स्वयं भोजन करे; और फिर ने पाक करके अतिथि सेवा करे ॥ २५, २६ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ २७ ॥

‘अथापि’ अपरमपि किञ्चित् ‘उदाहरन्ति’ यदन्ति पुर्यांचार्याः, अत्रैवंति शेषः । तथाहि— ॥ २७ ॥

भा०:—पुर्यांचार्यगण इस “बलिहरण” के विषय में और भी कुछ विशेषता कहते हैं ॥ २७ ॥ जैसे:—

* हमने नरमेव अर्घान् अतिथि सेवा में जिस का जिस दिन पहिले पाक हो और अन्दा पाक हो उस दिन उमा का अतिथि सेवा करना आवश्यक है, अन्य लोगों का अन्दा रहा करे या न करे ऐसा मुद्दिन होता है २७, २८

एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रवीत भवति हैवास्य २८

‘एतस्यैव बलिहरणस्य’ ‘अन्ते’ अनन्तरं कामं स्वाभिलाषं ‘प्रब्रवीत’ प्रार्थनीयते । ‘अस्य’ प्रार्थकस्य ‘ह’ निश्चयं ‘भवति’ प्रार्थितसिद्धिरिति ॥२८॥

किं कुर्वन् कामं प्रब्रवीतेत्यत्रोत्तरमाशस्यबलिहरणं कुर्वन्निति, तदेव स्वगतं विशदयितुमासस्यबलिहरणं विधत्ते—

भा०—इस बलि के करने पश्चात् जैसी अपनी इच्छा हो “ वर ” मांगे (अर्थात् परमात्मा से मन ही मन) यह प्रार्थना निश्चय सिद्ध होगी ॥ २८ ॥
स्वयन्त्वेवाशस्यं बलिं हरेत् यवेभ्योऽध्याब्रीहिभ्यो ब्रीहिभ्यो
ऽध्यायवेभ्यः सत्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ॥२९॥

दीर्घायुर्हैव भवति ॥३०॥

‘आशस्यं बलिं हरेत्’ एतेनैव कामप्रार्थनं सम्पन्नं भवेन्नाम । तच्च बलिं ‘स्वयम्’ एव हरेत्, नात्र प्रतिनिधिः कार्यः । कीदृशश्च स आशस्यबलिर्इत्याह—
‘अध्याब्रीहिभ्यः’ ब्रीह्यङोत्पत्तिः पूर्वं ‘यवेभ्यः’ यवाधारोपरि, किञ्च ‘अध्यायवेभ्यः’ यवशस्योत्पत्तिः पूर्वं ‘ब्रीहिभ्यः’ ब्रीह्याधारोपरि बलिं हरेत् ‘स तु’ स एव ‘आशस्यो नाम बलिर्भवति’ । ‘ह’ निश्चयम् ‘एवं’ एतेन बलिप्रदानेन ‘दीर्घायुः भवति’ पुरुष इति । २९, ३० ॥

भा०—उक्त वर प्रार्थना करनी हो तो एक “ आशस्य ” नामक ‘बलि’ स्वयं (प्रतिनिधि द्वारा नहीं) प्रदान करे । जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य शस्य (खेत में लगा हुआ अनाज) प्रस्तुत न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व और तत्पश्चात् जब तक यव शस्य प्रस्तुत न हो तब तक धान्यकी उत्पत्ति के निकट एक बलि होना चाहिये । इसी को आशस्य बलि कहते हैं । इस बलिप्रदान से अवश्य ही दीर्घायु लाभ होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिं हरेत्

स रौद्रौ भवति स रौद्रौ भवति ॥३१॥ ४ ।

इदानीं तत्राशस्ये बली द्रव्यं विधत्ते—‘फलीकरणानां’ यितुपीकृतानां धान्यानां पयानां या ‘विश्राणिते’ पाकसिद्धे सति, ‘आचामस्य, मण्डस्य’ ‘अपां’ मण्डद्रवीभूतानामिति यावत्, अंशं गृहीत्या तेनैव ‘बलिम्’ आशस्यं ‘हरेत्’ । तत्रैव देयतां निर्दिशति,—‘सः’ बलिः ‘रौद्रः’ रुद्रदेयताको ‘भवति’ । एतेन ‘रुद्राय रमः’—इत्येव तत्र मन्त्रः इत्यपि सूचितम् । अभ्यासः खण्डमगाति सूचकः ३१ इति गोभिलशृङ्गसूत्रे प्रथमप्रपाठके ऋतुर्णखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१॥ ४॥

[प्र० १ खं० ४ सू० २८-३१ खं० ५ सू० १-४] दर्शपौर्णमासप्रकरणम् ॥ २९

भा०:—यह बलि, यव या भात के माण्ड से सम्पन्न करे और “ रुद्राय नमः ” इस मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थखण्ड का भायानुवाद पूरा हुआ ॥

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥१॥

इत्यधिकारसूत्रम् । प्रपाठकान्तनधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

भा०:—अब यहां से दर्श और पौर्णमासयाग के विषय में उपदेश आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेदुत्तरामित्येके ॥२, ३॥

‘सन्ध्यां पौर्णमासीं यस्मिन्नहनि प्रातःसन्ध्याकालतस्तत्पूर्वत एव वा पौर्णमासी आरब्धा, तमेवाहः ‘उपवसेत्’ । ‘एके’ आचार्याः ‘उत्तराम्’ अस्तमितोदयामुच्चैरुदयां वा पौर्णमासीमुपवसेत् ‘इति’ आहुः; तत्रापि न दोष इत्याशयः २-३

भा०:—दर्श पौर्णमासयाग करना ही तो, उस २ दिन के पूर्व उपवास रहना चाहिये । उसी विषय में कहा जाता है कि सन्ध्या पौर्णमासी * लक्ष्य करके उस दिन उपवास करे; उत्तरा पौर्णमासी में अर्थात् अस्तमितोदया * वा उच्चैरुदया * में ही उपवास करना योग्य है । यह कतिपय आचार्य लोग कहते हैं । अर्थात् गोभिलाचार्य के अपने मत से जिस दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो, पश्चात् अपरान्ह में या रात्रि में प्रतिपत् (परिधा) हो, या अरुणोदय पर्यन्त ही पूर्णिमा हो, उसी दिन उपवास कर्त्तव्य है । किसी २ के मत से उत्तरा पौर्णमासी उपवास के योग्य है । अर्थात् जिस दिन चतुर्दशी होकर पीछे सूर्यास्त समय या उसके पीछे पूर्णिमा हो उस दिन उपवास करे ॥२, ३॥

अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्याम् ॥४॥

उपवसेत्तेत्यनुवर्त्तते । एतेन गताध्वाग्मावास्या नोपास्येति कलिता ॥ ४ ॥

भा०:—जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो, सूर्योदय ही से सम्पूर्ण अमावास्या वा पीछे प्रतिपत् हो, उनी दिन अमावास्या का उपवास होगा । इस से जिस दिन चतुर्दशी के पीछे अमावास्या हो जिस की ‘गताध्वा’ कहते हैं, उस में उपवास सुतरां निषिद्ध हुआ । कत्र तो पूर्णिमा और अमावास्या के उपवास में है, और दोनों ही में उदयान्तिधि आस्य है, सुतरां पूर्वपक्ष याग की परिधा और अपर पक्षयाग के प्रतिपत्, सूर्योदय

में जिस दिन जो तिथि हो, वही ग्राह्य है ॥ ४ ॥

पक्षान्ताउपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ॥ ५ ॥

यावज्जीवं सर्वेषामेव मामानां 'पक्षान्ताः' अनावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्यः । किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वेषामेव पक्षानामादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः' तासु वक्ष्यमाणलक्षणो यागः कार्यः ॥५॥

भा०—जयतश्च पीठे, प्रतिमास के पक्षान्त में अर्थात् अनावास्या और पूर्णिमा में उपवास करना चाहिये एवं प्रतिमास के पक्षादि में अर्थात् शुक्ल और कृष्ण दोनों परिवा तिथि में याग करे ॥ ५ ॥

आमावास्यायेन हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमास्येनापरपक्षम्

अनावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदि यद्विहृत्यते तेनैव 'आमावास्यायेन' हविषा 'पूर्वपक्षम्' शुक्लपक्षं पक्षदशाहं समग्रमेव 'अभि' व्याप्य 'यजते' यागं कृतमिति स्वीकृतं रयात् । एवं 'पौर्णमास्ये' हविषापि 'अपरपक्ष' सर्वमिति ॥६॥

अत्र प्रसङ्गात्, उपवास्य-पौर्णमास्यानावास्यानिर्णयाय च पौर्णमास्यादि लक्षणं तत्तद्भेदनिर्णयद्वाह—

भा०—अनावास्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की परिवा को जो "याग" किया जावेगा, वही याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्तयाग किया हुआ मानना चाहिये, और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की परिवा में जो याग किया जायेगा, उसी में समस्त कृष्णपक्ष व्यापी याग सम्पन्न हुआ—संगतना चाहिये ॥ ६ ॥

यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः

सङ्कर्षः सामावास्या ॥७॥

'सूर्याचन्द्रमसोः' ग्रहयोः मिथः 'यः' यस्यां तिथौ "परमः" अतिशयितः 'विकर्षः' विप्रकर्षः दूरतोऽवस्थानम् (उभयोर्मिथः सप्तमराशिस्थित्वात्), 'सा' तिथिः 'पौर्णमासी' ; 'यः' यस्यां तु 'परमः' अतिशयितः 'सङ्कर्षः' सन्निकर्षः सान्निध्यम् (उभयोरेकराशिस्थित्वात्), 'सा' तिथिः 'अनावास्या' ॥७॥

भा०—सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों के जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थिति होने से अति दूर में अवस्थिति होती है, उसी तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं । एवं जिस तिथि में इन दोनों ग्रहों के परम सङ्कर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अनावास्या कहते हैं ॥७॥

यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्यादुर्वीत दृश्य-
मानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति ॥८, ९॥

‘यदहः’ यस्मिन् दिने ‘तु’ ‘चन्द्रमा न दृश्येत एव’, ‘ताम्’ तिथिम्
‘अमावास्यां’ ‘दुर्वीत’ स्वीकुर्येत । ‘एकदा’ एकस्मिन् काले अहोरात्रयोः दृश्य-
मानेऽपि चन्द्रमसि, सा ‘गताध्वा’ प्राप्तपक्षा अमावास्यायेति राठयनामा ‘भवति’
‘इति’ गतमिदं पौर्णमास्य वास्यालक्षणम् ॥ ८, ९ ॥ पौर्णमासी त्रिविधेत्याह—

भा०—जिस दिन रात्रि में चन्द्रदर्शन की सम्भावना नहीं, उस को अमा-
वास्या कहते हैं । एकवार केवल कुछ समय के लिये चन्द्रदर्शन की सम्भा-
वना हो स्थानमें भी अमावास्या स्वीकार कियी जाय उस को ‘गताध्वा’
कहते हैं । अर्थात् आरब्धगति अमावास्या कहने से इस से जिस सूर्योदय
काल में या उस के पीछे सन्ध्या के पीछे तक भी चतुर्दशी हो किन्तु रात्रि
में अमावास्या हो उसी को “ गताध्वा ” कहते हैं, एवं निम्न दिन सूर्योदय
से अमावास्या, सम्पूर्ण रात्रि भी अमावास्या वा कुछ रात्रि बीते पर भी
प्रतिपदा आरम्भ हो; उस को भी अमावास्या ही कहते हैं । इस प्रकार दो
प्रकार की अमावास्या निश्चित हुई ॥ ८, ९ ॥

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वास्तमितोदिता

वोञ्चैर्वाऽथ यदहः पूर्णोभवति ॥१०, ११॥

‘अथ’ ‘यदहः’ यस्मिन् दिने ‘पूर्ण’ भवति ‘चन्द्रमा, सैव पौर्णमासीति
शेषः । ‘पौर्णमासीकालाः’ ‘त्रयः भवन्ति ।’ तथाहि—सन्ध्येत्यादि । सूर्योदयात्
तत्पूर्वतो या पूर्णिमा यत्र सा सन्ध्या-पौर्णमासी, सूर्यास्तमितेन साकमेव
पूर्णादयो दृश्येत चेत् सा अस्तमितोदिता-पौर्णमासी, सूर्यास्तात् उच्चैः कर्तव्यं
रात्री पूर्णयेत् चन्द्रः, सैव उच्चैः-पौर्णमासीत्युक्तास्त्रयः कालाः ॥ १०, ११ ॥

भा०—जिस दिन रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की सम्भावना हो, उसी दिन
पूर्णिमा होती है । यह पूर्णिमा तीन प्रकार- की है । प्रथम, सन्ध्या पूर्णिमा,
अर्थात् प्रातःसन्ध्या के पहिले आरम्भ, रात्रि में पूर्णिमा वा प्रतिपदा होती
है । द्वितीय, अस्तमितोदया पूर्णिमा; यह सूर्यास्तकारा से आरब्ध सुतरां दिन
में चतुर्दशी एवं रात्रि में और उस के पीछे दिन यहूतण-पूर्णिमा होती है ।
तृतीय, उच्चैः पूर्णिमा, अर्थात् सूर्यास्त के पीछे चतुर्दशी छोड़ कर पूर्णिमा जो
पर दिन बहुत रात्रि तक रहेगी ॥ १०, ११ ॥

पृथगेवेतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीयीत वा तद्विद्वयो वा
पर्वावगमयेत ॥१२॥

‘एतस्य ज्ञानस्य’ ग्रहनक्षत्रकालादिवोधस्य ‘पृथगेव’ ‘अध्यायः’ पाठयोग्यः
‘भवति’ ज्योतिःशास्त्रमिति । ‘अधीयीत वा’ तं ग्रन्थं समग्रं ‘तद्विद्वयोः’ ज्योति-
र्वैसृभ्यः सम्पूर्णशास्त्राध्ययनेऽप्रवृत्तयेत् ‘पर्व’ पक्षान्तकालः तन्मात्रमेव ‘अवग-
मयेत्’ अवगतं स्यात् । अतोऽप्रकृतवर्णनादिस्तारोऽत्रास्माभिर्न क्रियत इति भावः ॥१२॥

भा०—ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति गत्यादि विषय विशेष जानने से, ये सब
बातें भली भाँति जानी जासकती हैं । यदि यह जानना हो तो इस के लिये
भिन्न ज्योतिषशास्त्र है उसी को ज्योतिर्विद् परिष्ठित के निकट पढ़ें या सामा-
न्यतः इस को कुछ २ जान लेने से भी होसकता है ॥१२॥

अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातरा-
हुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तम्पर्युपलिम्पत्य-
थेधमानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा खादिरपा-
लाशालाभे विभीतकतिल्वकवाधकनीवनिम्बराजवृक्षशा-
ल्मत्यरलुदधित्यकोविदारश्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीना-
मिध्मोयथार्थं स्याद्विशाखागि प्रति लूनाः कुशावर्हिरुप-
मूललूनाः पितृभ्यस्तेपामलाभेशूकतृणशरशीर्यवल्बजमुतव-
नलशुण्ठवर्जं सर्वतृणान्याज्यं स्थालीपाकीयान् ब्रीहीन्
वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणं क्षुवमनुगुप्ता अप इति
यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामो न तदहः प्रसृज्येत दूरादपि
गृहानभ्येयादन्यतरतुधनं क्रीणीयान्न विक्रीणीतावहुवादी
स्यात् सत्यं विवदिपेदथापराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती
भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यं स्यात् सर्पिर्मिश्रं स्यात् कु-
शलेन ॥१३-२६॥ ५

‘अथ’ कालनिर्णयानन्तरमुपवासदिनकर्त्तव्यतां वदामइति । ‘यदहः’
यस्मिन् दिने ‘उपवसथः’ उपवासः कर्त्तव्यः ‘भवति’, ‘तदहः’ तस्मिन् दिने,
अर्थात् पृथपक्षयागाय अमावास्यायामपरपक्षयागाय सन्ध्यानामपीरुमास्या

च 'पूर्वाह्णे एव', प्रातराहुतिं हुत्वा' अग्निहोत्रीयप्रातर्होमं समाप्य इमानि कर्त्तव्यानि । तानि च यथा—'एतद्गन्धेः' प्रातराहुत्यादिसाधनाग्नेः 'स्थण्डिलं' 'गोमयेन' 'सन्तं पर्युपलिम्पति' समन्तात् सर्वत उपलिम्पेत् इत्येकम् । 'अथ' तदनन्तरम् । 'सादिरान् वा पालाशान् वा' 'इध्मान्' इन्धनकाष्ठान् 'उपकल्पयेत्' उपकल्पयेत् उपस्थितान् कुर्यात्तिति द्वितीयम् । तत्र 'सादिरपालाशालाभे' एतत्सूत्रपरिगणितविभीतकादिकतिपयवृक्षेध्मवर्जं 'सर्ववनस्पतीनाम्' एव 'इध्मः' 'ययार्थ' अर्थः प्रयोजनं सिद्धं यथा स्यात् तथा कृत्वा ग्रहणीयः 'स्यात्' । 'विशाखानि' येभ्यः स्थानेभ्यः शाखा विशिष्टा भवन्ति, तानि सन्धिस्थानानि 'प्रति' लक्ष्यीकृत्य 'लूनाः' 'क्षिन्नाः' 'कुशाः' कुशवृक्षानि 'वर्हिम्' वर्हिर्वै बर्हिर्वा-स्तरणादिदेवकार्यार्थं उपकल्पयेतेति तृतीयम् । 'उपलूनमूलाः' मूलसमीपत-त्रिक्लाः कुशाः कुशवृक्षानि 'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थमुपकल्पयेतेति चतुर्थम् । तत्र 'तेषां' कुशानाम् 'अलाभे' शूकादिकवर्जम् 'सर्ववृक्षानि' एव ग्राह्याणि । 'आज्यं' घृतं सम्पाद्यमिति पञ्चमम् । 'स्थालीपाकीयान्' स्थालीपाके पक्तव्यात् 'ग्रीहीन् वा यवान् वा' सम्पादयेदिति षष्ठम् । 'बहस्थालीं' पाकपात्रं सम्पादनीय गिति सप्तमम् । 'मिश्रणं' दधीविशेषमासाद्यमित्यष्टमम् । 'स्रुवम्' आहुति-साधनमासाद्यमिति नवमम् । 'अनगुप्ता अपः' पूर्वोक्त लक्षणाः आसादनीया इति दशमम् । अन्यानि 'यानि च' 'अनुकल्पम्' पश्चादिहैव दर्शपौर्णमासयागकर्त्तव्यानि 'उदाहरिष्यामः' वक्ष्यामः, तान्यपि सर्वाणि सम्पाद्य स्थण्डिले उपस्थाप्यानि । अथ तद्विनप्रतिपादनियमानाह—'तद्गन्धेः' तस्मिन्नहनि 'न प्रसृज्येत' गृहत्यागं न कुर्यात्तिति प्रथमनियमः । यदि पूर्वं दूरगत स्तिष्ठेत् तर्हि तद्विने तस्मात् 'दूरादपि' 'गृहान्' स्वकीयान् 'अभ्येयात्' आगच्छेदिति द्वितीयनियमः । 'अन्यतस्तु' यणिजादेः सकाशात् 'धनं' क्रम्यद्रव्यं 'क्रीणीयात्' 'न विक्रीणीयात्' इति तृतीयनियमः । 'अथहुयादौ' मितभाषी 'स्यात्' इति चतुर्थनियमः । 'सत्यं' 'विवदिषेत्' यक्षुमिच्छेत् "सत्यसंहिता वै देशा अनृतसंहिता मनुष्याः" (ऐ०ब्रा० ३. १. ३.)—इति श्रुतिपरिचयान्निश्चयमेव सर्वतः सत्यपालने न विद्यते शक्ति-मनुष्याणामिति यावच्छक्यं सत्यमेव यदेदिति पञ्चमनियमः । 'अथ' इध्मा-दिसम्पादनानन्तरम् 'अपराह्णे एव' 'दम्पती' यजमानस्तस्य पत्नी च उभा-वेव रत्नानां प्रकृत्य 'शीषयसधिकं' उपवासदिननियमसेव्य मन्त्रादिकं तथा च 'लयगं' मधु मांसं च क्षारांगी येन भूयते । उपवासे न भुङ्गीत, नोहरात्री च फिष्टन—इति गृह्यान्तरयज्ञानुगतमिति यावत् (उररात्री समधिकारात्री;

अधिकरात्रिभोजनेन पीडासम्भवस्तथा च सत्यां परदिननार्थव्याघातः स्यादित्य-
भिप्रायः) । 'एतयोः' दम्पत्योः 'यत' किञ्चन 'काम्यम्' ईप्सितं 'स्यात्' तदेव
' सर्पिमिश्रं ' घृतमहितां ' कुशलेन ' सन्वृत्तगनना ' भुञ्जीयाताम् ' ॥ १३-२६ ॥
इति गोभिलयुह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १।५॥

भा०—३ सके अनन्तर उपवास दिन के कर्त्तव्य आदि उपदेश करते हैं ।

जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन जय कि सूर्योदय में पूर्णिमा हो
और जिस दिन सूर्योदय में अमावास्या हो उस दिन पूर्वाहुति में अग्निहोत्र
की प्रातराहुति समाप्त कर ये सब कार्य करे अर्थात् प्रथम गोबर से अग्निगृह
शुद्धी प्रकार लीपे । दूसरे, खैर, या पलाश के इन्धन इकट्ठा करे । यदि खैर
या पलाश के संग्रह करने में कठिनता हो तो बहेड़ा (यिभीतक) लोध,
वाधक (?) कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, शालमली, अरलु, दधित्य, इन ग्यारह
को छोड़ कर अपर जो कोई काष्ठ हो यक्षीय इन्धन हो सकता है । तृतीय,
देव कार्य के लिये स्कन्ध से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे । चतुर्थ, पितृ कार्य
के लिये मूल से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे । यदि कुशा संग्रह करने में
कोई कठिनता हो तो, शुरुतृण, शर, शीर्य, बल्लव, मुसव, (?) इन सात
प्रकार के तृणों को छोड़ कर अपर जो कोई तृण हो यथावत् व्यवहृत हो सकता
है । ५ म घृत, ६ ठे. स्थाली पाक में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या
यव, सप्तम, चरुस्थाली (पाकपात्र), ८ ग, नैऋत्य, ९ म, स्त्रुव; १० न, रक्षित
जल इन उक्त १० को एवं आगे जो दो कहे जायेंगे इन सब को सम्पादन कर
अग्निगृह में उपस्थित करे । उस दिन वक्ष्यमाण कतिपय नियम भी प्रतिपालन
करना चाहिये । प्रथम, गृहत्याग नहीं करना, दूसरे, दूरस्थ होने पर भी
ऐसे अवसर में अपने घर की लौट आवे; तीसरे, अन्य व्यक्ति से वस्तु नील
तो ले, पर अपनी वस्तु देवे नहीं; चतुर्थे, मित्रभायो अथवा प्रयोजन से अधिक
नहीं बोलना; पाचवें, सम्पूर्ण रूप से सत्य ही बोलने की इच्छा रखनी ।
अनन्तर स्त्री, पुरुष, दोनों ही अपराह्न में स्नान कर उपवास दिन के निय-
मानुसार * जो इच्छा हो वही ची मिलाकर तृप्ति के साथ भोजन करे ॥ १३-२६ ॥
गो० गृ० सू० के प्रथमाध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ५ ॥

मानतन्त्रव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुति-

* अर्थात् उपवास दिन लवण, मधु, मीन, अगर जिस २ वस्तु से शरीर में चारहा उत्पन्न हो, उस २ को
नहीं खाना । इसे छोड़ सब ही वस्तु खा सकते हैं परन्तु अधिक (अग्नि में) नहीं खाना अर्थात् जिस से पचने में
अनर्थ होकर दूसरे मार्ग वरते में व्यर्थ हो ॥

भवति य औपवसधिकं नाश्रात्यनीश्वरो ह क्षोधुको भवत्य-
 काम्यो जनानाम्पापवसीयसी हास्य प्रजा भवति य औप-
 वसधिकं भुङ्क्त ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां
 वसीयसी हास्य प्रजा भवति तस्माद्यत् कामयेतौपवसधिकं
 भुञ्जीयातामध एवैतां रात्रिं शयीयातान्तौ खलु जाग्र-
 न्मिश्रावेवैतां रात्रिं विहरेयातामितिहासमिश्रेण वा केन-
 चिद्वा जुगुप्सेयातान्त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्मभ्यो न प्रवसन्नुपव-
 सेदित्याहुः पक्ष्या व्रतं भवतीति ॥१-६॥

‘मानतन्त्यो’ नामाचार्यः ‘उवाच ह’ निश्चयत्वेन कथितवान् । तथाहि
 आहुतेत्यादि पक्ष्या व्रतं भवतीत्यन्तम् । ‘यः’ यजमानः ‘औपवसधिकम्’
 उवाच स-दिन-भोज्यं भोजनं ‘न श्रमति’ निराहारएव तिष्ठति, ‘एतस्य’
 ‘मानुष्याहुतिः’ ननुष्योपकारार्था आहुतिः यागक्रिया ‘यै’ निश्चयम् ‘आ-
 हुता’ निष्पला ‘भवति’ एषश्च ‘क्षोधुकः’ क्षुद्युक्तः पुरुषः ‘ह’ निश्चयमेव
 अग्नीश्वरः ‘व्रतकर्मकरो दीर्घत्यादसमर्थः’ भवति ‘किञ्च’ जनानाम् ‘लोक-
 सःधारणानमपि’ अकाम्यः ‘अप्रियः भवति । अपिच ‘ह’ निश्चयमेव ‘अस्य’
 क्षुद्युक्तस्य ‘प्रजा’ सन्ततिः ‘पापवसीयसी’ पापबहुविशभीभूता ‘भवति’ ।
 पक्षान्तरे-‘यः औपवसधिकं भुङ्क्त’ सः सुतराम् ‘अक्षोधुकः’ क्षुच्छून्यः
 ‘ईश्वरः’ व्रतकर्मकरो सद्यलत्वात् ‘भवति’ । किञ्च ‘जनानां’ लोकसाधारणा-
 नामपि ‘काम्यः’ प्रियः भवति । अपिच ‘ह’ निश्चयमेव ‘अस्य’ क्षुच्छून्यस्य
 ‘प्रजा’ सन्ततिः ‘वसीयसी’ स्ववशभूता ‘भवति’ । तस्मात् ‘क्षुद्युक्तस्य’
 यजमानस्य एयं निन्दाशयणात् ‘औपवसधिकम्’ उपवसच-दिन-भोज्यं यत्
 कामयेत् ‘भुञ्जीयाताम्’ दम्पतीति । ‘एताम्’ उपधानं दिवसीयां ‘रात्रिम्’
 ‘अधः’ नीचैः ‘शयीयाताम्’ । किञ्च ‘ती’ दम्पती ‘खलु’ निश्चयम् ।
 ‘एतां रात्रिं’ ‘जाग्रन्मिश्री’ अंशशो निद्रितौ अंशशो जागरितौ ‘एव’
 ‘विहरेयातां’ यापयेताम् । तत्र जागरणोपायमभिगमयितुमाह-इतिहासमिश्रेण
 वा ‘इतिहासो वेदिकेतिष्ठतः “व्रतह य इदमेक सप्रजानीदित्यादिः” तदा-
 लोचनामिश्रितेन स्थापेन रात्रिं यापयेताम्; ‘या’ अथवा ‘केनचित्’ येन-
 केनाप्यभियुक्ततरङ्गेन याकं यन्मालोचनाया जागरितौ रात्रंप्रगं यापयेताम्, न

तु सर्वां रात्रिम् अस्ताद्यद्यान्तां जहादिव सुप्ती भवेतामिति भावः । ' तु ' परन्तु जाग्रदवस्थायाम् ' अव्रत्येभ्यः कर्मभ्यः ' स्त्रीसंसर्गादिभ्यः ' जुगुप्सेयातामेव ' आत्मनो रक्षसं कुर्यायातमेवेति । ' प्रवसन् ' प्रवासं कुर्वन् ' नउपवसेत् ' इति आहुः ' केचनेति । परं तत्रापि गृहे पत्नीत्याच्चेत् तथा ' पत्न्या ' व्रतं भवति ' न तु व्रतभङ्गाशङ्केति भावः । ' व्रति ' खण्डारम्भादि एतत्पर्यन्तं समस्तमेव मानतन्तव्याचार्याभिमतमिति यावत्, समाप्यभिमतमेवेति प्रदर्शितम् ॥ १-९

भा०—'मानतन्तव्य' नामक आचार्य कहते हैं कि " जो कोई यजमान उपवास दिन में उस दिन के नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उस के मनुष्योपकारार्थं किसी हुयी सम्पूर्ण यागक्रियार्थं निष्फल होती हैं । पूर्ण दिन निराहार रहने से परदिन में क्षुधा से व्याकुल होकर चञ्चलता के कारण यागक्रिया करने में अवश्य असमर्थ होगा । * और साधारण लोगों को भी अप्रिय होगा । एवं उसके पुत्र, पुत्रादि प्रजा भी पापबुद्धि (१) के वशी भूत होंगी (२) । तात्पर्य यह है कि क्षुधा रहित होकर अर्थात् भोजन करके कार्य करने से मन स्थिर रहने से यागक्रिया सब सम्पन्न होगी और साधारण लोगों को प्रिय भी होगा, एवं उस के पुत्र, पुत्रादि, प्रजा भी यश में रहेगी । इस लिये क्षुधातुर होकर कोई कार्य नहीं करना, स्त्री पुरुष दोनों ही (उपवास दिन के भोग्य वस्तु) यथेच्छ भोजन करे । उपवास के दिन रात्रि में खाट के ऊपर शयन न करे एवं वैदिक इतिहास की आलोचना में या अन्य लोगों के साथ जिस किसी प्रकार हो धर्म के विचार में रात्रि का आद्यन्त काल जाग कर व्यतीत करे अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि गाढ़ निद्रा में विभूत न रह कर, थोड़ा सोना, परन्तु स्त्री संसर्गादि व्रतनाशक कार्य से आपे को बचावे । प्रवास में रहने से उपवास नहीं रहना चाहिये या घर में स्थित पत्नी द्वारा भी यह व्रत हो सकता है ॥ १-९ ॥

यथा काययेत् तथा कुर्यात् ॥ १० ॥

उपवासदिने भोजनफलमभोजनफलञ्च द्वे एयोक्ते, तदत्र यथा काययेत् तथा कुर्यात् ' अनीश्वरत्यादिकमिच्छेद्यत् अभोजनण्य स्यात्, अनीश्वरत्यादि कमिच्छेद्यत् भोजनं कुर्यादित्य ॥ १० ॥

* क्षुधातुर चक्षुः शक्ति विभीषण के योग्य नहीं । (१) अपने दलीर से बड़ देवारर वृत्ता में भरे प्रणय होंगे । (२) विदूषक के दृष्टान्तानुसार निराहार रह कर कार्य करना बर्हाद, भोग्य जन पर भगवान् मय जगत् धनुष सहने के कारण दोनों ही निरप्य वार्त्त के बगने में लग्न रहने अर्थात् दौड़ें हों, सुतरा से भगवान् निरप्य के अन्तर दण्ड वत्त है यह बगने नहीं पड़ेगा ।

भा०:—भोजन करके याग क्रिया करने में क्या फल है एवं भूखे रह कर करने में क्या विशेषता है सो कहा गया—इन दोनों में से जैसी इच्छा हो करे ॥१०॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति यज्ञान्नायो विदध्यात् ॥११, १२

‘एवं’ कथितप्रकारः ‘एव’ आहिताग्नेः ‘अपि नित्याग्निहोत्रिणोऽपि ‘उपवसथः’ उपवासनियमः ‘भवति’, ‘यच्च’ उपवसथकार्यं स्थण्डिललिम्पनादिकम् ‘आम्नायः’ वेदः ‘विदध्यात्’ विधातुं युज्यते, तदेवास्माभिः संस्मृत्य विहितमिति श्रुतोत्पादनम् ॥ ११, १२ ॥

भा०:—उक्त उपवास के नियमादि सब “आहिताग्नि” के लिये भी हुए, इसी प्रकार वेद का विधि (हो सकता) है ॥ ११, १२ ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वाऽग्नेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य्य तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्माऽऽसनात् वृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति ॥ १३, १४ ॥

‘अथ’ अनन्तरं तत्परदिने प्रतिपदि पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिं हुत्वा ‘अग्निम्’ ‘अग्नेः’ सम्मुखीकृत्येति यावत् ‘परिक्रम्य’ प्रदक्षिणीकृत्य ‘अग्नेः’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणास्यां दिशि ‘प्रागग्रान्’ पूर्वस्यां दिशि कृताग्रभागान् ‘दर्भान्’ ‘आस्तीर्य’ पातयित्वा ‘तेषां’ पातितदर्भाणां ‘पुरस्तात्’ सम्मुखे ‘प्रत्यङ्मुखः’ पश्चिमाभिमुखः ‘तिष्ठन्’ स्थितिं कुर्वाणः ‘सव्यस्य पाणे’ धामहस्तस्य ‘आङ्गुष्ठेन’ ‘उपकनिष्ठिकया’ अनामिकया ‘आङ्गुल्या च’ ब्रह्मासनात् ब्रह्मानामस्त्रिंश उपवेशनाय पातिताद् दर्भपुष्पात् ‘वृणम्’ एकम् ‘उपसंगृह्य’ गृहीत्वा ‘दक्षिणापरं’ दक्षिणास्याः अपरस्याः पश्चिमायाश्च दिशोरन्तरालं नैऋतं कोणम् ‘अष्टमं देशं’ प्रति ‘निरस्तः परावसुः’—इति मन्त्रेण निरस्यति प्रतिपेत् ॥ इति वृणनिरसनम् ॥१३, १४॥

भा०:—अनन्तर उस के पर दिन में अर्थात् प्रतिपदा को पूर्वाह्ण ही में यथानियम प्रातराहुति होम समाप्त कर तदनन्तर अग्नि को अपने सम्मुख रखकर, प्रदक्षिण करके, अग्नि के दक्षिण में कई एक कुशा गिराये, उन कुशाओं के अप्रभाग पूर्व दिशा में रहेंगे। उस हाले हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर याग हाथ की अङ्गुष्ठ और अनामिका अङ्गुली के द्वारा ब्रह्मा

के लिये डाले हुए कुशासन से एक तृण लेकर 'निरस्त परावसु' इस मन्त्र से नैऋत कोण में फेंके। इसी को 'तृणनिरसन' कार्य कहते हैं ॥ १३, १४ ॥

अपउपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसनउपविशत्यावसोः सद्ने
सीदामीत्यग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्तआकर्मणः
पर्यवसानाद्वापेत यज्ञसं०सिद्धिन्नायज्ञीयां वाचं वदेद्यज्ञीयां
वाचं वदेद्वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेदपि वा नमोविष्णवे इत्येवं
ब्रूयात् ॥१५-२०॥

'अथ' अनन्तरम् 'ब्रह्मा' नाम सर्वकार्यपर्यवेक्षक ऋत्विक् 'अपः' उदकानि
'उपस्पृश्य' स्पर्श्या 'आसने' तत्र, 'आवसोः' पदने सीदामि 'इति' मन्त्रमुच्चारन्
'उपविशति' उपविशेत् । 'आ कर्मणः पर्यवसानात्' कर्मोन्तं यावत् 'अग्निन्
अभिमुखः' सुतरामुत्तरास्यः, 'वाग्यतः' नियमितयाक् यज्ञीयवचनातिरिक्तयाक्
शून्यः, 'प्राञ्जलिः' कृताञ्जलिपुटः सन् 'आस्ते' आसीत् । यदुक्तं वाग्यतइति
तदेव स्फुटयति,—'यज्ञसंसिद्धिं' यज्ञानुकुलां धारणीं 'भापेत' वदेत्, 'अयज्ञीयां
वाचं न वदेत्', 'यदि' अनादपि 'अयज्ञीयां वाचं वदेत्', 'वैष्णवीम्' विष्णुदे-
वताकां यां कामपि 'अर्घं' 'यजुर्वा' 'जपेत्' पठेत्, 'अपिवा' अथवा 'नमोविष्णवे,
'इति' एतदेव 'ब्रूयात्' ॥ १५-२० ॥

भा०—अनन्तर ब्रह्मा नामक सब कार्य के निरीक्षक एक प्रधान पुनश्च
जल से हाथ पांव धोकर उस डाले हुए कुशासन पर अग्नि की ओर सम्मुख
करके सुतरां उत्तर मुख हो दोनों हाथ जोड़ "आवसोः सद्ने सीदामि"
अर्थात् यज्ञ की सगाति पर्यन्त इसी स्थान में रहूंगा ऐसा कह कर नियमित
वाग्य मात्र बोलने की मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञा होकर कार्य समाप्ति पर्यन्त
बैठे। यज्ञ-सम्बन्ध में जो कुछ उपदेश देने की बात होगी उसे ही काहे,
अन्यान्य कोई वाक्य नहीं बोले, यदि भ्रम से कोई दूसरी बात बोले तो
उसी समय विष्णु देवता की स्मारिका किसी ऋचा वा यजुर्वेद का मन्त्र
पाठ करे; किम्वा 'नमो विष्णवे' इतना कहने से भी निर्वाह होगा ॥ १५-२०॥

यद्यु वा उभयं चिकीर्षेद्वैष्णव ब्रह्मत्वञ्चैतेनैव कल्पेन
छत्रं वोत्तराराङ्गं वोदकमण्डलं दर्भवतुं वा ब्रह्मासने निधाय
तेनैव प्रत्याब्रज्याथान्यच्चेष्टेत् ॥२१-६॥

'यदि उ वै' यदि 'ह्रीं च ब्रह्मत्वञ्च' उभयमेव गृह्यः 'चिकीर्षेत् कर्तुमि-

च्छेत्, तर्हि 'एतेनेव कल्पेन' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण 'छत्रं', 'वा' अथवा 'उत्तरा-
सङ्ग' उत्तरीयकम्, 'वा' अथवा 'उदकमण्डलुं' उदकपूर्णं कनखडलुं 'वा' अथवा
'दर्भयटुं' कुशानिर्मितं ब्राह्मणं ब्रह्मामने' तत्रैव 'निधाय' संस्थाप्य 'तेनैव'
पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रदक्षिणादिना 'प्रत्यावर्त्य' प्रत्यावृत्त्य 'अथ' तदन्तरम्
'अन्यत्' इह दर्शपौर्णमासे चरुप्रकरणादिकं यत् किमपि विशेषकार्यजातमग्रे
वक्ष्यति, तदतिरिक्तम्, अग्निहोत्रप्रकरणे कथितं भूमिजपादिकं सर्वमविशे-
षेण 'चेष्टेत्' कुर्वीत ॥२१॥

इति गोभिलश्रुतसूत्रे प्रथमप्रपाठके पष्ठपण्डित्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१-६॥

भा०:—यदि होतृ-कार्य और ब्रह्मत्य इन दोनों क्रियाओं की एक ही
व्यक्ति करने की इच्छा करे तो ब्रह्मा के लिये उनी डाले हुए आसन पर
उसी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जल पूर्ण कनखडलु या कुशा निर्मित ब्राह्मण
स्थापन करके उसी प्रकार प्रदक्षिणा आदि पूर्वक स्त्रीय होतृ-के आसन पर
स्थापन आवे। अनन्तर इसके अग्नि कार्य मात्र ही साधारण कार्य सब अर्थात्
अग्निहोत्र प्रकरणोक्त भूमि जपादि सब ही करे। (चरु-पाकादि जो कुछ
इस में विशेष कर्त्तव्य है, उस विषय में विशेष विधि पीछे कहा जावेगा ॥२१॥
गोभिलश्रुतसूत्र के प्रथमाध्याय के छठे उदह का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१॥



अधोलूखलमुसले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान्
दर्भान्नास्तीर्योपसादयति ॥१॥

'अथ' तदनन्तरम् 'अधोलूखलमुसले' 'शूर्पञ्च' 'प्रक्षाल्य' 'अग्नेः पश्चात्'
'प्रागग्रान् दर्भान्' आस्तीर्य तदुपरि प्रक्षालितानि तानि 'उपसादयति' उप-
स्थापयति ॥१॥

भा०—तदनन्तर अधोलूखल, मूमल, और शूर्प अच्छे प्रकार जल से धोकर
अग्नि के पीछे भाग में कई एक प्रागग्र कुशा डाल कर उनके ऊपर रखे ॥१॥

अथ हविर्निर्वपति व्रीहीन् वा यवान् वा कथंसेन वा
चरुस्थाल्या वामुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादे-
शं सकृद् द्विस्तूष्णीम् ॥२-३॥

'अथ' तदनन्तरमुपसादिते तत्रोलखले 'हविः' हविषे हविर्योग्यान् 'व्रीहीन्
वा यवान् वा' 'निर्वपति' निर्वपेत् प्रक्षिपेत्। 'कस्मिन् वा चरुस्थाल्या वा' तत्र

प्रक्षेपः कर्त्तव्यः । 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामि' अत्रामुष्मै-पद-श्रुतेः यत्र यद्दे-
वतायै हविः कायं तत्र तपैवोल्लेखः, अग्न्यर्थहविर्निर्वापे 'अग्नये त्वा जुष्टं
निर्वपामि' इत्यादि यथा, 'इति' अनेन मन्त्रेण 'देवतानामादेश' देवताना-
मोल्लेखं 'सकृत्' एकवारं, 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्यं देवतानामोच्चारण
रहितमपि निर्वपतीत्यनेन सम्बन्धः । इति निर्वापः ॥२॥ ३॥

भा०-तदनन्तर हविः पाकके उपयोगी करने के लिये चाहे धान्य हो या
यव, फांसे के घर्त्तन से या चटस्थाली से फेंके (प्रक्षेप करे) जितना धान्य या
हवि के योग्य करना हो वह तीन ही बार में प्रक्षेप करदे उनमें से एकवार
'अमुक देवता के सेवने योग्य करने के लिये धान्य या यव तुम को इस उलू-
खल में डालता हूं'-इस मन्त्र से, अपर दोवार बिना मन्त्र के डालें ॥२॥ ३॥

अथ पश्चात् प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां
पाणिभ्यान्त्रिः फलीकृतांश्चस्तण्डुलांश्चिर्देवेभ्यः प्रक्षालये-
दित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्य इति ॥४॥ ५॥

'अथ' निर्वापानन्तरं 'पश्चात्' उलूखलस्य 'प्राङ्मुखः' तिष्ठन् 'दक्षिणोत्त-
राभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्याम्', 'अवहन्तुम्' उपक्रमते । तत्र 'त्रिः' त्रिवारं
'फलीकृतान्' कण्डितान् 'स्तण्डुलान्' धान्यानां यवानां वा गृहीत्वा, देवेभ्यः
देवकार्यार्थं 'त्रिः' त्रिवारम्, 'मनुष्येभ्यः' ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं द्विः द्विवारम्,
'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थं 'सकृत्' एकवारमेव 'प्रक्षालयेत्', 'इति' एवम् 'आहुः'
पूर्वतनाः । इति अवहननम् ॥४॥ ५॥

भा०-अनन्तर उलूखल के पीछे पूर्वामुख सड़े होकर दोनों हाथ में
मूसल पकड़ कर कूटे । कूटने से-तुप-विमुक्त धान्य या यव के तण्डुल *
आदि तीनवार साफ कूट कर देवकार्य के लिये, ब्राह्मण भोजनादि मनुष्य-
कार्य के लिये दोवार, एवं पितृकार्य के लिये एक ही बार जल में धो लेवे ।
यही प्राचीन आचार्यों की सम्मति है ॥ ४५ ॥

पवित्रान्तर्हितांश्चस्तण्डुलानावपेत्कुशलशृतमिव स्था-
लीपाकंश्चप्रपयेत्प्रदक्षिणमुदायुवञ्छृतमभिघार्योदगुद्वास्य
प्रत्यभिघारयेत् ॥६॥ ८॥

‘तयडलान्’ तान् पवित्रान्तहितान्’ प्रक्षालनार्थं पवित्रस्य कुशानिर्मित-
बहुच्छिद्रपात्रविशेषस्य मध्ये स्थापितान् ततएव ‘आ वपेत्’ स्थाल्यामिति
शेषः । ‘प्रदक्षिणं’ यथास्यात्तथा ‘उदायुवन्’ मेक्षणेन मिश्री कुर्वन् ‘कुशलशृतम्
इव’ पाकपटुना पक्कमिव ‘स्थालीपाकं’ तं ‘अपयेत्’ । अप्रणानन्तरं तत्र
पक्वेऽत्रे ‘घृतमभिघार्य’ घृताभि-धारणं प्रकृत्य अग्नेः ‘उदक्’ उत्तरस्याम्
‘उद्दास्य’, संस्थाप्य ‘प्रत्यभिघारयेत्’ पुनरपि तत्र घृतपातं कुर्यात् । इति
निष्पन्नः स्थालीपाकः ॥६-८॥

भा०-कुश का घना “पवित्र” (कुश का बहुत छिद्रवाला) (नानसे प्रसिद्ध)
में प्रक्षालनार्थ गृहीत उस तण्डुल को, उस में से लेकर स्थाली में डाले । पाक
समय में “मेक्षण” द्वारा मिलाकर ऊपर नीचे इस प्रकार पाक करे । यह पाक
एक प्रवीण पाक कर्ता के हाथ के बने हुए की नाई होना आवश्यक है । पाक
प्रस्तुत होने पर घृत का ढार दे अग्नि के उत्तर में उतार कर पुनः उस में
भागानुसार घृत मिलावे ॥ ६ । ७ । ८ ॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात् पुरस्ता-
दक्षिणतउत्तरतः पश्चादिति सर्वतस्त्रिवृतम्पञ्चवृतं वा बहुल-
मयुग्मसंथहतम्प्रागग्रैर्मूलानिच्छादयन् पश्चाद्वास्तीर्य
दक्षिणतः प्राञ्चम्प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि
कुर्यादेव परिस्तरणन्यायः सर्वस्वाहुतिमत्सु ॥९-१५॥

वक्ष्यत्यनुपदं बर्हिषि स्थालीपाकेत्यादि (१९ सू०), ततश्च स्थालीपाकी-
करणमात्रेण प्रागेव परिस्तरणं कर्तव्यमिति तत्प्रकार उच्यते,—‘अग्निम्’ ‘उप
समाधाय’ समिद्धिः प्रज्वाल्य, तस्य प्रज्वलितस्याग्नेः ‘समन्तं’ समन्तात् सर्वतः
सर्वांश्च दिक्षु ‘कुशैः’ कुशासङ्घैः ‘परिस्तृणुयात्’ परिस्तरणमाच्छादनं कुर्वीत
तत्र क्रममाह—‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां, ततः ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां, ततः
‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां ततः ‘पश्चात् पश्चिमस्याम्’ इति एवम् । तत्राप्यन्यदप्या-
ह ‘सर्वतः’ सर्वस्येव दिक्षु ‘त्रिवृतं पञ्चवृतं वा’ परिस्तरणं कार्यम् । तत्रा-
पि ‘बहुलं’ बहुवृक्षं, परं वृणानां परम्परयोगेन युग्मत्वं संहतत्वं वा यथा न
स्यात् । द्वयोर्योगे युग्मत्वं त्रयोद्वयोर्गे तु संहतत्वं मिति विशेषः । किञ्च
‘प्रागग्रैः’ पूर्वदिङ्मुखैर्देवैः ‘अग्रैः’ अग्रभागैः प्रथमस्तृतानां कुशानां ‘मूलानि
च्छादयन्’ एवमुत्तरत्रापि । ‘वा’ अथवा अग्रैर्मूलानिच्छादनं न कुर्याद्वेत्
‘पश्चात्’ पश्चिमस्यां प्रथमतः ‘आस्तीर्य’ ‘दक्षिणतः’ ‘तथा उत्तरेण’ प्राञ्च

पूर्वदिग्भागं ' प्रकुर्येति ' प्रकृतं कुर्येत् आकर्षणपूर्वकं मिश्रयेत् । तत्र तथा कर्ष-
णाय ' दक्षिणोत्तराणि ' दक्षिणाभिमुखानि उत्तराभिमुखानि च ' अग्राणि '
कुशानां ' कुर्यात् ' । ' एयः ' उभयविधएव परिस्तरणन्यायः ' सर्वेषु आहुति-
मत्सु अनुष्ठानेषु ज्ञेयः ॥ ९-१५ ॥

भा०—उन्नीसवें सूत्र में स्थालीपाक उत्तरणान्तर आन्यसंस्कार कहा
जावेगा इसलिये स्थालीपाक उतारने के पूर्व ही "परिस्तरण" करना चाहिये।
जैसे—समित् प्रक्षेप आदि द्वारा अग्नि जलाकर उक्त अग्नि के चारो ओर कुशों
से ढाक देवे। पहिले पूर्व दिशा में, अनन्तर दक्षिण दिशा में, उस के पश्चात्
उत्तर दिशा में, अन्त में पश्चिम दिशा में, सब ही ओर तीन या पांच बार
कुशा से आच्छादन करे किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादन करे कि जिसमें दो,
तीन, या उससे अधिक कुशा एक स्थानमें मिल न जायें और सबही कुशाओं
का अग्रभाग पूर्व की ओर रहे और उन्हीं कुशाओं के अग्रभाग के द्वारा उन
का मूल (जड़) आच्छादित रहे या (यदि कुश चोड़े हों) पश्चिम दिशा
की छोड़ कर दक्षिणाय कुशा के द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराय कुशा के द्वारा
उत्तर से पूर्व की ओर आकषित होगा अर्थात् दृप्त या चतुष्कोण रूप नहीं।
आच्छादित कर त्रिकोणरूप आच्छादित करने से भी हो सकता है। इसी
को "परिस्तरण" कहते हैं ; यह सब प्रकार के आहुति विधिष्ट अनुष्ठानों में
व्यवहृत होगा । ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५ ॥

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पाणान् वा । १६

' एके ' आचार्याः ' शामीलान् ' शमीकाष्ठीयान् ' वा ' ' पाणान् ' पला-
शकाष्ठीयान् ' परिधीन् ' कर्मप्रदीपोक्तलक्षणान् सीमरूपान् कुर्वन्ति ' । १६

भा०—कोई २ आचार्य शमीकाष्ठ की, या पलाश काष्ठ की परिधि अर्थात्
सीमास्थापन भी करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपाम्पूर्णः सुवः प्रणीता भावेन वा स्यादित्येके । १७, १८

' उत्तरतः ' अग्रे गति यावत्, ' अर्थां पूर्णः सुवः ' ' प्रणीता ' पतत
मंझकी भवेत् । ' भावे ' पूर्वोक्तचममपात्रस्य ' न वा स्यात् ' सुवः प्रणीता
' इति ' एवम् ' एके ' आचार्या यदन्ति तदपि न विरुद्धम् ॥ १७-१८ ॥

भा०—अग्नि के उत्तर में जन-पूर्ण सुव की रक्षा करे उग की प्रणीता
करते हैं । कोई २ आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त चमम पात्र में जन रक्षित
रहने से, सुव में कम स्थापन नहीं करने से भी इसी नहीं ॥ १७, १८ ॥

बर्हिपि स्थालीपाकमासाद्येधमभ्याधायाज्याथ्सथ्सकुरुते
सर्पिस्तैलन्दधि पयो यवागूं वा । १९, २० ॥

‘ बर्हिपि ’ आस्तृते तत्र कुशासमृहे ‘ स्थालीपाकम् ’ स्थाल्यां पक्वं चरुं
तत्सहितस्थालीपात्रमिह ग्राह्यम् ‘ आसाद्य ’ संस्थाप्य, अथान्यसंस्कारः ;—
‘ इधमम् ’ इन्धनकाष्ठं पूर्वोक्तं पालाशाद्यन्यतमम् ‘ अभ्याधाय ’ अग्नौ अभितः
प्रदाय पुनरपि सुप्रज्वाल्याग्नि-मिति यावत् । ततस्तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ
‘ आजाम् ’ अनुपद्वयद्वयमाशं नर्षिरादीनामन्यतमं ‘ नंस्कुरुते ’ संस्कुरुर्वीत । तथा
‘ सर्पिः ’ घृतं ‘ तैलं ’ तिलत्वेह ‘ दधि ’ ‘ पयः ’ दुग्धं ‘ यवागूं वा । १९, २० ॥

भा०—उम हाले हुए कुशाओं पर स्थालीपाक स्थापन करके पुनः
इन्धन डालकर अग्नि जला कर उम में आन्यसंस्कार करे । आरय—इस स्थल
में घृत तैल, दधि, दुग्ध, या—यवागूं इन पांच वस्तुओंमें से जो कोई वस्तु मिले
उसी से हो सकता है ॥ १९ ॥ २० ॥

ततश्च पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं कर्त्तव्यमिति प्रथमं पवित्रनिर्माणमुच्यते;

ततएव बर्हिपः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ओपधिमन्त-
र्धाय च्छिनत्ति न नखेन पवित्रे स्थो वैष्णव्यावित्थैने अ-
द्विरनुमाष्टिं विष्णोर्मनसा पूते स्थ इति । २१-२३ ॥

‘ ततः ’ पूर्वामादितात् ‘ बर्हिपः एव ’ ‘ प्रादेशमात्रे ’ प्रादेशप्रमाणे
‘ पवित्रे ’ ‘ कुरुते ’ कुर्यात् । कथमित्याकाङ्क्षायां वदति,—‘ ओपधिम् ’ ग्रीक्षा-
दिकम् ‘ अन्तर्धाय ’ मध्ये स्थाप्य “ पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ ”—‘ इति ’ अनेन
मन्त्रेण ‘ च्छिनत्ति ’ छिन्द्यात् ‘ न नखेन ’ । अथ तदनन्तरम् ‘ पूते ’ पवित्रे
‘ अग्निः ’ “ विष्णोर्मनसा पूतस्थः ” —‘ इति ’ अनेन मन्त्रेण ‘ अनुमाष्टिं ’
अनुमृज्यात् । २१-२३ ॥ निर्जिताभ्याश्च ताभ्यां पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं विधत्ते;—

भा०—अनन्तर उसी पूर्व मंगहीत कुशाओं के बीच से प्रादेश प्रमाण (धा-
लितभर) दो कुश लो कर ‘ तुम विष्णुदेवता के हो सुतरां पवित्र हो ’ इस
मन्त्र का पाठ करते ओपधि के बीचोबीच छेदन करे । उसके अनन्तर, ‘ विष्णु
देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो ’ इस मन्त्र का पाठ करके उस की
जल में धोवे ॥ २१-२३ ॥

सम्पूयोत्पुनात्युदगग्राभ्याम्पवित्राभ्यामङ्गुष्ठाभ्याञ्चो-

पकनिष्ठकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिस्तुपुनाति
देवस्त्वासवितोत्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मि-
भिरिति सङ्कटं यजुषां द्विस्तूष्णीम् ॥ २४, २५ ॥

‘ सम्पूय ’ ते पवित्रे पूर्वोक्तप्रकारेण शोधयित्वा शोधिताभ्यां ताभ्यामेव
‘ पवित्राभ्याम् ’ कीदृशाभ्याम् उदगग्राभ्याम् ‘ उत्पुनाति ’ आज्यमित्याशयः ।
आज्ये पतितं तृणादिकं ततवद्धृत्य अग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः । कथङ्कृत्वा ? कति-
वारम् ? केने मन्त्रेणेत्याकाङ्क्षात्रयं पूरयति;— ‘ अङ्गुष्ठाभ्याम् ’ ‘ उपकनिष्ठा-
काभ्याम् ’ ‘ अनामिकाभ्या ’ ‘ च ’ ‘ अङ्गुलिभ्याम् ’ ‘ अभि ’ अभितः ‘ संगृह्य ’
‘ प्राक्शः ’ प्रागतं यथा स्यात्तथा, ‘ त्रिः ’ त्रिवारम् ‘ उत्पुनाति ’ । तत्र त्रिषु
वारेषु ‘ सकृत् ’ एकवारं ‘ देवस्त्वेत्यादिना ’ ‘ यजुषा ’ यजूरूपमन्त्रेण ‘ द्विः ’
द्विवारं ‘ तूष्णीम् ’ अमन्त्रक मेवेत्याज्योत्पवनम् ॥ २४, २५ ॥

भा०—उक्त प्रकार से दोनों “पवित्र” को शोध कर उत्तराय करके उसके
द्वारा आज्योत्पवन करे अर्थात् आज्य में पतित तृण आदि बाहर कर पूर्व
की ओर फेंक देवे “आज्योत्पवन” काल में दोनों “पवित्र” को अङ्गुष्ठ और
अनामिका अङ्गुलि से पकड़े एवं एकवार ‘देवस्त्वा’ इत्यादि ‘यजू’ रूप मन्त्र
पाठ करे, पुनः दोवार घिना मन्त्र उत्पवन करना चाहिये ॥ २४, २५ ॥

अथैने अद्विरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेदथैतदाज्यमधिश्रि-
त्योदगुद्वासयेदेवमाज्यस्य सत्त्वं स्वरणकल्पो भवतीति ॥ २६—२८ ॥

‘ अथ ’ तदाज्योत्पवनानन्तरम् ‘ एने ’ पवित्रे ‘ श्रिः अभ्युक्ष्य ’ जल-
धीते प्रकृत्य ‘ अग्नौ अपि ’ ‘ उत्सृजेत् ’ क्षिपेत् । अपि शब्दबलादन्यत्र क्षेप-
णोपि दोषाभावः । ‘ अथ ’ अनन्तरम् ‘ आज्यं ’ तदेव ‘ अधिश्रित्य ’ ज्वन-
दङ्गारेषु कृत्येव ‘ उदक् ’ अग्नेरुत्तरस्यां दिशि ‘ उद्वासयेत् ’ स्थापयेत् । ‘ आज्यस्य
संस्करणकल्पः ’ ‘ एवम् ’ एव ‘ भवति ’ ॥ २६—२८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १, ७ ।

भा०—आज्योत्पवन के पीछे इन दो “पवित्रों” को जलमें धो कर अग्नि
में फेंक दे । अनन्तर अग्नि के उत्तर में जलते हुए कई एक अंगारे पर, “पूत-
प्राज्यपात्र” रखे । आज्यसंस्कार इत्यादि करे ॥ २६, २७, २८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ७ ॥

पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

[प्र० १ खं० ७ सू० २४ । २५, खं ८ सू० १-४] दर्शपोर्णमासप्रकरणम् ॥ ४५

अग्नेरुत्तरस्मिन्नेव 'पूर्व' पुरस्तात्स्थानम् 'आज्यम्' आज्यवहिनता-
वपपात्रं भवेत्, किञ्च तत्रैव 'अपर' तत्पश्चात्स्थानम् 'स्थालीपाकः' पक्वचत-
सहितस्थाव्याधारः भवेत् ॥ १ ॥

भा०-चरुस्थाली और आज्यपात्र इन दोनों के अग्नि के उत्तर में स्थापन
करने के लिये व्यवस्था हुई है । (१ । ४ । ५, १ । ७ । २६-२८) उन में पहिले
आज्यपात्र रहेगा, और उस के पीछे चरुस्थाली रखे ॥ १५ ॥

पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातश्चोत्तु-
मेवोपक्रमते ॥ २ ॥

'पर्युक्ष्य' अदितेऽनुमन्यस्येत्यादिना पर्युक्षणान्तं प्रकृत्य, 'स्थालीपाके'
चरौ 'आज्यं' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'आनीय' क्षिप्त्या 'मेक्षणेन' दूर्वा-
विशेषेण 'उपघातम्' उपस्तरणाभिधारणरहितं होमं 'होतुम्' 'उपक्रमते'
प्रवर्तते । सुचि सुवेण प्रथममाज्यग्रहणं, ततश्चरुग्रहणं, ततः पुनराज्यग्रहणम्
चेत् उपस्तीर्णाभिधारितं तदुच्यते होमीयम्; तत्र चरुग्रहणात् पूर्वमाज्यग्रहण-
मुपस्तरणमुच्यते, परस्ताच्छाभिधारणमिति । यत्र तु उपस्तरणमभिधारणञ्च
न भवतः, स एव होम उपघात इति विज्ञेयः ॥ २ ॥

भा०-अग्नि कार्यमात्र में अनुष्ठेय पूर्वोक्त 'अदितेऽनुमन्यस्य' प्रभृति
'पर्युक्षण' के अन्त में कार्य सय (१ । ३ । १-५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक
में आज्य प्रक्षेप कर 'उपघात' होम * करने के लिये उपक्रम करे ॥ २ ॥

यद्युवा उपस्तीर्णाभिधारितं जुहुवेदाज्यभागावेव प्रथमौ
जुहुयाच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पञ्चावत्तन्तु भृगूणामग्नये
स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शोजुहुयात् ३,४

'यदि उवा' यदैव 'उपस्तीर्णाभिधारितं' 'जुहुवेत्' हातुमिच्छेत्,
तदैव 'प्रथमौ' उपघातनामोपक्रमरूपहोमसम्पादनोपयोगिनौ 'आज्यभागी'
उपर्युपरि होमद्वयनिष्पादकौ 'जुहुयात्' अग्राविति । एतावत्र होमो उप-
घातसञ्ज्ञौ प्रकृतहोमस्योपस्तीर्णाभिधारितस्योपोद्घातरूपत्वात् । अत्रेतिक-
तंन्यतादिकं व्रते — 'चतुर्गृहीतम्' चतुःकृत्वः गृहीतं सुवेण सुचीति यावत्,

* सु० के मध्य में चरुग्रहण के पश्चात् सुचि के द्वारा अत्र अत्र के उपस्तरण अर्थात् आस्तरण,
एव चरुग्रहण के पश्चात् आज्य ग्रहण को अभिधारण अर्थात् अच्छादन कहते हैं । तदुपराय प्रथम आज्य पक्षे
चरु पुन आज्य लेकर आदम किश तत्रे उपर ६ उग्रम प भरित कहते हैं । जिस होम में उपस्तरण या
अभिधारण ना आसतकन नह, उत ६ उग्रमहम, कहते मग्न्यवत्पुनक म ॥

‘आज्य’ सपिरादीनामन्यतमम् ‘गृहीत्वा’ अग्निसध्ये एव, उत्तरतः, उत्तर-
स्याम् ‘अग्नये स्वाहा’—‘इति’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां ‘सोमाय स्वाहा’
‘इति’, ‘प्राग्गः’ प्राग्गतं यथा स्यात्तथा जुहुयात् । एनावेव होमौ उपघा-
ताख्यौ । अत्र विशेषः—‘भृगूनां’ भृगुगोत्रोत्पन्नानां ‘तु’, ‘पञ्चावत्तं, पञ्चकृत्यः
‘आज्यग्रहणमिति ॥ ३ । ४ ॥ इदानीमुपस्तीर्णाभिधारितहोमप्रकारं कथयति—

भा०—जिस समय “उपस्तीर्णाभिधारित” नामक होम करने की इच्छा करे,
उसी समय उस के पूर्व दो “उपघातहोम” करे। इस ‘उपघातहोम’ के करने में
सुच (पञ्चपात्र) के मध्यमें प्रतिवार सुधाके धारा ऊपर चारचार आज्य ग्रहण
करना होगा, एवं इस चारचार ग्रहण किया हुआ आज्य पहिले ‘अग्नये स्वाहा’
इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के बीच में उत्तर में और तत्पश्चात् ‘सोमाय’ इस
मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में, पूर्वदिग्गत करके होम करे। विशेषता—भृगु-
गोत्रोत्पन्न गण के प्रति होम में पांचवार आज्य ग्रहण करना चाहिये ॥ ३, ४ ॥

अथ हविष उपस्तीर्ण्यावद्यतिमध्यात्पूर्वाद्धाञ्चतुरवत्ती
चेद्ववति मध्यात्पूर्वाद्धात्पश्चाद्धादिति पञ्चावत्ती चेद्ववत्य-
भिधारयत्यवदानानि प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामता-
याअग्नयेस्वाहेतिमध्येजुहुयात्सकृद्वात्रिवैतेनकल्पेन ॥ ५—१० ॥

‘अथ’ उपघातहोमानन्तरम् ‘उपस्तीर्य’ आज्येन सुचं सस्नेहां प्रकृत्य
तदुपरि ‘हविषः’ चरुन् ‘अयिद्यति’ अवदाय गृह्णाति । अवदानप्रकारमाह—
‘चतुरवत्ती’ भृगुवंशीयादन्यः ‘भवति चेत्’, ‘मध्यात्’ मध्यं लक्ष्मीकृत्य पूर्वाद्धात्
अवद्यदीन्यनुयच्छेत्; दिक्षु ‘पञ्चावत्ती’ भृगुवंशीयः ‘भवति चेत्’, ‘मध्यात्’ मध्यं
लक्ष्मीकृत्य ‘पश्चाद्धात्’ अवद्यति; ‘इति’ एवमेव नियमः । अवदानानि चतुर्ग-
हीतानि पञ्चगृहीतानि वा तानि ‘अभिधारयति’ अभिधारयेत् तदुपरि पुनः
सुधाज्यधारापातं कुर्वीतेति यावत् । किञ्च ‘अवदानस्थानानि’ चरुस्था-
लीमध्यतो यतोयतः चरुन् चतुः पञ्च वा कृत्वा अवदाय गृहीतानि तानि,
‘अयातयामतायै’ यातयामता यागायोग्यता तदमावाय् यागयोग्यतामेव रक्ष-
यितुमिति यावत्, ‘प्रत्यनक्ति’ यत्र यत्र मेक्षणप्रवेशचिन्हं तानि सर्वाण्येव
प्रति लक्ष्याग्निसिद्धनं कुरुते कुर्वीतेत्यर्थः । ततः तदेव उपस्तीर्णाभिधारितं हविः
प्रगृह्य “अग्नये स्वाहा”—‘इति’ इमं मन्त्रमुच्चरन् ‘मध्ये’ अग्नेः ‘जुहुयात्’ अय-
मेव होमोऽग्नौपस्तीर्णाभिधारित उच्यते । ‘एतेन कल्पेन’ कचित्तत्प्रकारेण ‘सकृत्
वा’ एकवारं वा ‘त्रिमां’ त्रिवारं वा जुहुयात् ॥ ५—१० ॥

भा०:-उपघात होम के पीछे उसी स्तुब् के स्तुब् के द्वारा एक बार आज्य ग्रहण करके उस के ऊपर 'मेक्षण' द्वारा चरु ग्रहण करे। उस में विशेषता यह है कि यदि वह भृगु गोत्र का हो तो चरुस्थाली के मध्य में पद्याहु से एवं पांच बार चरु ग्रहण करे और यदि वह अन्य गोत्र का हो तो चरुस्थाली के बीच में पद्याहु से एवं चारवार मात्र चरुग्रहण करे। पीछे जिस २ स्थान 'मेक्षण' द्वारा चरु निकाल ले; आज्य द्वारा, उसी २ स्थान की सिद्धित है, जिस से चरु सूख न जावे—याग के योग्य रहे। अनन्तर उसी गृहीत चरु के पर फिर 'आज्य' डार कर उसी ऊपर नीचे आज्यविशिष्ट चरु से अग्नये रहा इस मन्त्र के मध्य में हवन करे। इसी को उपस्तीर्णाभिधारित होम होते हैं। इस प्रकार एक या तीन बार करे ॥ ५-१० ॥

अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्यावद्यत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात् सकृ-
व भूयिष्ठं द्विरभिधारयेद्यद्यु पञ्चावत्ती स्याद्द्विरुपस्ती-
विदाय द्विरभिधारयेत् न प्रत्यनक्तयवदानस्थानं यातया म
या अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे जुहुयात् ॥११-१४॥

'अथ' अत्रायशब्देन प्रकरणान्तरत्वमात्रं लक्षयति, नत्वानन्तर्यम्; स्वि-
ष्टकृते पुरस्तादेव प्रकृतयागस्य यद्व्यपन्नत्वात् (१६ सू०)। 'स्विष्टकृते'
वष्टकृदोमसिध्यर्थम्, पूर्ववत् 'उपस्तीर्य' स्तुवाज्यं स्तुचि आस्तीर्य, तत्रैव चरु-
स्थालीनध्यतएव 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात्' उत्तरार्द्धस्य प्रथमाहुतात् 'भूयिष्ठं' बहु-
तरं 'सकृत्' एकवारम् 'एव' अवद्यति अवदाय गृह्णाति; तदनन्तरं गृहीतं
तं चरुं 'द्विः' द्विवारम् 'अभिधारयेत्' स्तुवाज्यधारया निक्षेत्। अत्र विशेषः
कम्पते,— 'यदि, उ' 'पञ्चावत्ती' भृगुगोत्रः 'स्यात्' यजमानः, तर्हि 'द्विः'
द्विवारम् 'अवदाय' 'उपस्तीर्य' 'द्विरभिधारयेत्' द्विवारमेवाभिधारणं
कुर्यात्। किञ्च स्विष्टकृत्यागे 'यातयामतायै' यागायोग्यताभिया 'अवदान-
स्थानं' 'न प्रत्यनक्ति' अस्यैव होमस्यान्त्यपरुहोमत्वान्नष्टेऽपि तस्मिन् क्षत्य-
भावादिति भावः। स्विष्टकृदोमस्य मन्त्रं स्थानं 'च' बोधयति;—'अग्नये स्विष्ट-
कृते स्वाहा'—इति अग्नेन मन्त्रेण 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे' अग्नेरुत्तरार्द्धस्य पूर्वार्द्धे
'जुहुयात्' ॥ गतोऽयं स्विष्टकृदोमः ॥११—१४॥ अथापरोऽप्यस्ति होमः सवेकर्म-
साधारणस्तं विधत्ते—

भा०:- (उक्त "उपस्तीर्णाभिधारितहोम" के पीछे प्रकृत होम त्रेय होने

पर *—स्विष्टकृत् होम करने के लिये भी पूर्ववत् स्तुवा के द्वारा आज्य ले कर स्तुच में लेने के अनन्तर उस चरुस्थ नी मध्यस्थित चरु के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से एकवार मात्र, किन्तु कुछ अधिक परिमाण से चरुग्रहण करे एवं उसके ऊपर पुनः आज्य सिञ्चन करे। विज्ञेयता यही है जो, कर्त्ता यदि भृगुगोत्रोत्पन्न हो तो उसे दो बार 'उपस्तरया' करना पड़ेगा। अनन्तर इस प्रकार चरुग्रहण और इस प्रकार दो बार अभिद्वारण करे। (और भी जो, स्विष्टकृत् भाग ही शेष अर्घात् इस के पीछे और होम के लिये चरु की आवश्यकता होती नहीं अतएव) स्विष्टकृत् होम के लिये चरुग्रहण करके, उस चरु को ठीक २ रखने के लिये उस में आज्य सिञ्चन करना आवश्यक नहीं। इस गृहीत होमीय को 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्रद्वारा अग्नि के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध में हवन करे। इसी को 'स्विष्टकृतहोम' कहते हैं ॥ ११-१४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरितिमन्त्रेण 'आज्येन' 'अभिजुहुयात्' इति सर्वसाधारणहोमप्रकारः ॥ १५ ॥ इदानीं प्रकृतहोमकालं व्यवस्थापयति—
भा०—'भूर्भुवः स्वाहा' इस मन्त्र से आज्य द्वारा होम करे। इसी को 'महा व्याहृति-होम, कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राक् स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्दोमात् 'प्राक्' पुरस्तादेव 'आवापः' प्रकृतहोम दर्शपौर्णमासीयो वैवाहिकादिश्च कार्यः ॥ १६ ॥

भा०—स्विष्टकृत् होमके पूर्व ही 'आवाप' अर्घात् दर्शपौर्णमास का, या विवाहादि का प्रकृत होम करे ॥ १६ ॥

**गणेष्वेकम्परिसमूहनमिध्मोवर्हिःपर्युक्षणमाज्यमाज्य-
भागौ च सर्वभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति १७, १**

'गणेषु' बहुप्रायापेषु कर्त्तव्येषु आवापबहुत्वानुरोधतस्तत् पूर्वापरकार्या-
णामपि बहुत्वं न भवेदित्याह—'परिसमूहनमित्यादिकम् पूर्वोक्तं समस्तमेव 'एकं' सकृदेव भवति, किञ्च 'सर्वभ्यः' 'समवद य' अथदानपूर्वकहोमान-
न्तरं 'सौविष्टकृतं' 'सकृत्' एकवारमेव 'जुहोति' न तु आवापसहस्रानु-
गुणमिति यावत् ॥ १७, १८ ॥

* दशपैश्याय वा प्रवत होम पीछे वहा जगैण (स० २२, २५)। विवाहादि समस्त कार्यो वा ही प्रकृत होम होना है। प्रवत होम वा ही एकवाप, वही है। स्पष्ट ही १८ व १७, ये पहले उपवाहोम और उपवा-
मार्ग परितः—होम मुखा वरों हैं और इत में स्विष्टकृत् होम करना होता है। ये चर प्रसार में होम-चर हवनग
निर्देश करते हैं। १७—१८ ॥

भा०—जिस स्थान में बहुत आवाप कर्त्तव्य हों, वहां आवाप के बहुत होने से इधम (लकड़ी) ग्रहण आदि कार्य अनेकवार नहीं किये जावेंगे, और सब ही आवाप के लिये पहिले की नाई चरुग्रहण पूर्वक होम आदि गेय पीछे सब के अन्त में एकही बार 'स्विष्टकृत्, होम करे ॥१७, १८॥ हुत्वेतन्मेक्षणमनुग्रहरेत्प्रक्षाल्य वैतेनोद्धृत्य भुञ्जीत १९, २०

'एतत्' स्विष्टकृत् होमं हुत्वा 'अनु' पश्चात् अनावश्यकमिति मत्वा तद्धोममात्रहोमसाधनं 'मेक्षणं' 'ग्रहरेत्' प्रक्षिपेत् अग्राविति शेषः । 'वा' अथवा 'प्रक्षाल्य' तन्मेक्षणं रक्षेत् यथाकालम् 'एतेन' मेक्षणेनैव 'उद्धृत्य' अन्नं 'भुञ्जीत' यजमानः । एवञ्च मेक्षणेन भोजनं यस्य सुखकरं स न प्रक्षिपेदिति भावः ॥१९, २०॥

भा०—इस 'स्विष्टकृत्' होम के पीछे मेक्षण, अनावश्यक हो तो, उसे अग्नि में फेंक देवे या भोजनार्थ आवश्यक निश्चित होने पर उसे धो कर रखे एवं यथा समय उस के द्वारा भोजन करे ॥ १९ । २० ॥

न स्तुवमनुग्रहरेदित्येकआहुः ॥ २१ ॥

'एको' आचायाः स्तुवं न अनु ग्रहरेत्—'इति आहुः' तदपि सम्मतम् ॥२१॥ अघेदानीमाहिताग्न्यानाहिताग्न्योर्दशंपौर्णमासावापमन्त्रभेदमाह—

भा०—कोई २ आचार्य कहते हैं कि 'कार्य के अन्त में स्तुवा भी धोकर रखे, उसे अग्नि में न डारे, तौ भी कोई हानि नहीं ॥ २१ ॥

आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दशंपौर्णमासयोः स्थालीपाकस्यादाग्नेयो वाग्नीषोमीयो वाऽऽहिताग्नेः पौर्णमास्यायामैन्द्रो वैन्द्राग्नी वा माहेन्द्रो वा अमावास्यामपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दशंपौर्णमासयोरग्नेयएव स्यात् ॥ २२-२५

'अनाहिताग्नेः' अनाग्निहोत्रिणः 'उभयोः', कयोरित्याह 'दर्शपौर्णमासयोः' 'स्थालीपाकः' स्थाल्यां पक्वचरुः 'आग्नेयः' अग्निदेवताकः 'स्यात्' उपस्तीर्णाभिघारितं चरुं गृहीत्वा 'अग्नेये स्वाहा' इति मन्त्रेणैवापरोहोम आयापो दर्शपौर्णमासयोरनाहिताग्नेरित्येव पर्यवसितार्थः । 'आहिताग्नेः' नित्याग्निहोत्रिणस्तु 'पौर्णमास्यायाम्' 'आग्नेयः' एव 'वा' अथवा 'अग्निषोमीयः' किञ्च 'अमावस्यायाम्' 'ऐन्द्रः वा ऐन्द्राग्रः वा माहेन्द्रः वा' स्थालीपाकः स्यादिति । 'अपिवा' 'आहिताग्नेरपि' 'उभयोः दर्शपौर्णमासयोः' 'आग्नेयः एव' 'स्यात्' ; अस्मिन् पक्षे आहिताग्न्यानाहिताग्न्योर्न

कोऽपि भेदइति फलितम् ॥२२-२५॥ यज्ञवास्तुनामकमपरमपि किञ्चिदुपदिशति—

भा०:—इस के पीछे दर्शपौर्णमास के 'आवाप-मन्त्र' कहते हैं—यदि यजमान 'अग्निहोत्री' हो तो, 'दर्श' और 'पौर्णमास' दोनों याग में 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से 'उपस्तीर्णाभिघारित' चरु होम करे; और यदि अग्निहोत्री हो, तो 'पौर्णमासयाग' के आवाप 'होम' में 'अग्नये स्वाहा' या 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' यह मन्त्र व्यवहार करे। और 'अमा-वास्यायाग' में 'इन्द्राय स्वाहा' या 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार करे। या अग्निहोत्री भी 'दर्श' 'पौर्णमास' दोनों ही याग में, अग्निहोत्री की नाई 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देवे ॥ २२-२५ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्ययज्ञवास्तु करोति तत एव बर्हिषः कुप-
मुष्टिमादायाज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि
मूलानीत्यक्तं रिहाणा व्यन्तु वय इत्यथैनमद्विरभ्युक्ष्याग्नावप्य-
र्जयेद्यः पशूनामधिपतीरुद्रस्तन्तिचरोवृषापशूनस्माकं माहि-
० सीरेतदस्तु हुतन्तव स्वाहेत्येतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते ॥२६-२९॥

'समिधम् आधाय अनु पर्युक्ष्य' पूर्वोक्तप्रकारेण समिदाधानं प्रकृत्य पर्युक्षणञ्च समाप्य तस्मिन्नेव काले 'यज्ञवास्तु' नाम किञ्चित् कार्यं 'करोति' कुर्यात् दर्शपौर्णमासादौ। कथमित्याह—'तत एव बर्हिषः' आस्तृतकुशसमूहदेव 'कुशमुष्टिम्' मुष्टिमितानि कुशतृणानि 'आदाय' संगृह्य 'आज्ये वा' पूर्वोक्तान्यतमे या, 'हविषि वा' पक्वचरौ वा 'अग्राणि, मध्यानि, मूलानि' 'इति' एवं 'त्रिः' त्रिवारम् 'अवदध्यात्' अज्जयेत् 'अक्तं रिहाणा व्यन्तु वयः'—'इति' अनेन मन्त्रेणेति। 'अथ' अनन्तरम्, तानि 'अद्विः' 'अभ्युक्ष्य' सिकत्वा यः पशूनामित्यादि स्वाहान्तेन मन्त्रेण 'अग्नी' 'अर्जयेत् अपि' क्षिपेच्च। 'एतत्' कर्म 'यज्ञवास्तु'—'इति आचक्षते' ॥ २६-२९ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १८

भा०:—'दर्शपौर्णमासादि' याग में और एक कार्य करना होता है, उसे 'यज्ञवास्तु' कहते हैं। वह पूर्वोक्त प्रकार से 'समिदाधान' प्रभृति पर्युक्षण 'पर्यन्त कर्म के पीछे किया जावेगा। जैसे—आस्तृत कुशसमूह से एक मुष्टी कुश लेकर आज्य या चरु में अथ, मध्य, मूल, इस क्रम से 'अक्तरिहाणा' इस मन्त्र को पढ़ कर तीन बार जल सींचे। तत्पश्चात् उसे जल से साफ करके 'यः पशूनामधिपतिः' इत्यादि मन्त्र पाठ करके उसे अग्नि में छोड़ देवे, इसी को 'यज्ञवास्तु' कहते हैं ॥ २६-२९ ॥ १ । ८

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१८॥



[प्र० १ खं० ८ सू० २६-२९ खं० ९ मू० १-१२] दशंपीठंभासप्रकरणम् ॥ ५१

अथैतद्विविच्छिष्टमुदगुद्वास्योद्धृता ब्रह्मणे यच्छेत् तं
तितर्पयिषेद् ब्राह्मणस्य तृप्तिं मनु तृप्यामीति ह यज्ञस्य
वेदयन्तेऽथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धं स्यात् ॥ १-४ ॥

‘अथ’ महाव्याहृतिहोमानन्तरम् । ‘एतत्’ ‘उच्छिष्टम्’ अवशिष्टं
‘हविः’ चर्वन्नं ‘उदक्’ अग्नेरुत्तरस्मिन् ‘उद्वास्य’ संस्थाप्य ‘उद्धृत्य’ पात्रान्तरे
गृहीत्वा ‘ब्रह्मणे’ ब्रह्मनामत्विंजे ‘प्रयच्छेत्’ । ‘तं’ ब्रह्मणा ‘तितर्पयिषेत्’
अतिशयेन तर्पयितुं तृप्तं कर्तुमिच्छेत् । ‘ह’ यतः ‘ब्राह्मणस्य तृप्तिम् अनु-
तृप्यामि’—‘इति’ ‘यज्ञस्य’ यज्ञपुरुषस्य अभिमतं ‘वेदयन्ते’ ऋषयः ;
ब्राह्मणतृप्तयार्थमेव यज्ञानुष्ठानमिति भावः । ‘अथ’ किञ्च ‘अन्यत्’ अपरमपि
भक्तादिकं ‘यत् अव्यम्’ ‘अस्य’ यज्ञमानस्य ‘उप’ उनीषे ‘सिद्धं’ स्यात्
तदपि तस्मै देयमिति ॥ १-४ ॥

भा०—यज्ञ का शेष कार्य कहा जाता है । प्रथम, इस महाव्याहृति
होम के पीछे अवशिष्ट चरु को अग्नि के उत्तर दिशा में रख कर उसी चरु-
स्थाली से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा, उसे ऋत्विक् को देवे, उस समय
यज्ञमान के निकट में यदि और भी दूसरा ऋक्, भात प्रभृति हो, तो उसे भी
उन को देना चाहिये । जिस किसी प्रकार हो उन्हें तृप्त करने की इच्छा
वले; कारण, यह है कि ऋषिगण—कहते हैं कि ब्राह्मण की तृप्ति अनुसार
ही हम तृप्त होते हैं—यही यज्ञपुरुष का अभिप्राय है ॥ १-४ ॥

अथ ब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत् । ५ ॥

‘अथ’ अनन्तरं ‘भक्तेन’ अनेन ‘ब्राह्मणान्’ निमन्त्रितान् ‘उपेप्सेत्’ सम्बहु-
नेच्छेत् भोजयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

भा०—अनन्तर द्वितीय कार्य,—निमन्त्रित ब्राह्मण आदिक को भात
प्रादि खिलाकर ही परितृप्त करे ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् कथं स चमसं वा-
न्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वापि वा फलानामेवैतं
पूर्णपात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयं होता
भवति पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणाऽपरिमितं परा-
र्ध्यमपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतं
सहस्राणि ददौ ॥ ६-१२ ॥

‘पूर्णपात्रः’ पूर्णपात्रम् ‘दक्षिणा’ भवति दर्शपौर्णमासादि यागस्येति । ‘तं’ दक्षिणारूपं पूर्णपात्रं ब्रह्मणे ब्रह्मनामस्त्विजे ‘दद्यात्’ । किन्नात् पूर्णपात्रमिति ? वदति—‘कांसं’ कांस्यपात्रम्, ‘धमसं’ पानपात्रं ‘वा’ ‘कृतस्य’ पक्षस्य ‘अकृतस्य’ अपक्षस्य ‘वा’ ‘अन्नस्य’ समूहैः, ‘अपि वा’ ‘फलानां’ समूहैः ‘पूरयित्वा’; ‘एतम् एव’ पूर्णपात्रम् इति आचक्षते । दर्शपौर्णमासादौ कर्मणि ब्रह्मा एव एकः अत्यिक्त्वरणीयः बहुतराणामृत्विजां नापेक्षः । होतृकार्यं कथं भवेदित्याह— ‘पाकयज्ञेषु’ दर्शपौर्णमासप्रभृतिषु ‘स्वयं’ यजमान एव ‘होता’ भवति भवेन्नाम । ननु दर्शपौर्णमासादिपाकयज्ञस्य पूर्णपात्रं दक्षिणा विहिता, ततोऽधिकदाने दोष सञ्जायते किम् ? नेत्याह—‘पाकयज्ञानां’ पाकैः पर्वत्रैर्यजनीयानां दर्शपौर्णमासादीनां कर्मणां पूर्णपात्रः पूर्णपात्रम् ‘दक्षिणा’ ‘अधमः’ अधमम् अधमं न्यूनकल्पत इति यावत् । ‘अपरिमितम्’ बहुसङ्ख्यकस्पर्शादिकमेव दक्षिणा ‘पराध्यम्’ उक्तं प्रशस्तमित्यर्थः । अत्र बहुतरदानव्यवहारोऽपि निदर्शयते— ‘हं’ निश्चयम्; ‘पैजघनः’ पिजघनस्य पुत्रः ‘मुदाः’ ऋषिः ‘ऐन्द्राग्नेन’ स्थालीपाकेन इन्द्राग्नेन ‘शतं’ शतगुणितं ‘सहस्राणि’ तथा च सत्तं सम्पन्नम् लक्षम् ‘अपि’ दक्षिणाः ‘ददौ’ ॥६-१२॥

भा०—इस दर्शपौर्णमास याग की ‘दक्षिणा’ पूर्णपात्र होगा । वह ‘पूर्णपात्र’ ब्रह्मा नामक अत्यिक्त् को देना चाहिये कच्चा या पका अन्न, या कतिपय फलों के द्वारा ‘कांस्यपात्र’ या ‘धमस’ को भर देने का नाम, पूर्णपात्र है दर्शपौर्णमास प्रभृति कार्य में एक मात्र ब्रह्मा ही ‘अत्यिक्त्’ होना चाहिये । पाक यज्ञ में अर्थात् चक्षुपाक मात्र करके जो यज्ञ किया जाता, इन सब यज्ञों में यजमान ही ‘होता’ होवे । इस स्थानमें और भी जानने की बात है—जो, पाक यज्ञ की, उक्त पूर्णपात्र दक्षिणा न्यून कल्प (अधम) समझना चाहिये । यदि सामर्थ्य ही तो अपरिमित दक्षिणा देना उचित है । पिजघन नामक ऋषि के यंगधर मुदा ऋषि ने, इन्द्राग्नी देवता के सहस्र से स्थाली पाक द्वारा याग करके अर्थात् अमावास्या याग के अनन्तर लार (सुयज्ञ, या मुद्रा या गी) दक्षिणा दीनी थी ॥ ६-१२ ॥

अथ यदि गृह्येऽग्नी सायं प्रातर्होमयोर्व्वा दर्शपूर्णमासयोर्व्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादित्यासायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः सायमाहुतिरामावास्यायाः पौर्णमासं नात्येत्यापौर्णमास्या आमावास्या-

मेतेनैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेतापि वा यज्ञि-
यानामेवौपधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा अप-
यित्वा जुहुयादप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ-
रेडो हुतं होव ॥१३-१७॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरम् । ‘यदि’ ‘गृह्येऽग्नी’ ‘सायम्प्रातर्होमयोर्वा’ ‘दर्शपूर्णमा-
सयोर्वा, कर्मणोः’ ‘हव्यं’ हवनीयमाज्यादिकं ‘वा’ अपि ‘होतारं’ स्वयमशक्तौ
प्रतिनिधिं ‘न अधिगच्छेत्’ नाप्नुयात्, तर्हि ‘कथं’ केन प्रकारेण ‘कुर्यात्’ सायम्प्रा-
तर्होमौ दर्शपूर्णमासौवे त्यागश्छा । इनामागच्छामपनुदति, — ‘आ सायमाहुतेः’
सायमाहुतिकालं यावत् ‘प्रातराहुतिः’ प्रातर्हवनकालो ‘न अत्येति’ नातिक्रमते,
एवम् ‘आ प्रातराहुतेः सायमाहुतिः,’ किञ्च ‘आ अमावास्यायाः’ अमावास्यामा-
रभ्य ‘पौर्णमासं’ यावत् अमावास्याहवनकालो ‘न अत्येति’; एवमेव ‘आ पौर्ण-
मास्याः’ पौर्णमास्यामारभ्य ‘अमावास्या’ यावत् पौर्णमास्याहवनकालो नात्ये-
त्येव । तद्विषयं हव्यहोत्रोन्नयेषणाय सायम्प्रातराहुत्योश्चत्वारि यामा अवकाशः,
दर्शपूर्णमासयोस्तु पञ्चदशाहानि । ‘एतेन’ चतुर्थामरूपेण पञ्चदशाहात्मकेन वा
‘अवकाशेन एव’ ‘हव्यं’ होतारं वा ‘लिप्सेत’ लङ्धुमिच्छेत् । ‘अपिवा’ होत-
लाभे ‘यज्ञियानाम् औपधिवनस्पतीनां फलानि पलाशानि वा एव अपयित्वा
जुहुयात्’ । ‘अपि’ तदलाभे च ‘अन्ततः’ अपएव उदकाम्येव ‘जुहुयात्’, ‘ह’
निश्चयम्, ‘पाकयज्ञः’ पाकयज्ञनिमित्तः ‘इति’ एवं ‘रेडः’ नामर्षिः ‘आहू स्’, तथा च
फलाद्याहुतो अपि ‘हि’ निश्चयं ‘हुतम् एव’ स्वीकार्यमस्माकम् । १३-१७ ॥

भा०:-यदि किसी दैवी दुर्घटना से गृह्याग्नि में सायं और प्रातर्होम और
दर्श पौर्णमास याग करने के लिये ‘मामग्री’ इकट्ठी न हो, या पीड़ा आदि
निवन्धन से स्वयं और पत्नी दोनों ही असमर्थ हों और उस समय ग्रीष्म कीर्द्ध
प्रतिनिधि (बदले में दूसरा व्यक्ति) भी दुष्प्राप्य हो, तो ऐसे दशा में, सायं
होम करने पर्यन्त भी प्रातराहुति का समय अतीत न समझा जायेगा और
प्रातराहुति के समय पर्यन्त भी मायं होम का समय अतीत न समझा जायगा
(ऐसी दशा में) अमावास्या मे पूर्णिमा के पूर्व दिन पर्यन्त १५ दिन मे चाहे
जिम दिन हो, ‘अमावास्या याग’ हो मकेगा । और पूर्णिमा से अमावास्या
के पूर्व दिवस पर्यन्त १५ दिन में मे चाहे जिस किमी दिन हो ‘पौर्णमासयाग’
हो मकेगा इतने समय में ओ कुछ मामग्री न हो, उमे इकट्ठी करे और होता
भी कहीं मे दूढ़ कर लाये। यदि हवनीय अवादि इकट्ठा न हो, तो उममे भी

हानि नहीं, फल से भी हवन हो सकता है, यदि यह भी न हो तो धान्य, शस्य, वृक्ष का, या आम्र आदि वनस्पति के पत्र से भी होम का काम पूरा करे, एह नामक ऋषि कहते हैं कि निदान कुछ न मिलने पर केवल जल से भी याग करे (पर नियम न तोड़े) ॥ १३-१७ ॥

अहुतस्याप्रायश्चित्तं भवतीति नाव्रतो ब्राह्मणः स्यादिति ॥ १८, १९ ॥

अथाप्युदाहरन्ति यावन्न हूयेताभोजनेनैव तावत् सन्त-
नुयादथ यदाधिगच्छेत् प्रति जुहुयादेमप्यस्य व्रतश्च सन्ततं
भवतीति ॥ २०-२३ ॥

‘अहुतस्य’ गृह्येऽग्नौ सायम्प्रातराहुती येन न हुते, नापि दर्शपौर्णमासयो-
हुते येन, तस्य ‘प्रायश्चित्तं’ कर्त्तव्यं ‘भवति’—‘इति’ हेतोः ‘ब्राह्मणः’ ‘अव्रतः’
नियमाहुतिदानशून्यः ‘न न्यात्’ ‘इति’ आदेशः । १८, १९ ॥

‘अथ अपि’ अपरमपि पक्षम् ‘उदाहरन्ति’ वदन्ति आचार्याः । तथाच—
‘यावत्’ कालं ‘न हूयेत’ सायम्प्रातर्होमौ दर्शपौर्णमासहोमौ वा ‘तावत्’ ‘अभो-
जनेन’ भोजनमकृत्वैव ‘सन्तनुयात्’ कालहरणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरं काला-
तीतेऽपि ‘यदा’ यस्मिन्नेव समये ‘अधिगच्छेत्’ हव्यं होतारं वा, तदैव ‘प्रति
जुहुयात्’ सायमादिकालं प्रतीदय जुहुयात् । ‘एवमपि’ अभोजनेन दिनकर्त्तने-
नापि ‘व्रतं’ नित्यानुष्ठेयं ‘सन्ततम्’ अविच्छिन्नं ‘भवति’; ‘इति’ गतमिदं प्रक-
रणं नित्यानुष्ठानाय । २०-२३ ॥

भा०—यदि ऐसी कोई घोर आपत्ति हो जावे कि जिससे जल मिलना भी कठिन
हो या न मिले, तो जय तक होम का उपाय न हो, भूरे रहे, पश्चात् जिस समय
हवनीय पदार्थ पावे या ‘होता’ मिले, उसी समय ठीक समय पर सायं या
प्रातराहुति प्रदान करे और दर्श या ‘पौर्णमास याग’ करे । इस प्रकार भी
वक्त कार्यों की नियमित-कर्त्तव्यता रक्षा करे परन्तु ब्राह्मण किसी प्रकार भी
बिना ‘व्रत’ न रहे, व्रतशून्य होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ॥ १८-२३ ॥

एषोऽत ऊर्ध्वं हविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

‘अत ऊर्ध्वं’ इतः परं ‘हविराहुतिषु’ हविर्भिः चरुभिर्निष्पाद्येषु नेमिति-
केषु काम्येषु च सर्वेष्वेव होमेषु ‘एषः’ एष ‘न्यायः’ प्रकारः, अर्थतः पृथमुपचा-
तहोमद्वयं ततश्च उपस्तीर्णाभिपारितं प्रकृत्यैव हवनं कार्यमिति ॥ २४ ॥

भा०—इस के पीछे चरुद्वारा होने योग्य जितने याग कहे जायेंगे,
उन सब स्थानों में भी ठीक २ उसी प्रकार उलूखल, मृमल, स्थापनादि कार्य
करना चाहिये ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

‘मन्त्रान्ते’ हविःप्रदानमननसाधनवाक्यान्ते पूर्वत्र परत्र च सर्वत्रैव होमे ‘स्वाहाकारः’ स्वाहापदं प्रयोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

भा०—आहुति के सब मन्त्रों ही के अन्त में ‘स्वाहा’ यह पद जोड़ कर प्रयोग करे (बोले) ॥ २५ ॥

आज्याहुतिष्वज्यमेव सत्स्वकृत्योपघातं जुहुयान्नाज्य-
भागौ न स्विष्टकृदाज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्च
महाव्याहुतिभिर्होमो यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्मण्युप-
नयने गोदाने च ॥ २६-२८ ॥

‘आज्याहुतिषु’ यत्र हविर्भिन्नं हवनं विधेयमपि तु आन्त्यैरेवाहुतयो विधा-
स्यन्ते, तत्र ‘आज्यमेव संस्कृत्य’ चरुपाकाद्यायोजनमननसंयुक्तमित्यलूखलाद्युपसाद-
नादिकमकृत्वैव ‘उपघात’ प्रकृतयागस्योपोद्घातरूपमेकमेव होमं ‘जुहुयात्’, ‘न
आज्यभागौ’ चतुर्गृहीताद्याज्यभागद्वयात्नकमुपघातसवनं न कार्यम्; ‘न स्विष्टकृद्’
स्विष्टकृद्यागोऽपि तत्रानावश्यकः । अपिच ‘आज्याहुतिषु’ सर्वत्रैव ‘अनादेशे’
विशेषविध्यभावे सुतरां गर्भाधानादी ‘पुरस्तात्’ प्रधानकर्मणः ‘उपरिष्ठाच्च’ तस्य
‘महाव्याहुतिभिः’ भूर्भुवःस्वरिति ममस्ताभिः ‘होमः’ एकएव कार्यः । ननु चूडा-
करणादावपि नास्ति कश्चिद् विशेषादेशइति तत्रापि किमेकएव होमो महा-
व्याहुतिभिरिति ध्युद्देश्यत्वेनातिदेशसूत्रेण, —‘पाणिग्रहणे’ पाणिग्रहणनिमित्ते
सति ‘यथा’ वक्ष्यामी होम-चतुष्टयम् ‘महाव्याहुतिभिश्च’ पृथक् ममस्ताभिश्च-
तुर्थीम् इति ‘चूडाकर्मणि, उपनयने, गोदाने च’ ‘तथा’ एव कार्यं होमचतुष्ट-
यमित्यतिदेशसूत्रम् ॥ २६-२८ ॥

भा०—जो २ होम केवल आज्य ही द्वारा होने योग्य हैं, उन में आज्य-
संस्कार मात्र करना योग्य है, अलूखल स्थापनादि की उन में आवश्यकता
नहीं । और ऐसे स्थान में चरु होम की जाई चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत (४ या
५ बार लिया हुआ) आज्यद्वारा दो ‘उपघात’ नामक होम करना आवश्यक
नहीं, एक ही बार ‘उपघात’ होम करे और ‘उपस्तीर्णाभिधारित’ होम भी
अनावश्यक है और ‘स्विष्टकृत’ होम भी न करे । आज्याहुति के बदले और
भी विशेषता है जो जिस किसी स्थान में विशेष विधि नहीं * ऐसे स्थान में
प्रकृत (मुख्य) याग के पहिले और पीछे “भूः, भुवः, और स्वः” इन तीन

^१ उ । ^२ तीसदा ^१ वृधःस । ^२ खा । ^२ औ३ ^२ हो ^१ हाइ । ^२ कयार३ ^२ शचाइ ।
^३ ष्यौहो३ ^१ हुम्मा ^२ २। ^१ वात्तो३ऽ५ ^२ हाइ (१) ॥ ^१ काऽ५स्त्वा ।
^४ सत्योऽ३ ^२ मा३ ^४ दानाम् । ^५ मा । ^१ हिष्ठोमात्सादन्ध । ^२ सा । ^२ औ३
^२ होहाइ । ^१ दृढार३ ^२ चिदा । ^३ रुजौहो३ । ^२ हुम्मार । ^१ वाऽ३ ^२ सोऽ५
^२ हायि ॥ (२) ॥ ^३ आऽभी । ^४ युणा३ः ^२ सा३ ^४ रवीनाम् । ^५ आ । ^२ विंता
^१ जरायित् । ^२ णाम् । ^१ औ३ ^२ होहायि । ^२ शता३ ^१ म्भवा । ^२ सि-
^२ यौ हो३ । ^१ हुम्मार । ^२ ताऽ२ ^१ योऽ५ ^२ हायि ॥ (३) सामवेद० उ०
अ० १ खं० ३ । म० १ । २ । ३ ॥

अथ द्वितीयप्रपाठकः ॥

॥ ओं ॥ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १

‘पुण्ये नक्षत्रे’ ज्योतिःशास्त्रोक्ते ‘दारान्’ पत्नीं ‘कुर्वीत’ स्वीकुर्वीत । १

भा०:-जिन नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा का समागम उत्तम होता है
(‘रोहिणी आदि’) ऐसे समय में विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन । २

कीदृशान् दारानित्याह-‘लक्षणप्रशस्तान्’ प्रशस्तलक्षणोपेतान् ‘कुशलेन’
लक्षणाभिज्ञजनेन परीक्षयेति । २

भा०:-जो लोग सुलक्षण कुलक्षण समझ सकते, ऐसे एक अभिज्ञ जन कर्तृक
परीक्षा करा कर प्रशस्त लक्षण वाली कन्या से विवाह करे ॥ २ ॥

तदलाभे पिण्डान् । ३

‘तदलाभे’ लक्षणपरीक्षकालाभे लक्षणविधारेण सुलक्षणमाया अभावे च
‘पिण्डान्’ मृत्पिण्डप्राहरणपरीक्षान् कुर्वीतिति । ३

भा०:-यदि उस समय स्त्री लक्षण पहचानने वाला कोई पुरुष न मिले,

महाव्याहृतियों का पाठ कर एक २ आहुति प्रदान करे, परन्तु विवाह की जिस प्रकार व्यवस्था कियी जावेगी ** चूड़ाकरण, उपनयन, और गोदान में भी उसी प्रकार होगी ॥ २६-२८ ॥

अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम् ॥ २९ ॥

‘कर्मणि’ नित्ये, नैमित्तिके, काम्ये वा सर्वत्रैव ‘अपवृत्ते’ समाप्ते सर्वान्ते-
इति यावत् ‘वामदेव्यगानम्’ वामदेव्यनामकस्य साम्नोगानम् (ऊ० गा० १, १, ५)
कर्त्तव्यम्, तच्च ‘शान्त्यर्थं’ भवतीति शेषः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतिका ॥ २९ ॥ ८

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

इति गोभिल-गृह्यसूत्रे प्रथमः प्रपाठकः ॥

भा०—क्या नित्य (प्रति दिन करने योग्य), क्या नैमित्तिक, (किसी निमित्त विशेष से करने योग्य), क्या काम्य (किसी कामना से) सब ही प्रकार के होम के अन्त में ‘वामदेव्य’ * गान करे, उस से सब प्रकार की आपत्तियों की शान्ति होती है ॥ २९-९ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ९ ॥

प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ १ ॥



—०:॥ महावामदेव्य साम ॥००:—

३ २ ४ २ ४ ५

महावामदेव्यम् ॥ काऽध्या १ नञ्चा ३ इत्ता ३ आभुवात् ।

* विवाह में विराम विधि यह होता कि ६भू, भुव, स्वे, इन तीन महाव्याहृतियों को द्वारा भिन्न २ तीन और फिर इन को एकत्र वरक पड़े और एव, सुतरा ४ होम करना चाहिये । उक्त महाव्याहृति आदि भिन्न २ कर होम करने का हा नाम वारुहोम है और एकत्रित पाठ पूर्वक होम करने को ‘समस्तहोम’ कहते हैं । विवाहादि में व्यस्त—समस्त (अलग और एकत्र) दोनों प्रकार होम होते हैं ॥

* इदं आचिन्वक के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीयाद में तृतीय दशति के पथम ६६ वयानश्चित्र आ, अक् अलम्बन वरके तीन साम मत्र गाये गये हैं, वह एवेव गान, के पथम प्रपाठक के प्रथमाद में २३, २४, २५ हैं उन में तृतीय आर्षेय आक्षेपक (१, १६) श्रुतिअनुसार ‘वाम देव्य’ । उत्तरार्चिक के प्रथम प्रपाठक के प्रथमाद में द्वादश सूक्त के प्रथम भी ‘वयानश्चित्र आ, अक् एव’ इस सूक्त के ३३ छंद के और भी दो ‘अक्’ हैं, ६६ यद यो या तदुत्तरयोगायति ॥ तारथ्य आक्षेपक इस श्रुति के अनुसार इन दो में भी ६६ वामदेव्य ॥ गान होता है । इन वामदेव्य वा एवत्र गान होने से महावामदेव्यगान कहता है । यह महावाम देव्य उदयान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमाद में पथम साम है ॥

‘हे अमुकि ! इन पिण्डों में से जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे उठा लो । इस प्रकार कहने पर वह, यदि उक्त चार में से एक अर्थात् वेदी, कृष्टभूमि, हृद, या गोशाला का पिण्ड लेवे तो उस को सुलक्षण समझ कर विवाह करे । कोई २ कहते हैं कि, नवम पिण्ड अर्थात् आठ प्रकार की सृत्तिका जिस में इकट्ठी हैं उसे जो ग्रहण करे, तो उस कन्या के साथ भी विवाह कर सकते हैं, किन्तु चतुष्पद, द्यूत स्थान, शमशान, या उपर सृत्तिका के ग्रहण करने से कदापि विवाहने योग्य नहीं ॥ कन्यापरीक्षा पूरीहुई ॥ ७-८ ॥

क्लीतकैर्यवैर्मपैर्वाऽऽप्लुताऽऽ सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्धं न्यभिपिञ्चेत् कामवेद ते नाम मदोनामासीति समानयामुमिति पतिनाम तृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ज्ञातिकर्मैतत् । १०, ११ ॥

‘क्लीतकैः’ चूर्णकृतैः ‘यवैः मासैः वा’ ‘आप्लुताम्’ भर्दिताङ्गां कन्यां ‘सुहृत्’ कन्यायाएव काचित् सखी ‘सुरोत्तमेन’ उत्कृष्ट जलेन ‘सशरीरां’ शरीरसहितां तां ‘त्रिर्मूर्द्धं’ मस्तके ‘त्रिः’ त्रिवारम् ‘अभिपिञ्चेत्’ । तत्र “काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुत्तरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्रे तपसो निर्मितोसि स्वाहा ॥२॥ इमन्त उपस्थं मधुना सथंसृजामि प्रजापतेभुंसमेतद् द्वितीयम् । तेन पुथंसोऽभिभयासि सर्वानवशान्वशिन्वसि राक्षी स्वाहा ॥३॥ अग्निं क्रव्यादकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमुपयः पुराणाः । तेनाज्यमकृणथंस्त्रैशृङ्गत्वाट्टं त्वयि तद्वधातु स्वाहा” ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० १, १,) अग्निभरभिपिञ्चनम् तत्र च समानयामुमिति मन्त्रे अमुनित्यस्य स्थाने ‘पतिनाम’ भाविभर्तृनाम ‘तृह्णीयात्’ । किञ्चोक्ताभिपिञ्चनमन्त्राणाम् ‘उत्तराभ्यां’ द्वाभ्याम् ‘उपस्थं’ कन्याया विशेषेण ‘प्लावयेत्’ धावयेत् । ‘एतत्’ अभ्यङ्ग-मर्दनं पूर्वकमुपस्थधावनान्तं स्नानं ‘छातिकर्म’ इत्युच्यते-इति गतं छातिकर्म ॥१०, ११॥

भा०—यद्य चूर्ण, या उड़द, फलाह्न के चूर्ण से कन्या का सर्वाङ्ग मर्दन कर कन्या ही की किसी सखी द्वारा उसी कामवेद प्रभृति स्वाहा कारान्त मन्त्रत्रय पढ़ कर कन्या के साथे पर तीन बार उत्तम जल ढाल दे, इस प्रकार जल ढाल देवे जिस से कन्या का शरीर अच्छे प्रकार धो जावे, विशेषतः इन तीन के शेष (३ व और ४ वं) दो का पाठ कर इस कन्या के उपस्थ इन्द्रिय (मज्जन-प्रदेश) अच्छे प्रकार धो दे । इसी को ‘छातिकर्म’ कहते हैं ॥१०, ११॥

या लक्षणा देखने से सब लक्षणों से सुसम्पन्न कन्या न पाई जावे, तो कन्या को डेला छेला कर उस की इस प्रकार परीक्षा करे कि ॥ ३ ॥

वेद्याः सीताया हृदादुगोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहना-
दीरिणात्सर्वेभ्यः सम्भार्यं नवमं समान् कृतलक्षणान् ॥ ४-६

‘वेद्याः’ ‘यज्ञीयवेदीतः’ ‘सीतायाः’ लाङ्गलकृष्टस्थानात्, ‘हृदात्’ अगाध-
जनस्थानात्, ‘गोष्ठात्’ गोस्थानात्, ‘चतुष्पथात्’ ‘आदेवनात्’ देवनं द्यूतस्थानं
तस्यात्, ‘आदहनात्’ श्मशानात्, ‘ईरिणात्’ उपरप्रदेशात् सदो गृहीत्वा
‘समान्’ तुर्यप्रगणादिकान् किञ्च ‘कृतलक्षणान्’ यतश्च यो मृत्पिण्डो गृ-
हीतः तद्गृहीतकचिन्हीकृतान् पिण्डान् कुर्वीतेति अष्टौ पिण्डाः सम्पन्नाः ।
‘सर्वेभ्यः’ पिण्डेभ्यएव ‘सम्भार्यं’ किञ्चित् किञ्चिदाहतमपि पिण्डमेकं कुर्वीत,
तदेव ‘नवमं’ पिण्डानां भवेत् ॥ ४-६ ॥

भा०—यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाधि जल स्थान से, या गोशाला
से, चतुष्पथ से, या द्यूतस्थान से, श्मशान से, उपर भूमि में से कुछ २ मिट्टी लेकर
आठ स्थानों में भिन्न २ उस मिट्टी को पिण्ड बनाकर रखे, और इन पिण्डों
में से कुछ २ मिट्टी निकाल कर एक पिण्ड रखे इस प्रकार ९ पिण्ड रखे ॥ ४-६ ॥

पाणावाधाय कुमार्या उपनामयेदृतमेव प्रथम-मृतं
नात्येति कश्चनर्त्तइयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूया-
दिति तस्या नाम गृहीत्वैपामेकं गृहाणेति ब्रूयात्पूर्वपां
चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् सम्भार्यमपीत्येके ॥ ७-९ ॥

उक्तान् पिण्डान् ‘पाणी’ ‘आधाय’ ‘कुमार्याः’ विवाहार्थपरीक्षणीयायाः
‘उप’ समीपे ‘नामयेत्’ स्थापयेत् । तत्र मन्त्रः—ऋतमेवेत्यादिर्भूयादित्यन्तः ।
ततश्च ‘तस्याः’ कुमार्याः ‘नाम’ गृहीत्वा तां सम्बोधयित्वेति यावत्, ‘एषा’
पिण्डानां नवानाम् ‘एकं’ यं कमपि ‘गृहाण’—‘इति’ ब्रूयात् । तथाचोक्ते-
‘पूर्वपां चतुर्णां’ वेदी-सीता-हृद-गोष्ठीयमृन्निर्मितानां यं कमपि ‘गृह्णन्तीम्’
ताम् ‘उपयच्छेत्’ उद्गृहेत् । ‘एके’ आचार्याः ‘सम्भार्यं’ नवमं पिण्डं गृह्णन्तीमपि
उपयच्छेत् इत्याहुः । चतुष्पथ-देवन-श्मशानोपरस्थानीयमृन्निर्मितपिण्डानां-
मेकतमं गृह्णन्तीं दुर्लक्षणेति नोद्वाह्येति मुतरां फलितम् । इति कन्यापरीक्षणम् ७-९

भा०—उक्त नव पिण्डों को हाथ में लेकर जो कन्या विवाह के लिये
हो उग के निकट लावे, और ‘ऋत’ प्रभृति मन्त्रों का पाठ कर बोले कि

भा०:-उस के बाद, घर जिस कन्या का पाणिग्रहण करे, उस को भस्मक पर्यन्त स्नान करा देवे। यह विवाह के दिन कन्या का स्नान होता है ॥१७॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् या अकृन्तन्नित्येतयञ्चा परिधत्त धत्त वाससेति च ॥ १८ ॥

एतत्स्नानानन्तरं 'पतिः' भावी "या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत, याञ्च देव्यो अन्तानभितो ततन्व। तास्त्वा देव्यो जरसा संव्यन्त्वायुष्मतीदं, परिधत्स्व शासः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १.१.५)-'इत्येतया ऋचा' "परिधत्त धत्त वाससेनाथं, गतायुपीथं कृणुत दीर्घनायुः। शतं च जीव शरदः सुवर्षा, वसूनि चार्यं विभृजासि जीवन्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १. १. ६)-'इति' अमया ऋचा 'च' 'अहतेन' अख-
श्वेन 'वसनेन' परिदध्यात् अहतं वसनं तां परिधापयेदित्यर्थः। इति कन्या-
शासःपरिधापनम् ॥ १८ ॥

भा०:-इस स्नान के पीछे भावी-पति 'या अकृन्तन्' यह मन्त्र एवं 'परि धत्त धत्त वाससा' यह मन्त्र पढ़ कर उस कन्या को अखश्व वस्त्र (किसी पूरे वस्त्र में से काढ़ कर न लिया हो) पहनावे। यही "कन्यायासपरिधापन" है ॥१८॥

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददद्गन्धर्वायेति पश्चादग्नेः संवेष्टितकटमेवज्जातीयं वाऽन्यत् पदा प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति त्रयञ्जपेदजपन्त्याम्प्रास्याइतिवर्हिपोऽन्तङ्कटान्तम्प्रापयेत् १९-२२

ततश्च 'प्रावृतां' आच्छादितां किञ्च 'यज्ञोपवीतिनीं' यज्ञोपवीतयुतां तां कन्याम् 'अभि' अभिमुखम् 'उत्' उत्कृष्टरूपेण 'आनयन्' समीपमानीय भावी पतिः"सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददद् अग्रे रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो-
इमाम्" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १. १. ७)-'इति' मन्त्रं 'जपेत्' पठेत्। अपिच 'अग्नेः पश्चात्' 'संवेष्टितं कटम्' एवज्जातीयं कटतुल्यम् 'अन्यत्' आस्तरणं या 'प्रवर्त्त-
यन्तीं' पदा चालयन्तीं 'प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताथं' शिवा अरिष्टा पति-
लोकं गमेयम्" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १. १. ८)-'इति' यथू 'वाचयेत्'। 'अजपन्त्यां' तस्यां"प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पताथं शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः" ॥९॥
(म० ब्रा० १. १. ९)।- 'इति' द्वयं मन्त्रं 'स्वयम्' एव जपेत्। एवमेव चाले-
यन्तीं कटान्तं 'वर्हिषः' आस्तृतस्य 'अन्तं' समीपं 'प्रापयेत्' ॥ १९-२२ ॥

भा०:-पीछे उस कन्या को कपड़ा से ढाक कर, यज्ञोपवीतिनी (कनेउ

पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमा-
हितो भवति । १२

‘पाणिग्रहणे’ करणीये ‘शालायाः’ मध्ये ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्थां दिशि
‘अग्निः’ ‘उपसमाहितः’ संस्थापितः ‘भवति’ भवेत् । १२

भा०:-पाणि-ग्रहण करने में अग्नि शाला के, या घर के बीच पूर्व दिश
में अग्नि स्थापन करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपाङ्कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः
प्रावृतो वाग्यतोऽग्नेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽव-
तिष्ठते प्राजनेनान्यः शमीपलाशमिश्रात्श्च लाजात्श्चतुर-
ज्जलिमात्राज्छूर्पेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेर्दृशत् पुत्रञ्च १३-१६

‘अथ’ अनन्तरं ‘जन्यानां’ कन्याजातिजनानां मध्ये ‘एकः’ अन्यतमः
‘ध्रुवाणां’ अतिप्रखरतापेक्ष्यशुष्कजलाशयोत्थितानाम् ‘अपां’ कलशं पूरयित्वा
‘प्रावृतः’ वस्त्राच्छादितः, ‘वाग्यतः’ अनियमितवाक्शून्यः, ‘अग्निम्’ तम् ‘अग्नेण’
कृत्वा ‘परिक्रम्य’, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यामग्नेः ‘उदङ्मुखः’ उत्तराभिमुखश्च सन्
‘अवतिष्ठते’ अवतिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात् । ‘अन्यः’ तथैवैकः पुरुषः ‘प्राजनेन’
गवादिचालनदण्डेन साकं प्राजनहस्तव्रति यावत् अवतिष्ठेतैत्येव । ‘शमीप-
लाशमिश्रान्’ ‘चतुरज्जलिमात्रान्’ ‘लाजान् च’ सूर्पेण, कृत्वा तत्रैव ‘अग्नेः’
पश्चात् प्रदेशे ‘उपसादयन्ति’ स्थापयन्ति स्थापयेयुः ये के चात्मीयजना इति ।
‘दृशत्पुत्रं’ दृशदः पेयणाधारस्य शिलाखण्डस्य क्रोडे पुत्रवत् श्रेते य उपलः
पेयणकरः तम् ‘च’ अपि उपसादयन्तीत्येव ॥ १३-१६ ॥

भा०:-इस के अनन्तर कन्या के आत्मीय कोड़े एक जन, जिस जलाशय
का जल कभी न सूखे ऐसे जल में कलश भर कर कपड़े से ढाक कर एकाग्र
हो, अग्नि को सम्मुख रख कर प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के दक्षिण में उत्तर
मुख होकर बैठे । और भी एक व्यक्ति इसी प्रकार डंडा हाथ में लेकर रहे ।
अग्नि के पश्चात् भाग में शमी पत्र मिला चार अज्जलि परिमित लाजा रखे
और एक पेयणकर (लोढ़ा) भी वहीं रसना चाहिये ॥ १३-१६ ॥

अथ यस्याः पाणिग्रहीष्यन् भवति सशिरस्काप्लुताभवति । १७

‘अथ’ अनन्तरं ‘यस्याः’ कन्यायाः ‘पाणिं’ ‘ग्रहीष्यन् भवति’ वरः, मा
कन्या ‘सशिरस्का’, शिरःमहिता आप्लुतां स्नाता ‘भवति’ भवेत् । इति विद्या-
हृदियमीयकन्यापूजानम् । १७

भाः०-उस पैर से चलाई हुई चटाई के पूर्व प्रान्त में पाणिग्रहण के लिये प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर बधू बैठे ॥ २३ ॥ कन्या अपने दहिने हाथ के द्वारा, वर के दक्षिण स्कन्ध छू लेवे, एवं वर, कन्या के ग्रहण द्योतक कल्याण प्रार्थना करने में प्रवृत्त होकर 'अग्निरेतु प्रथमः', प्रभृति छः मन्त्र द्वारा छः आहुति प्रदान करे ॥ २४ ॥ पीछे 'भूः', भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों का पाठ कर, भिन्न २ तीन होम करे ॥ २५ ॥ एवं इन तीन की एकत्र 'भू भुवः स्वः' पढ़ कर चतुर्थ होम सम्पन्न करे ॥ २६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम खण्डका भाषानुवाद पूराहुआ ॥ २, १ ॥

हुत्वोपोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

'हुत्वा' महाव्याहृत्यन्तम् 'उपोत्तिष्ठतः' उपोत्थानं निघः पृष्ठतः स्कन्धा-
पितहस्तौ सन्तौ उत्थानं कुर्वतः दम्पतीति ॥ १ ॥

भाः०-उस महाव्याहृति होम के अनन्तर दोनों एकत्र 'उपोत्थान' करे । अर्थात् उत्थान काल में वर के दहिने हाथ में, कन्या के पीठ पर होकर दहिने स्कन्धे पर, और कन्या के बायें हाथ, वर के पीठ पर होकर बायें स्कन्धे पर रहे ।

अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते
वध्वञ्जलिं गृहीत्वा ॥ २ ॥

'पतिः' 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य' पृष्ठपरिक्रमणेन 'दक्षिणतः' पत्न्या दक्षिणस्यां
गतः पतिः "वध्वञ्जलिं गृहीत्वा" 'उदङ्मुखः' सन् 'अवतिष्ठते' ॥ २ ॥

भाः०-पति, बधू के पीठ की ओर हो कर दहिने ओर चल कर, वन की
अञ्जलि पकड़ कर उत्तर मुंह हो बैठे ॥ २ ॥

पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेद-
श्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

'माता भ्राता वा' 'लाजान्' 'आदाय' गृहीत्वा स्वान्तिके 'वधू' 'दक्षिणेन
प्रपदेन' 'अश्मानं' सोपलशिलापट्टकम् 'आक्रामयेत्' प्यारोहयेत् ॥ ३ ॥

भाः०-माता, या भ्राता लाजा लेकर बधूको दहिने पैरके सप्रभाग से 'अश्मा-
क्रामण' (शिलाहोहण) करावे । अर्थात् लोढ़ा सहित शिला पर (चलावे) ॥ ३ ॥

पाणिग्रही जपतीममश्मानमारोहेति ॥ ४ ॥

तस्मिन्नेवाक्रमणकाले "इममश्मानमारोहामेव त्वयं स्थिरा भव । द्विपः

पहना कर) करके पति अपने सामने निकट लाकर 'सोमोददद्' यह मन्त्र पढ़े, एवं अग्नि के पीछे स्थापित 'कट' या इसी प्रकार का अन्य आसन, उस कन्या के पैर से चलाकर अग्नि के समीप बिछाया हुआ 'बर्हि' तक ले आवे। उस समय इस भावी वधू को "प्र मे" मन्त्र पाठ करावे, वह यदि पाठ न कर सके तो भावीपति 'प्रास्या' मन्त्र स्वयं ही पढ़े ॥ १९-२२ ॥

पूर्वं कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्वारवधायाः पद्माज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिर्महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २३-२६ ॥

'पूर्वं कटान्ते' कटस्य पूर्वप्रान्ते 'पाणिग्राहस्य' पाणिग्रहणे प्रवृत्तस्य भाविपत्युः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्याम् 'उपविशति' वधूरितिशेषः (२३) । दक्षिणेन पाणिना' वरस्य 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्वारवधायाः' अन्वारम्भणं पृष्ठतः स्पर्शनं तत् कुर्वाणायाः वध्वाः ग्रहणद्योतकमङ्गलकामनया "अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः, सोस्यै प्रजां मुञ्चतु सृत्पुपानात्, तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां । यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्याहा ॥ १० ॥ इमानग्निस्थापतां गार्हपत्यः, प्रजामस्यै जारदष्टिं कृणोतु । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता, पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामिदं स्याहा ॥ ११ ॥ द्यौस्ते पृष्ठं रक्षतु वायुरूक् अश्विनौ च स्तनन्धयन्ते पुत्रांसविताभिरक्षत्वयासथं परिधानाद्, वृक्षपतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षतु पद्मात् स्वाहा ॥ १२ ॥ मा ते गृहेषु निशि घोष उत्पादन्यत्र त्वद्दुदत्यः संविशन्तु । मा त्यथं रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके घिराज, पश्यन्ती प्रजाथं तुमनस्यमानाथं स्वाहा ॥ १३ ॥ अमजस्यं पौत्रमस्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णः स्रजगियोन्मुच्य द्विपद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशं स्वाहा ॥ १४ ॥ परितु सृत्पुपानात् ग आगाद्, घेयस्वतो नो अभयं कृणोतु परं सृत्यो अनुपरोहि पन्थां यत्र नो अन्यं इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ध्रुवीमि मातः प्रजाथं रीरिपो मोत घीरांत स्वाहा" ॥ १५ ॥ १ (म० ब्रा० १, १, १०-१५)—इत्येतत् प्रभृतिभिः पद्भिर्मेन्त्रैः 'यद् शाव्याहुतीः ' जुहोति ' जुहुयात् पाणिग्राह इति शेषः (२४) । 'महाप्याहुतिभिः' तिमृभिः 'पृथक्' टिभिश्चः तिस्र आहुतीर्जुहुयात् (२५) । समस्ताभिः' ताभिः 'चतुर्थीम् आहुतिं' च' जुहुयात् (२६) ॥ २२-२६ ॥ इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके प्रथमसंस्कृतस्याख्यानं समाप्तम् २, १

कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवी अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा” ॥३॥
 (म० ब्रा० १, २, ३) — “पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवः पूषा प्रेतो
 मुञ्चातु मा मुत स्वाहा” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, २, ४) — “इति एतौ मन्त्री यथा-
 क्रमेण प्रयोक्तव्यावित्येव विशेषः (७) । ‘एवम्’ प्रथमलाजाहोमेनोत्तरलाजाहो-
 मद्वयमेलनेन सङ्कलनया ‘त्रिः’ होमत्रयं सम्पन्नम् । (१०) । इति गता परिण-
 यक्रिया ॥ ५-१० ॥

भा०—कन्या का भाई, एक ही बार एक अङ्गुलि लाजा लेकर अपनी
 बहिन की अङ्गुलि में देवे, उस भाई की दियी हुई लाजा की अङ्गुलि को
 पूर्वोपदेशानुसार (१८३-४) ‘उपस्तीर्णाभिधारित’ कर अङ्गुलि अलग २ न ही
 जावे, इसप्रकार सावधानी से “ इयं नार्युपब्रूते ” इस मन्त्र से, वधू अग्नि में
 आहुति देवे । ६ । इस प्रकार आहुति देने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण पति ने जिस
 प्रकार गमन किया था, उसी प्रकार । अर्थात् कन्या को आगे लेकर अग्नि की
 प्रदक्षिणा कराते हुये, पुनः आकर ‘कन्यला पितृभ्यः’ इस मन्त्र का पाठ करके
 उस कन्या को ‘परिणीता’ करे । अर्थात् कन्या जो पति लोक पाती है, यह
 बात उसे समझा देवे ॥ ८ ॥ इस प्रकार वधू परिणीता होने पर और भी दो
 बार उसी प्रकार अवस्थान (सू० २), अश्माक्रमण (३ सू०), मन्त्र पाठ,
 (सू० ४), लाजा वपन (सू० ५), और लाजाहोम करे । (८) किन्तु इन
 दोनों होम में पूर्वमन्त्र नहीं पढ़े । प्रत्युत उसके बदले में ‘अर्यमां नु देवं’
 एवं ‘पूषणं’, इन दो मन्त्रों का पाठ यथा क्रम से करे ॥ ७ ॥ इस प्रकार तीन
 लाजा होम सम्पन्न होंगे । इसी को ‘परिणय’ कहते हैं ॥ ५-१० ॥

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामन्त्येकमिप-
 इति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रमेन्मा सव्येन दक्षिण-
 मतिक्रामेति ब्रूयात् ॥ ११-१३ ॥

‘शेष’ लाजानम्, ‘शूर्पेण’ गृहीत्वा ‘अग्नी’ ‘ओप्य’ अमुन्मन्त्रकमेव निक्षिप्य
 ‘प्रागुदीचीम्’ ऐशानो विदिशम् “ एक मिषे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ६ ॥ द्वे ऊर्जे
 विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ७ ॥ त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ८ ॥ चत्वारि मयो
 मयाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ९ ॥ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १० ॥ षड् रायस्पो-
 याय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ११ ॥ सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १२ ॥
 सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमयश्च सख्यं ते मायोषाः सख्यं ते मायोष्टयाः ॥
 १३ ॥ (१, २, ६-७) — “इति सप्तभिः यजुभिः सप्तवारमुत्तरोत्तरम् अभ्युत्क्रामन्ति

पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति ॥ १६ ॥

‘अवसिक्तायाः’ बध्वाः ‘अञ्जलिं’ ‘सम्प्रेषेण पाणिना’ ‘उपोद्गृह्य’ स्वसमीपे कर्तृध्वीकरणपूर्वकं प्रगृह्य, तस्याएव ‘साङ्गुष्ठम्’ अङ्गुष्ठसहितम् ‘उत्तानं’ पृष्ठ-निम्नं ‘पाणिं’ आमण्डिबन्धाङ्गुलिचयं ‘दक्षिणेन पाणिना’ ‘गृहीत्वा’ “गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदृष्टिर्यथासः। भगो अर्थमा सविता पुरन्धि मंक्ष्यं त्वा दुर्गाहंपत्याय देवाः ॥१६॥ अपोरचक्षुरपतिप्रेषधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्णाः। धीरसूज्जीवसूदैवसूदैवकाना स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१७॥ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनकत्वर्थमा । अदुर्मन्त्रलीः पति-लोक माविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१८॥ इमां त्वमिन्द्रमीदृक् सपुत्रां सुभगां कृधि । दशास्यां पुत्रानाघेहि पति मेकादशं कुल ॥ १९ ॥ संस्त्राक्षी श्वशुरे भव संस्त्राक्षी श्वश्रवां भव । ननान्दरि संस्त्राक्षी भव संस्त्राक्षी अधिदेवेषु ॥ २० ॥ मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्तं मनुषितं ते अस्तु । मम याच मेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुक्तु मच्छाम्” ॥२१॥ (१, २, १०-१५)–‘इति’ ‘पुताः’ ‘पाणिग्रहणीयाः’ पाणिग्रहणार्थबोधिकाः अत्रः यद् ‘जपति’ जपेत् प्राणिपाह इति शेषः । इति गतं पाणिग्रहणम् ॥ १६ ॥

भा०:-पति, उस जल सिक्त बधू के अञ्जलि को वायें हाथ से ग्रहण कर, अपने निकट कुछ ऊपर लेकर दहिने हाथ से तदीय साङ्गुष्ठ उत्तान दहिना हाथ (मण्डिबन्ध अर्थात् हाथ के पंहुंचे से अञ्जलि तक) पकड़, कर “गृभ्णामि ते” इत्यादि विवाहार्थ बोधक मन्त्र पढ़े। इसी का नाम विवाह है ॥ १६ ॥

समाप्तासूद्रहन्ति ॥ १७ ॥ २ ॥

‘समाप्तासू’ पाणिग्रहणान्तक्रियासू ‘उद्रहन्ति’ पतिलोकं प्रापयन्ति बधूम् स्वजनाः रथादयो या करणादीनामपि कर्तृत्व्यं भवत्येव, कारकाणां विवक्षा-धीनत्वात् ‘काष्ठाः पचन्ति’ इत्यादि भाष्यमेव निदर्शनमिति । इत्युद्राहः ॥१७॥

इति सामवेदवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य

व्याख्यानं समाप्तम् ॥ २, २ ॥

भा०:-पाणिग्रहण के अन्त तक सब क्रिया समाप्त होने पर, उस बधू को स्वजनगण, रथ आदि पर, सवार करा पति के घर पहुंचावें। यही “उद्राह” है १७

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीयखण्ड का

भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २।२ ॥

मात्रादिपरिजना वधूमिति (११) तत्र चाक्रामणक्रममुपदिशति;—‘दक्षिणेन पादेन’ ‘प्रक्रम्य’ भूमिम्, ‘अनु’ पश्चात् ‘सव्येन’ पादेन ‘क्रामेत्’ तामेव स्थलीम् (१२) । परं तत्रापि ‘सव्येन दक्षिणं भा अतिक्राम’—‘इति’ इमं मुपदेशं ब्रूयात् ताम् (१३) एवञ्च प्रथमं सव्यपादक्षेपणं, सव्येन पादेन दक्षिणपादाक्रमणञ्च निषिद्धमिति । गतमिदं सप्तपदीगमनम् ॥ ११—१३ ॥

भा०:—तीन बार हुतावशिष्ट लाजा आदि, सूप में लेकर बिना मन्त्र पढ़े, अग्नि में डाले । ईशान कीर्ण में ‘एक मिषे’ प्रभृति सात मन्त्र पढ़ कर वधू को यथा क्रम से, सात पग चलावे । उस में विशेष लक्ष्य यह हो कि पहिले बायां पैर आगे न रखे, और बायें पैर से दक्षिण पग आक्रान्त भी न हो । इसी को सप्तपदीगमन कहते हैं ॥ ११—१३ ॥

ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत् सुमङ्गलीरियं वधूरिति ॥१४॥

तदनन्तरम् “सुमङ्गली रियं वधूः रिमौ समेत पश्यत । सौभाग्यं मयै दद्याथायास्तं विपरेतम्” ॥१४॥ (म० ब्रा० १, २, ८) —‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् पाणिग्राहः ‘ईक्षकान्’ विवाहदर्शकान् सर्वानेवाविशेषेण ‘प्रति मन्त्रयेत्’ आशीः प्रार्थयेत् । इदमेव प्रेक्षकामन्त्रणम् ॥ १४ ॥

भा०:—उस के अनन्तर ‘सुमङ्गलीरियं वधू’ इस मन्त्र को पढ़ कर दर्शकों के निकट आशीर्वाद लेने का पात्र होवे ॥ १४ ॥ यही निरीक्षण (प्रेक्षण) है ।

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतराथ्समञ्जन्त्वित्येतयञ्चा ॥ १५

ततश्च ‘अौदकः उदककुम्भयुक्तः कञ्चन पुरुषः ‘अग्निम् अपरेण’ आग्नेः पश्चिमतः दम्पतीस्थानं ‘अनुसंव्रज्य’ रुमागत्य ‘पाणिग्राहं’ वरं ‘तथैव इतरा’ यधूञ्च “समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोः हृदयानि नौ । सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्टी दधातु” ॥१५॥ (म० ब्रा० १, २, ९) ‘इति एतया ऋचा’ दम्पतीभ्यामुच्यमानया स्वपनकालं संलक्ष्य ‘मूर्द्धदेशं’ तयोरुभयोरेव ‘अवसिञ्चति’ आ सिञ्चेत् उदकेनैवेत्यासिञ्चनम् ॥ १५ ॥

भा०:—अनन्तर कोई जलवाहक व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर विवाह के लिये उद्यत पर और कन्या के माथे पर जल डाल कर स्नान करावे और, उसी समय दम्पती एक याक्य से ‘समञ्जन्तु’ मन्त्र पढ़े ॥ १५ ॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाञ्जलिमुपोद्गृह्यदक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिथं साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वैताः पद

तानि ते पूर्याहुत्या सर्वाणि श्रमयाम्यहम् ॥ ४ ॥ ऊर्ध्वोत्पत्ये जङ्घयोः
सन्धानेषु च यानि ते । तानि ते पूर्याहुत्या सर्वाणि श्रमयाम्यहम् ॥ ५ ॥
यानि कनि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूर्याहुतिभि रात्र्यस्य सर्वाणि
तान्पशीशमम् ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १-६).—‘इत्येतत्प्रभृतिभिः मन्त्रैः पङ्क्तिभिः
‘पट्’ ‘आज्याहुतीः’ ‘अहोति’ जुहुयात् पतिरिति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—यदि मेष आदि के कारण नक्षत्रोदय दीख न पड़े, तो किन्हीं प्राज्ञ
ज्योतिषी के पतलाये हुए नक्षत्रोदय काल में ‘लेखासन्धिषु’ इत्यादि छः मन्त्रों
से छः आहुति देवे ॥ ५ ॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूढंनि बध्वा अवनयेत् ॥ ६ ॥

‘आहुतेः आहुतेः’ प्रत्याहुतेः ‘सम्पातं तु अवशिष्टपृतधारां बध्वा मूढंनि
‘अवनयेत्’ ॥ ६ ॥

भा०—उन प्रत्येक छः आहुतियों के अन्त में उस बधू के साथे परचून
का डार गिरावे ॥ ६ ॥

हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ॥ ७ ॥

‘हुत्वा’ एतत् पडाज्याहुतिहवनानन्तरं दम्पती ‘उपोत्थाय’ सहैवोत्तिष्ठन्ती
‘उपनिष्क्रम्य’ सहैव होमस्थानान्निर्गत्य ‘ध्रुवं’ ध्रुवसङ्घं नक्षत्रं दर्शयति पतिः
पत्नीनिति ॥ ७ ॥

भा०—ये छः आहुति और आहुति शेष ग्रहण के पीछे, वर या नया उठकर
एकत्र होमस्थान से बाहर होकर पति, पत्नी को ध्रुव नामक नक्षत्र दिखावे ॥ ७ ॥

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयास ममुप्यासाविति पतिनाम

गृह्णीयादात्मनश्च ॥ ८ ॥

तत्र प्रथमदर्शनकाले ‘ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुप्यासी’—‘इति’
एवं मन्त्रं बधूः पठेत् । ‘अ’ अपि अमुप्यइत्यस्य स्थाने स्वपतिनाम प्रपद्यन्तम्
असी स्थाने ‘आत्मनः’ नाम प्रथमान्तम् ‘गृह्णीयात्’ ॥ ८ ॥

भा०—उस ध्रुव दर्शन के समय ‘हे नक्षत्र । तुम स्थिर स्वभाव वाले हो,
इसी कारण ‘ध्रुव’ (अबल) नाम से विख्यात हो । मैं भी जिससे पति कुल
में स्थिरप्रकृति होऊँ ? मैं अमुक नामवाली, अमुक नामक व्यक्ति की पत्नी
हूँ” इस मन्त्र को बधू पढ़े । इस मन्त्र के मध्यगत ‘अमुक’ इस पद के बदले
जिस पति का नाम और “अमुक नाम वाली” के बदले अपना नाम कहे ॥ ८ ॥

अरुन्धतीञ्च ॥ ९ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपन्तत्राग्नि-
रूपसमाहितो भवति ॥ १ ॥

‘प्रागुदीच्यां’ ऐसान्यां ‘दिशि’ ‘यत्’ ‘अभिरूपं’ तपःस्वाध्याययुतं ‘ब्राह्म-
णकुलम्’ ‘तत्र’ ब्राह्मणकुले ‘अग्निः’ वैवाहिकः ‘उपसमाहितः’ यथाविधि स्था-
पितः ‘भवति’ भवेत् ॥ १ ॥

भा०:-यदि अपना मकान दूर हो, तो समीपस्थ ईशान कोण स्थित किसी
उपयुक्त ब्राह्मण के घर में उत्तरविवाह सम्पादनार्थ यथाविधि अग्निस्थापन करे।
अपरेणाग्निमानुहुहं रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तर-
लोमास्तीर्णं भवति ॥ २ ॥

‘अग्निम् अपरेण’ अग्नेः पश्चात् ‘रोहितं’ लोहितम् ‘आनुहुहं चर्मं’ गोचर्मं
‘प्राग्ग्रीवं’ ‘उत्तरलोमं’ उपरिष्ठात्लोमपृष्ठम् ‘आस्तीर्णं’ पातितम् ‘भवति’ भवेत् ॥ २ ॥

भा०:-उस स्थापित अग्नि के पश्चिम भाग में लोहित वर्ण गौ का चमड़ा
लेकर, इसप्रकार बिछावे कि जिस में लोमपृष्ठ (रोम ऊपर हो) तो ऊपर
को हो और पूर्व-पश्चिम लम्बा हो, चमड़े का शिरो देश पूर्वभाग में हो
और इस का नीचे का हिस्सा पश्चिम दिग्गत हो ॥ २ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ३ ॥

‘तस्मिन्’ आस्तृते आनुहुहे चर्मणि ‘एनां’ ‘वाग्यतां’ नियमितवाचान्
‘उपवेशयन्ति’ आत्मीयजनाः ॥ ३ ॥

भा०:-उस डाले हुए गौ-चर्म के ऊपर वधू को नियमित वाक्य कर बैठावे ॥ ३ ॥

सा खल्वास्तएवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ४ ॥

‘सा’ वधूः ‘खलु’ निश्चयम् ‘आनक्षत्रदर्शनात्’ अस्तमिते दिवाकरे यावत्
नक्षत्रैकमपि दृश्यते तावत् तथा ‘एव’ ‘अस्ते’ ॥ ४ ॥

भा०:-वह वधू नक्षत्र के उदय पर्यन्त उसी प्रकार बैठी रहे ॥ ४ ॥

प्रोक्तेनक्षत्रेपढाज्याहुतीर्जुहोतिलेखासन्धिष्वित्येतत्प्रभृतिभिः ५

‘नक्षत्रे प्रोक्ते’ मेघाच्छन्नादिहेतुभिः नक्षत्रोदयादर्शनेऽपि ‘उदितमेव नक्ष-
त्रमण्डलं यतस्तत्कालोऽयमागतः’-इत्येवमभिजनैः कथिते ‘लेखासन्धिषु पदम-
स्वायत्तैषु च यानि ते । तानि ते पूरुणांहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ १ ॥
केशेषु यच्च पापकं मीक्षिते रुदिते च यत् तानि पूरुणांहुत्या सर्वाणि शमया-
म्यहम् ॥ २ ॥ शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् तानि ते पूरुणां-
हुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ३ ॥ आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् ।

और पत्नी दोनों ही स्नान लवण की छोड़, हविष्य भोजन करे, किन्तु ब्रह्मचर्य नष्ट न हो, * और भूमि में शयन करे ॥ १४ ॥

अत्रार्घ्यमित्याहुरागतेष्वित्येके ॥ १५ । १६ ॥

‘अत्र’ तिसृषु रात्रिषु यस्मिन् कस्मिन्नपि काले यथावसरं कन्यापित्रा वराय ‘अर्घ्यं’ अर्हणीयवस्तुजातं मधुपर्कादिकम् प्रदातव्यम् ‘इत्याहुः’ प्राचीनाचार्याः (१५) । ‘आगतेषु’ वराद्यर्चनीयजनेषु तस्मिन्नेव काले अर्घ्येषु एव अर्घ्यदानं कर्तव्यम् ‘इत्येके’ जग्याः (१६) ॥ १५, १६ अनयोर्भोजननियमोव्यवस्थाप्यते,—

भा०—इन तीन दिनों में जिस किसी दिन में, जिस किसी समय हो, कन्या का पिता अपने अवसरानुसार वर की ‘मधुपर्क’ आदि वस्तुओं से पूजा करे, यही प्राचीन मत है । किन्तु किसी २ का मत है कि जिन लोगों की पूजा करनी हो उनके आने के समय ही करे। इसी को ‘अर्घ्यदान’ कहते हैं ॥ १५।१६॥

**हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत श्वोभूते वा सम-
शनीयं स्थालीपाकं कुर्वीत तस्य देवता अग्निः प्रजाप-
तिर्विश्वेदेवा अनुमतिरित्युद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं
पाणिनाभिमृशेदन्नपाशेन मणिनेति भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै
प्रदाय यथार्थम् ॥ १७-२१ ॥**

‘हविष्यं’ क्षारादिवर्जितम् ‘अन्नम्’ ‘प्रथमं’ पत्नीभोजनात् पूर्वं ‘परिजपि-
तं’ वक्ष्यमाणप्रकारेण विधास्यमानमन्त्रेण च (२० सू०) ‘भुञ्जीत’ पतिः (१७)
‘वा, अथवा’ ‘श्वोभूते’ तत्परदिने ‘समशनीयं’ सम्यग्भोजनयोग्यं ‘स्थालीपाकं’
स्थाल्यां पक्कमन्नं ‘कुर्वीत’ (१८) । ‘तस्य’ अन्नस्य भोजनाय ‘अग्निः’ प्रजापतिः
‘विश्वेदेवाः अनुमतिः’—‘इति’ इनाः चतस्रो देवताः* इत्याहुः (१९) । ‘स्थाली-
पाकम्’ ‘उद्धृत्य’ पाकस्थानात् ‘एकदेशं’ तदीयं किञ्चिदंशं स्वभोजनयोग्यं
‘व्यूह्य’ पात्रान्तरे निक्षिप्य अन्नपाशेन मणिना प्राणमूत्रेण पृश्निना । वध्रामि
सत्यग्रन्यना मनश्च हृदयं च ते ॥ ८ ॥ यदेतद्दृढयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिदं
हृदयं मम तदस्तु तव ॥९॥ अन्नं प्राणस्य पद्व्यंशस्तेन यध्रामि त्वासी” ॥१०॥
म० ब्रा० १, ३, ८-१० ‘इति’ इसाम्मन्त्रान् पठन् ‘पाणिना’ ‘अभिमृशेत्’

* यही जिस कन्या का राज प्रवास न हुआ हो ऐसी कन्या गोभिलाचार्य के मत से एक अन्य सूत्रवार एवं रमृत्वादि के मत से भी सम्भोग योग्या नहीं, और इस स्थान में आचार्य ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से तीन रात में भी सम्भोग निषेध करते हैं । तो इस में भी स्पष्ट प्रकाशित होता है कि राजकन्या होने की पर कन्या विवाह योग्य उत्तम होती है अन्यथा नहीं ॥

‘प’ अपि ‘अरुन्धती’ नक्षत्रविशेषं दर्शयति तां पतिरिति ॥ ८ ॥

भा०:-उसी समय पति, वधू को “अरुन्धती” नामक नक्षत्र दिखलावे ॥८॥

रुद्धाहमस्मीत्येव मेव ॥ १० ॥

तत्रारुन्धतीदर्शनकाले ‘रुद्धाहमस्मि’-‘वृत्ति’ । ‘एवमेव’-

पूर्वोक्तप्रकारेण पत्युः स्वस्य च नामग्रहणपूर्वकमेव वधूः पठेदिति ॥१०॥

भा०:-इस अरुन्धती के दर्शनसमय वधू कहे कि ‘अमुक नाम्नी मैं, अमुक नामक पति की आज्ञा में यद्वा होती हूँ’ ॥ १० ॥

अथैनामनुमन्त्रयते ध्रुवाद्यौरित्येतयर्द्धा ॥ ११ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् ‘एनां’ वधू “ध्रुवा द्यौरिध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा री पतिकुले इयम्” ॥११॥ म० ब्रा० १, ६, ६-इत्येतया श्रुत्वा ‘अनुमन्त्रयते’ पतिरिति ॥११॥

भा०:-उसके पश्चात् पति वधू को ‘ध्रुवा द्यौः’ इस मन्त्र को पढ़ावे ॥११॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥

‘अनुमन्त्रिता’ गा वधूः ‘गोत्रेण’ प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती ‘गुरुं’ पतिम् ‘अभिवादयते’ ॥१२॥

भा०:-इस मन्त्र को पढ़ने वाली वधू ‘अमुक गोत्रा, अमुक नाम्नी मैं, तुम्हें अभिवादन करती हूँ’ कह कर पति के दोनों पैर पकड़ प्रणाम करे ॥१२॥

सौऽस्या वाग्विसर्गः ॥ १३ ॥

‘सः’ कालः ‘अस्याः’ वधूयाः ‘वाग्विसर्गः’ नियमित वाक्प्रयोग-नियम विसर्जनस्येति ॥१३॥

भा०:-यहाँ तक वधू नियमित वाक्य (आवश्यकतानुसार धोले) रह कर इस के वाद वह नियम त्याग कर अपनी इच्छानुसार धोल सकती है ॥१३॥

तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥१४॥

‘तत्प्रभृति’ विवाहकर्मारम्भदिनतः ‘त्रिरात्रं’ त्रीण्यहोरात्राणि ‘तावुभौ’ दम्पती ‘अक्षारलवणाशिनौ’ क्षारलवणातिरिक्तभोजिनौ हविष्याग्निनाविति यावत् ‘सह’ सहैव तिष्ठन्तावपि ‘ब्रह्मचारिणौ’ सङ्गमशून्यौ ‘भूमौ’ पद्मपङ्खादि वर्जितशय्यायाम् ‘शयीयाताम्’ ॥१४॥

भा०:-जिस दिन पहिले विवाह कार्य में प्रवृत्त हो, उस दिन तक पति

इमं मन्त्रं पठन् 'प्रति' प्रतिवारं यदा यदा उपनिष्ठेत तदा तदेव 'मन्त्रयेत्'
ममनमीश्वरचिन्तनं कुर्यात् ॥ २

भा०:-मार्ग में चौराहा नदी, या किसी प्रकार का सड़क स्थान, बड़ा वृक्ष,
और इमजान, अथ २ मिले तब २ 'मा विदन् परिपन्थिनो' इस मन्त्र को पढ़ते
हए ईश्वर का चिन्तन करे ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नहुविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चापत्सु,
यमेवाग्निं हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वा अन्यद्रव्य
माहृत्य यऋतेचिदभिः प्रपद्यताज्यशेषेणाभ्यञ्जेत् ॥ ३

'अक्षभङ्गे' रथचक्रे भग्ने, 'नहुविमोक्षे' नहुवात् प्रच्युतेऽश्वादी 'यानविप-
यांसे' याहनदौरात्न्येन रथस्य पश्चात् पार्श्वयोर्वा गमने सति, 'च' अपि
'अन्यासु आपत्सु' ममापतितासु किं कर्तव्यमित्याह, -तदा 'यमेवाग्नि' लौकिकान-
लौकिक (१, १, १५-१९ सू०) वा 'हरन्ति' आहरन्ति विपत्पातदर्शनसञ्ज्ञातादयः
स्वजनाः पान्यास्तद्ग्राम्या वा 'तमेव, अग्निम् 'उप' समीपे 'समाधाय'
सम्यक् प्रज्वाल्य तत्रैवाग्नौ 'व्याहृतिभिः' तिसृभिः आभ्यतन्त्रेण 'हुत्वा' ततः
'अन्यद्रव्य' अन्यद्रव्यादिकं यामान्तरं वा 'आहृत्य' समीपतो मघालभ्यं संगृह्य
'यऋतेचिदभिः' (भा० छ० आ० ३, २, १, २) -'इति' ऋङ्मूलकं साम (गे०
गा० ६, २, २२) गायन् [अमादिष्टपरिभाषयात्र साम्न एव धोषः सूत्रे ऋगा-
दिपदानुज्ञेयात्] 'आज्यशेषेण' हुतावशिष्टेनाज्येन तं चक्रादिकं यथास्थानं
'अभ्यञ्जेत्' अक्षयेत् ॥ ३ ॥

भा०:-यदि मार्ग में रथ का पहिया टूट जावे, या रथ हांकने वाला रथ
से गिर जावे, या मार्ग से भिन्न, या पीछे रथ को गिरा देवे, तो इस से अशुभ
होने का सन्देह करके, इस दोष की शान्ति के लिये उसी स्थान में अग्नि
स्थापन कर तीन महाव्याहृति का पाठ कर व्याहृति देवे। यह अग्नि पूर्वोक्त
विधानानुसार (प्र० १ खं० १ सू० १५-१९) संगृहीत करने से अच्छा होगा।
यदि किसी कारण ऐसा न हो, तो चाहे जिस प्रकार का हो, सति नहीं।
पीछे पहिया, या दूसरी सवारी मिलने पर 'य ऋतेचिदभिः' (भा० छ०
आ० ३, २, १, २) ऋङ्मूलकसाम (गे० गा० ६, २, २२) गान करके होमावशिष्ट
पूत, उस चक्रादिक के उचित स्थान में लगा देवे ॥ ३ ॥

वामदेव्यं गीत्वाऽऽरोहेत् प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ४, ५ ॥

परिवेशयेत् (२०) । ' भुक्त्वा ' स्वभोजनानन्तरम् ' उच्छिष्टं ' तत् ' यध्यै ' तस्यै
' प्रदाय ' ' यघार्घ्यं ' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (२१) ॥ १७-२१ ॥

भा०:-अथ आये हुए नये पति एवं भार्या के भोजन की व्यवस्था कही जाती है ।-पहिला दिन तो ' अर्घ्या ' के आस्यादन में उन की तृप्ति हो सकती, दूसरे दिन वधू अहन्धती नक्षत्र के देखने पर्यन्त व्याकुल रहेगी, विशेषतः मार्ग में दूसरे के घर पर ऐसी व्याकुलता में पाक की सानग्री होनी भी कठिन होगी; यदि हो तो उमी दिन, अन्यथा, उस के दूसरे दिन प्रभात होने ही से, अपना अच्छे प्रकार भोजन योग्य पाक प्रस्तुत करे । पाक प्रस्तुत होने पर, अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेवा, और अनुनति देवता क्रम से आराध्य होंगी । उस के अनन्तर अपने खाने योग्य दूसरे पात्र में ढाल कर ' अन्न पात्रेन भगिना ' इस मन्त्र की पढ़ कर ' परिवेशन ' कर भोजन करे । पीछे खाने पर बचे अन्न वधू को देकर स्वयं पेषेष्ट विचरण करे ॥ १७-२१ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २२ ॥ ३

अस्य कर्मणः ' दक्षिणा ' ' गौः ' एकेति ॥ २२ ॥ ३

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्य व्याख्यानसमाप्तम् ॥ २३

भा०:-इत विवाह कार्य से दक्षिणा एक गौ देवे ॥ २२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २३ ॥

—:०:—

यानमारोहन्त्याथ सुक्रिथं शुक्रं शाल्मलिमित्येतामृचं जपेत् ॥ १

' पानं ' रथादिकम् ' आरोहन्त्या ' तस्यां वध्वा सुक्रिथं शुक्रं शल्मलिं विष्वत्तपथं सुययौवर्कं सुकृतं सुधकम् । आरोह सूर्यं अमृतस्य नाभिं स्मोर्न परमे बहत्तुं कृणुष्व ॥ ११ ॥ (न० ब्रा० १, ३, ११) - ' इत्येताम् ऋचं ' जपेत् ' पतिरिति शेषः । १

भा०:-पति के घर जाने के लिये वधू को रथ आदि सवारी पर विठलावे एवं वधू के चढ़ते समय पति ' सुक्रिं शुक्रं शाल्मलिं ' यह मन्त्र पढ़े ॥ १ ॥

अध्वानि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत् नदीश्च विपमाणि च महावृक्षाञ्छमाशानञ्च मा विदन् परिपन्थिन इति ॥ २ ॥

' अध्वानि ' पथि ' चतुष्पथान्, नदीश्च ' विपमाणि ' च ' सङ्कटस्थानानि ' च, ' महावृक्षान् रमशानं च ' प्राप्य " मा विदन् परिपन्थिनो या आसीदन्ति दम्पती सुगेभि दुर्गेभ्योऽतीता सपद्मान्त्वरतायः " ॥ २ ॥ (न० ब्रा० १, ३, १२), - ' इति

भा०—पश्चात्, पति उस वधू के गोद में दिये हुए बालक को उठा कर 'इहधृति' प्रभृति आठ यजुर्वेद के मन्त्रद्वारा ध्रुवनाम से प्रसिद्ध आठ आहुति, आन्य तन्त्र से प्रदान करे ॥ १० ॥

**समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरुन् गोत्रेणाभि-
वाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥ ४.**

'समाप्तासु' ध्रुवाहुतिषु 'समिधम्' तन्नाम्री अमन्त्रकमेव 'आधाय' प्रदाय 'यथावयसं' वयोनुसारेणोत्तरोत्तरं गुरुन् मान्यान् तन्नोपस्थितान् 'गोत्रेण' गो-
त्रोच्चारणपूर्वकम् 'अभिवाद्य' पादग्रहणेनप्रणम्य 'यथार्थम्' स्वप्रयोजनानुसारतो-
विहरेत् ११ । ४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्थध्याख्यानंसमाप्तम् ॥ २, ४

भा०—उक्त ध्रुवाहुति पूरी होने पर, उसी अग्नि में बिना मन्त्र पढ़े एक समिधा डालकर पश्चात् उस स्थान में उपस्थित गुरु गण (आन्य लोगों) के वयसानुसार अर्थात् वही उमर वाले पहिले, पीछे छोटी उमर वाले को इस क्रमसे पेर पकड़ कर अभिवादन करे और साथ २ अपना गोत्रभी कहता जावे ॥ ११ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेद्वितीयअध्यायकेचतुर्थखण्डकाभाषानुवादपूराहुआ २, ४ ।

—:०:—

अथातश्चतुर्थीकर्म ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, 'अतः' इत आरभ्य 'चतुर्थीकर्म' विवाहाराधितः चतुर्थ्या तिथौ करणीयम् यच्चमीति शेषः ॥ १ ॥

भा०—इसी प्रकार विवाह की रात्रि से तीन रात्रि धीतने पर चतुर्थ दिन में जो २ कार्य करने होंगे उन्हीं का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोत्यग्ने प्राय-
श्चित्त इति चतुरग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः समस्य पञ्चमीं
बहुवदूह्याहुतेराहुतेः सुवसम्पातमुदपात्रेऽवनयेत्तेनैनाथं सके-
शनखामभ्यज्य हासयित्वा प्लावयन्ति ॥ २-६ ॥

'अग्निम्' 'उपसमाधाय' "अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्ति रसि
ब्राह्मणस्त्या नायकाम उपधावामि यास्याःपापी लक्ष्मी स्तामस्या अपजहि ॥१॥
वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्या नायकाम उपधाया-
मि यास्या पतिभी तनूस्ता मस्या अपजहि ॥२॥ चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां
प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्या नायकाम उपधावामि यास्या अपुन्यातनूस्ता मस्या

ततः वामदेव्यं वामदेव्यनामकं साम 'गीत्वा' 'आरोहेत्' पुनरपि रषादि यानं, पतिः वधूसहितः (४) 'प्राप्तेषु' स्वगृहेषु पुनरपि 'वामदेव्यं' गायेदिति शेषः ॥ ४, ५ ॥

भा०—सवारी के दोष दूर होने और दूसरी सवारी आ जाने पर । उस में वधू सहित पति के उठते समय 'वामदेव्य सामगान' करे और पीछे अपने घर आने पर सवारी से उतरते समय भी 'वामदेव्य' गान करे ॥ ४, ५ ॥

गृहगतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरो प्यानहुहे चर्मण्युपवेशयन्तीह गावः प्रजायध्वमिति तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युस्तस्मै शकलोटानञ्जलावावपेयुः फलानि वा ॥ ६-६ ॥

ततः 'गृहगतां' पतिभवनद्वारोपनीयां तां वधू 'पतिपुत्र-शीलसम्पन्नाः' 'ब्राह्मण्यः' तस्मात् यानात् 'अवरोप्य' अवतार्य 'आनहुहे चर्मणि' पातितगोच-र्मोपरि "इह गावः प्रजायध्वमिहाश्व इह पूरुषः । इहो सहस्र दक्षिणोपि पूया निपीदतु" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १३) — 'इति' मन्त्रं पठन्त्याः ता एव तां तत्र 'उपवेशयन्ति' (६) । तस्याः 'उपस्थे' कोठे ता एव ब्राह्मण्यः 'कुमारम्' यं कमपि 'आदध्युः' स्थापयेयुः (७) । 'तस्मै' कुमाराय क्रीडार्थं 'शकलोटान्' कर्दमनिर्मितसुपक्वगोलकान् क्रीडनकान् 'अञ्जलौ' 'आवपेयुः' प्रदद्याुः (८) । 'वा' अथवा 'फलानि' आम्रादीनि आवपेयुरित्येव (९) ॥ ६-९ ॥

भा०—इस के बाद पति के घर के द्वार पर लायी हुई उस वधू को, पति पुत्र वाली और शील सम्पन्ना ब्राह्मणी गण, सवारी से उतार कर 'इह गावः प्रजायध्वं' इस मन्त्र को पढ़ कर बिछाए हुए गो-चर्म के ऊपर उसे बिठलावे । ६ । उस वधू के गोद में उन्हीं ब्राह्मणी गण में से, कोई एक हो, एक लड़के को अर्पण करे । ७ । और उस बालक की अञ्जलि में कई एक मही का बना सुन्दर अग्निपक्व (गेन्द के समान) खेलने के लिये देवे । ८ । या खाने के लिये आम्र आदि मधुर फल भी दे सकते हैं । ९ । ६-९ ॥

उत्थाप्य कुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविहधृतिरिति ॥ १०

ततश्च तस्याः उत्तमङ्गतः 'कुमारं' पूर्वदत्तम् 'उत्थाप्य' 'ध्रुवाः' ध्रुवनान्तः प्रसिद्धाः 'अष्टौ' सङ्ख्याकाः 'आज्याहुतीः' आज्यतन्त्रेण आहुतीः "इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्ति रिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयि रमो मयि रमस्व ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १, ४) — 'इति' एतत्प्रभृतिभिरष्टाभिर्गुभिः यथाक्रमतः जुहोति जुहुयात् पतिः ॥ १०

‘कृद्ध्यं त्रिरात्रात् सम्प्रदानरात्रितः त्रिरात्रेऽतीते ‘सम्भवः’ सम्भवति गर्भोऽस्मादिति सम्भवः सङ्गमः ‘इति’ एवम् ‘एके’ केचिदाचार्याः आहुः । एवञ्च विवाहात् प्राग् दृष्टरजस्काया ऋतुमती नवोढायाः पतिगृहे आद्यर्तुप्रकाश-मनपेक्षैव तस्यां चतुर्थ्या मेव रात्रौ गर्भाधानाय सङ्गमः कार्यः इत्येव केपाञ्चि-दाचार्याणां मतम् (१) गोभिलस्य स्वन्ते तु, नवोढा पत्नी पतिगृहं समागत्य ‘यदा’ पुनः ‘ऋतुमती’ सती ‘उपरत-शोणिता’ शोणितवेगप्रवाहशून्या ‘भवति’ भवेत् ‘तदा’ तस्मिन्नेव पतिगृहागताद्यर्तुकाले सम्भवकालः * (८) ॥ इति गतं चतुर्थीकर्म, समाप्तञ्च विवाहप्रकरणम्, निर्णीतद्वयाद्यगर्भाधानकालः ॥ १, ८ गर्भाधानप्रकरणाह,—

भा०—‘सम्प्रादन रात्रि से तीन रात्रि ब्रह्मचर्य में व्यतीत कर’ उस के अनन्तर चतुर्थ रात्रि में स्त्री प्रसङ्ग करे—यही कई एक आचार्यों का मत है । इस से उन लोगों के मत में विवाह के पूर्व ही दृष्ट रजस्का, ऋतुमती नवोढा के गर्भाधान पक्ष में, पुनः पति के घर में ऋतु-प्रकाश की अपेक्षा नहीं ॥ १ ॥ किन्तु गोभिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं है, इन के मत से नवोढा पत्नी, तपि के घर पर आने से पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उस का शोणित वेग (भासिकधर्म) न्यून होगा, वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम सङ्गम काल होगा ॥ १५ ॥ चतुर्थी कर्म शेष हुआ और विवाह प्रकरण भी पूरा हुआ ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्ये-
तयर्ज्वागर्भन्धेहिसिनीवालीतिचसमाप्यर्ज्वासम्भवतः । ८, १० । ५

प्रथमतः पतिः “विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिथंशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते” ॥ ६ ॥ (मं० ब्रा० १ । ४ । ६) ‘इत्येतयर्ज्वा’, “गर्भन्धे हिसिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्वतिः । गर्भन्ते अश्विनी देवायाधत्तां पुष्करस्तज्जी” ॥ १॥ (मं० ब्रा० १, ४, १) — (मं० ब्रा० १, ४, १) — ‘इति च मन्त्राभ्यां स्वकीयेन ‘दक्षिणेन हस्तेन’ उपस्थं’ पत्न्याः प्रजननदेशम् ‘अभिमृशेत्’ (८) । ‘ऋचौ’ पूर्वोक्ते ‘समाप्य’ पाठेन अनन्तेन अभिमर्शनफलदर्शनेन च ततः ‘सम्भवतः’ मिथः सङ्गमं कुरुतः दम्पतीति (१०) । गतं गर्भाधानम् ॥ ८, १० ॥ ५

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेष्वमखण्डस्यद्वारस्यानंसमाप्तम् २, ५

भा०—पहिले पति, “विष्णुर्योनिं कल्पयतु” अर्थात् एवं ‘गर्भन्धेहि सिनी-वालि’ ‘यह’ अर्थात् पाठ कर पत्नी की योनि प्रदेश मार्जन करे । इन्होंने दो

* अथर्व वरचरिते तृतीये “आनुरमपिण्डानश्रिता तु भेदाः,—इति दारकर्मणि अनश्रिताया एव प्रारत्न्यम् । परिशिष्टे च “ऋतुमती स्वन्धिका सा प्रयच्छेच्चनश्रिकायम्,—इति गृह्यम् ॥

अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्यं प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-
काम उपधावामि यास्या अवशय्या तनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्निवायु,
चन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्य ब्राह्मणो वो नाथकाम
उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीर्या पतिग्री या पुत्र्या या पाशय्या ता अस्या
अपहत ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, ४ १) — 'इति' एभिर्मन्त्रैः पतिः 'घृतुः' सङ्ख्याः
प्रायश्चित्ताहुतीः प्रायश्चित्ताय वधूपापप्रशमनाय आज्यतन्त्रेण आहुतीः 'शुहो-
ति' जुहुयात् (२) । तत्र च द्वितीयादिषु तिसृष्व्याहुतिषु 'अग्ने'—इति पदस्य
स्थाने क्रमेण 'घायुचन्द्रसूर्याः' ऊह्याः (३) । किञ्च 'पञ्चमीम्' 'समस्य' सर्वस्य
आहुतीम् अग्न्यादिपदचतुष्टयस्य मेलनेन 'अग्निवायुचन्द्रसूर्याः'—इत्येवं सम्बुध्य
अपि च 'यहुवद् ऊह्य' एकवचनस्थाने बहुवचनप्रयोगेण मन्त्रपाठं विपरिणम-
य जुहुयादित्येव (४) । 'आहुतेराहुतेः' प्रत्याहुतेरेव 'सुवसरूपात्' अवशिष्ट
घृतधाराम् 'सदपात्रे' चमसे 'अवनयेत्' स्थापयेत् (५) । 'तेन' रक्षितसम्पात-
समुदायेन 'एना' वधू 'सकेशनखां' आपादमस्तकां सर्वतएव 'अभ्यज्य' स्रक्षयि-
त्वा 'ह्रासयित्वा' यानागमनादिजनितक्लेशान् शरीरं व्यथारूपान् लाघवयित्वा
'आलाघयन्ति, प्रवाहादिषु सन्तरणादिना स्नापयेयुः सख्यादयः स्वजना
इति यावत् (६ ॥ २-६ चतुर्थीरात्रिकर्तव्यं गर्भाधानमाह) —

भा०—पति, पत्नीके पूर्वकृत पाप के प्रायश्चित्त के लिये अग्नि स्थापन कर
'अग्नेप्रायश्चित्ते' इन मन्त्रों द्वारा आज्य तन्त्र से चार आहुति देवे (२) उनमें
से द्वितीय आदि आहुति में इस मन्त्रस्य अग्नि के बदले 'घायु' 'चन्द्र'
और 'सूर्य' पढ़ना चाहिये, यही इसमें विशेषता है। और पांचवी आहुती में
'अग्नि', 'घायु', 'चन्द्र' और 'सूर्य' इन्हीं चार देवताओं को एककाल में सम्बो-
धन करे, इतरां मन्त्रस्य जितने एक वचन हैं, उन सब को बहु वचन करके
पढ़े । ४ । इन पांच प्रायश्चित्त आहुति की प्रत्येक आहुति के अन्त में
घृत के धारणापात क्रमसे चम से में रक्षित रखे । ५ । इस रक्षित आज्य के द्वारा
उस वधू के पैर से मस्तक तक सर्वाङ्ग में अच्छे प्रकार लगा देवे, उस से मार्ग
की यकावट दूर होगी, पीछे सखी आदि मिल कर नदी आदि की धारा में
तेरने रूप जल क्रीड़ा आदि करके नई बाहू को स्नान करावे ॥ ६ ॥ २-६ ॥
इस के अनन्तर चतुर्थीरात्रि में कर्तव्य गर्भाधान की व्यवस्था कही जाती है ॥

ऊर्द्धं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके यदर्त्तुमती भवत्युपरतशो-

णिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

और अर्थात् उस को गोद में लेकर पति भी बैठे । उस के अनन्तर दहिने हाथ से बधू के दक्षिण कांधा अपने गोद की ओर कुछ ऊपर को खींचकर रखे, और बायें हाथ से उस के कंधनी को खोल कर उस के नाभि प्रदेश को अच्छे प्रकार स्पर्श करे और छूते समय 'पुमां भौ मित्रा वरुणौ, इस ऋद्धमन्त्र से स्मरणीय देवताका स्मरण करे । उसके बाद स्वेच्छया विद्यरे ॥२-४॥

अथापरम् ॥ ५

'अथ' तत्कार्यानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकमस्ति कार्यं पुंसवनस्येति । तदपि पूर्वोक्तकालाभ्यन्तरे [सू० १] एव कर्तव्यं परं यस्मिन् दिने नाभिमर्शनं कृतं तस्मिन्नेव, तत्परदिने, तत्पर परदिने वेति नायं नियमः । ५ । किन्तु दपरं कार्यमिति स्फुटयति,—

भा०—इस नाभिमर्शन कार्य के पीछे पुंसवन संस्कार करने में एक कार्य होता है वह भी पूर्वोक्त ही कालमें होगा । (सू० १) किन्तु जिस दिन नाभि-मर्शन हो उसी दिन, या उस के दूसरे तीसरे दिन करे इस का नियम नहीं ॥ ५ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधगुह्यामुभयतः फलामक्षामा-
मकृमिपरिसृष्ट्वा त्रिःसप्तैर्यवैर्मापैर्वा परिक्रीयोत्थापयेद्य-
द्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वारुणी
वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्य-
स्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि
यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि विश्वे-
भ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा परिक्रीणांभ्योपधयः सुम-
नसो भूत्वाऽस्यां वीर्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यतीत्युत्थाप्य
तृणैः परिधाय हृत्य वैहायसीं निदध्याद्दृष्टुं पदं प्रक्षाल्य ब्रह्मचारी
व्रतवती वा ब्रह्मवन्धूः कुमारी वाऽप्रत्या हरन्ती पिनाष्टि प्रातः
सशिरस्क्राऽऽप्नुनोदग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्ने रुदग्रेषु दर्भेषु
प्राक्शिराः संविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणे-
रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसद्गृह्य दक्षिणे
नासिकास्रोतस्य वनयेत् पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयर्ज्याथ
यथार्थम् ॥ ६-१२ ॥ ६

ऋचाश्रीं का पठन, मनन और उस के साथ अभिमर्शन फल दर्शन होने पर दोनों सङ्गम करे * ॥ १० ॥

गोभिलगृहसूत्र के द्वितीय अध्याय के पांचवें खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२५॥

—:०:—

५. तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुं३सवनस्य*कालः ॥१॥

‘गर्भमासस्य तृतीयस्य’ गर्भमाससम्बन्धितृतीयस्य मासस्य ‘आदिसदेशे’ आद्यर्द्धस्य प्रथमपक्षस्येति यावत् सदेशे समीपे अष्टम्यभ्यन्तरे एव व्यवहारः ‘पुंसवनस्य’ संस्कारविशेषस्य ‘कालः’ ज्ञातव्यइति शेषः । १ पुंसवनप्रकारमाहः—

भा०:—जिस मास में गर्भाधान हो, उस मास से तीसरे मास के आदि पक्ष के निकट ही अर्थात् अष्टमीके भीतर पुंसवन नामक संस्कार काल जानो ॥१॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्ववमृश्यानन्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत् पुमाथ्सौ मित्रावरुणावित्येतयर्च्चा यथार्थम् ॥२-४॥

‘प्रातः’ समये ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उपनीता बधूः ‘सशिरस्का आप्लुता’ शिरः प्रभृतिसर्वाङ्गजलसिक्ता स्नाता सती ‘अग्नेः’ ‘पश्चात्’ पश्चिमस्या दिशि तथैव ‘प्रागग्रेषु’ दर्भेषु पातितेषु उपरि ‘प्राची प्राङ्मुखी पुरतोऽग्निं कृत्वेति फलितम् ‘उपविशति’ उपविशेत् (२) । ततः पश्चात् ‘पतिः’ ‘अवस्थाय’ तां बधू क्रोड़ी कृत्येति यावत्, ‘दक्षिणेन पाणिना’ तस्याएव बध्वाः ‘दक्षिणम् अंसम्’ ‘अन्ववमृश्य’ किञ्चिदुत्तानाययास्यात्तया पश्चादाकृष्य “पुमाथ्सौ मित्रावरुणौ पुमाथ्सौ वा- श्विनौ । पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तथोदरे” ॥८॥ (म०ब्रा० १.४.८)”—इति एतया ऋचा* स्मर्त्तव्यं देव संस्मरन् तस्याएव ‘नाभिदेशम्’ ‘अनन्तर्हितं’ यस्मा- द्यावरणशून्यं प्रकृत्य ‘अभिमृशेत्’ विशेषेण स्पृशेत्, शेषेण सव्येनैव हस्तेनेति गम्यते (३) । अथ तदनन्तरं ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेत् सः (४) ॥ २-४

भा०:—प्रातःकाल उत्तराय कुश सन पर उस तीन मास की गर्भवाली बधू की बैठाने एवं मस्तक आदि सर्व शरीर जल में आप्लुत कर अग्नि के पश्चिम ओर हाटो हुए उत्तराय कुश के आसन पर बैठावे, और उस के पीठ की

* यह संभाषण मेस्वार आश्वलायन, आपस्तम्ब, वात्स्यायन प्रभृत गृहसूत्र चारों गो मत से श्रुत मती गया के विवाह के पीछे स्त्री की रात्रि में मा हो सकता है । परन्तु गोभिलाचार्य वं मत से ऐसा गया के विवाह के पीछे पति के घर फिर रजोदर्शन होने पर, उसी आय श्रुति अनिवार्य काल में कर्त्तव्य है । गर्भ ग्रहण बाल मान्य हो जाने पर प्रतिगम के आधान बाल ग बट मस्तक करे, अनन्तर पति के घर पहिले रने द्रोण में तो प्रत्यय करे ।

(१०) । ततः 'पश्चात्' पतिः 'अवस्थाय' 'दक्षिणस्य' पाणोः 'अङ्गुष्ठेन' 'उपक निष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या' अङ्गुष्ठानामिकाभ्यामिति यावत् 'अभि' अभितः सर्वतोव्याप्य 'संगृह्य' तत् पिष्टशुद्धारसं' तस्या वध्वाः 'दक्षिणे' 'नासिकास्रोतसि' नासिकारन्ध्रे 'अवनयेत्' अवतिषेत् आघ्रापयेद्वा; "पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो गृहस्पतिः पुमांश्च पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्" ॥१॥ (न० ब्रा० १, ४, ८) - 'इति' एतया ऋचा' इष्टं संस्मरन्निति शेषः (११) । अथ अनन्तरं 'यथार्थ' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (१२) ॥ गतमिदं पुंसवनकर्म ॥ ६-१२ ॥ इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके पष्ठखण्डस्य तृत्याख्यानं समाप्तम् ॥ २, ६

भा०:-इशान कीरा में जो कोई बड़ का बूझ हो, उस से शुद्ध, वृक्ष के स्वामी को २१ यक्ष, या २१ उड़द मूल्य देकर (खरीद कर) उसे तोड़े। इस शुद्ध के दोनों ओर फल होना "चाहिये, वह सूखा न हो और उस में कीड़े लगे न हों। ६। इस शुद्ध के नील लेते समय ७ मन्त्रों का पाठ करे जैसे; हे शुद्धे ! तुम यदि सोम देवता का प्रिय हो, तो उस राजा की प्रीति के लिये ही तुम को नील लेता हूँ। १। तुम यदि राजा वरुण देवता का प्रिय हो, तो उसी वरुण राजा के प्रीत्यर्थ तुम्हें नील लेता हूँ ॥२॥ तुम यदि आठो वसु का प्रिय हो, तो उन्हीं वसुओं की प्रीति के लिये तुम्हें नील लेता हूँ। ३। यदि एकादश रुद्रगण का प्रिय हो, तो उन्हीं ग्यारह रुद्रों के प्रीत्यर्थ तुम्हें नील लेता हूँ। ४। 'यदि तुम बारह आदित्य गण के प्रिय हो, तो उन्हीं बारह आदित्य गण की प्रीति के लिये तुम्हें नील लेता हूँ। ५। 'यदि तुम ४८ नरुद्र गण का प्रिय हो, तो उन्हीं ४८ नरुद्रगण की प्रीति के लिये तुम्हें नील लेता हूँ ॥ ६ ॥ 'यदि तुम विश्वे देवा देवगण का प्रिय हो, तो उन्हीं विश्वेदेवा गण की प्रीति के लिये तुम्हें नील लेता हूँ" ॥ ७ ॥ तत्पश्चात् इन मन्त्रों को पढ़ कर उस शुद्ध को वृक्ष से उखाड़, या तोड़ लेवे यह कह कर कि हे औपधि गण ! तुम सब प्रसन्न होकर इस बधू में वीर्य साधन करो, जिसे यह बधू कष्ट रहित होकर गर्भ प्रसव करे उस। उखाड़े हुए शुद्ध को वृक्ष से ढाक कर अमरवेल, या सूक्ष्म जटामांसी संग्रह कर इस की रक्षा करे ॥ ८ ॥ अनन्तर शिल (पेयशाधारशिला) को अच्छे प्रकार धोकर उस में कोई ब्रह्मचारी (जो गृही ऋतु काल ही में अपनी भार्त्या के पास गमन करता हो, ऐसे गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी कहते हैं) या कोई पति व्रता, या ब्राह्मण वंश की कोई कुमारी, उसे अविश्राम हो पीसे। अर्थात् पीसते समय ही औपधि का सब गन्ध हवा द्वारा सींच न जाये इस निये शीघ्र पीस

‘प्रागुदीच्यां’ ऐशान्यां दिशि सञ्जातां ‘न्यग्रोधशुङ्गां’ न्यग्रोधस्य वटस्य शुङ्गां
 अस्फुटितपत्रमिति यावत् ‘त्रिः सप्तैः यवैर्मापैर्वा’ एकविंशतिमापान् एकविंशति-
 यवान् वा वृक्षस्वामिने मूल्यं दत्त्वा तत्संकाशात् ‘परिक्रीय’ ‘उत्थापयेत्’ । शुङ्गां
 विशिनष्टि—‘उभयतः फलाम्’ यस्या उभयोः पार्श्वयोरेव फले विशिष्टे तादृशीं
 किञ्च ‘अस्तामाम्’ अस्तानाम्, किञ्च ‘अकृमिपरिसृष्टां’ कृमिभिः पत्रकीटैः परि-
 सृष्टा परिध्याता, अतादृशीम् (६) । तत्परिक्रयणमन्त्राः सप्त । तानाह—‘हे
 शुङ्गे ! त्वं यदि ‘सौमी’ सोमदेवतायाः प्रिया ‘असि’ तर्हि ‘सोमाय राज्ञे’ सोम-
 राजप्रीत्यर्थमेव ‘त्वा’ त्वां ‘परिक्रीणामि’ १ । त्वं ‘यदि’ ‘वरुणी’ वरुणादेव-
 तायाः प्रिया ‘असि’ तर्हि तस्मै ‘वरुणाय राज्ञे’ एव ‘त्वा’ परिक्रीणामि २ ।
 त्वं ‘यदि’ ‘वसुभ्यः’ वसुष्टकानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘वसुभ्यः’ एव
 ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ३ । त्वं ‘यदि’ ‘रुद्रेभ्यः’ रुद्राणामेकादशानां प्रीत्यर्थमेवो-
 त्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘रुद्रेभ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ४ । त्वं ‘यदि’ ‘आदित्येभ्यः’
 द्वादशादित्यानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘आदित्येभ्यः’ एव ‘त्वा’
 ‘परिक्रीणामि’ ५ । त्वं ‘यदि’ ‘मरुद्भ्यः’ एकोनपञ्चाशतां मरुतां प्रीत्यर्थमेवोत्प-
 न्ना ‘असि’ तर्हि ‘मरुद्भ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ६ । ‘यदि’ ‘विश्वेभ्यो देवेभ्यः’
 सर्वदेवप्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘विश्वेभ्यो देवेभ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परि-
 क्रीणामि’ ७ । इति सप्त परिक्रयणमन्त्राः (७) । अथोत्थापनमन्त्रः—‘हे
 ओषधयः ! यूयं सुमनसः’ प्रसन्नाः सन्तः ‘अस्यां’ वध्यां ‘वीर्यं समाधत्त’ वीर्यस-
 माधानं कुरुत, किन्निमित्तमित्याह—‘इयं’ वधूः ‘कर्म’ गर्भप्रसवनं ‘करिष्यति’
 ततएव वीर्यस्य प्रयोजनम्, ‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘उत्थाप्य’ ताः ‘वृणैः’ यथा-
 लभ्यैः ‘परिधाय’ वेष्टयित्वा ‘वैहायसीं’ आकाशसम्बन्धिनीं लताममरवेलेति
 प्रसिद्धाम् ‘आहृत्य’ तदुपरि ‘निदध्यात्’ स्थापयेत् (८) । ततश्च ‘दृपदं’
 शिलापट्टकं ‘प्रक्षाल्य’ अपरवस्तुकणांसंलग्नं यथान् स्यात् प्रक्षालनेनैवं विधाय तत्र
 ‘ब्रह्मचारी’ ऋतावन्यत्र स्वभार्यायानपि यो न सङ्गच्छते सः, ‘व्रतयती वा’
 पातिव्रत्यं व्रतं यया पाल्यते विशेषेण सा, ‘ब्रह्मबन्धूः’ ब्राह्मणजातीया ‘कुमा-
 री वा’ अनूढा ब्राह्मणकन्येति यावत् ‘अप्रत्याहरन्ती’ प्रत्याहारस्त्यागस्तमकु-
 यन्ती अविश्रामेणैव ऋदित्येवेति यावत् अन्यथा वाय्वादियोगात् ओषधिवीर्यं
 नष्टं स्यादेव ‘पिनष्टि’ पेयणं कुर्यात्, ताः शुङ्गाः इत्यर्थादागतम् उपलेनेति च
 (९) । ततश्च ‘प्रातः’ ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उपस्थिता सा वधूः ‘सशिरस्का आप्रुता’
 सती, ‘अग्नेः’ ‘पश्चात्’ पश्चिमस्यां दिशि ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ पातितेषु ‘प्राक्-
 शिराः’ पूर्वदिग्गतसस्तका भवन्ती ‘संविशति’ मवेशनमर्हृशयनमिश्रोप्रवेशनं कुर्यात्

‘प्रातः’ पूर्वाह्ण, ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उत्तरायणीकृतपातितकुशासने उपविष्टा सती ‘सशिरस्का आप्लुता’ स्नाता भवती ‘अग्रेः पश्चात्’ ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ ‘प्राची’ प्राङ्मुखी ‘उपविशति’ (३) । ‘पतिः’ तस्या वध्वाः ‘पश्चात्’ ‘अवस्थाय’ ‘युग्मन्तम्’ युग्मानि फलानि यस्मिन् तादृशम् ‘औदुम्बरम्’ उदुम्बरगुच्छं शलाटुग्रन्थम् शलाटुनामफलविशेषस्य स्तवकञ्च “अथ मूज्जावतो वृक्ष ऊर्जोव फलिनी भव । पर्णं वनस्पतेर्जुत्त्वानुत्वा सूयताश्चरयिः” ॥१॥ (म० ब्रा० १, ५, १) ‘इति’ इमं मन्त्रमुच्चरन् ‘आवध्नाति’ वध्वाः मस्तके कण्ठे वाहौ कट्यां नाभी अश्वले वेति न नियमः (४) । ‘अथ’ अनन्तरम् । ‘सीमन्तम्’ केशरचनाविशेषम् ‘ऊर्ध्वम् उन्नयति’ उन्नयेत् पतिरेव । तत्र ‘दर्भपिङ्गुलीभिः’ शुष्कैः गर्भसारैश्च कुशसमूहैः ‘भूः’-‘इति’ मन्त्रेण ‘प्रथमम्’ उन्नयनम्; ‘भुवः’-‘इति’ मन्त्रेण ‘द्वितीयम्’ उन्नयनम्, ‘स्वः’-‘इति’ मन्त्रेण तृतीयम् उन्नयनम् (५) । ‘वीरसरेण’ शरवृणविशेषेण “येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सीमगाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि” ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ५, २)-‘इत्येतया ऋचा’ च सीमन्तमूर्ध्वमुन्नयति पतिः (६) । ‘अथ’ तदनन्तरम् “राकानहथं सुहवां सुपुतीहुवे ऋणुत नः शुभगा योधतु आरमना । सीध्यत्वपः मूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरथं शतदायुमुख्यम्” ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ३)-‘इत्येतया ऋचा’ ‘पूर्णचात्रेण’ सूत्रपूर्णतर्कुणा सीमन्तोन्नयनम् (७) । ‘च’ किञ्च “यांस्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुपे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्र पोषथ्सुभगे रराया” ॥४॥ (म० ब्रा० १, ५, ४)-‘इति’ मन्त्रं पठन् पतिः ‘त्रिश्वेतया’ त्रिपुस्यानेषु श्वेतवर्णया ‘शलस्या’ शङ्खकी-कण्टकेन सीमन्तमूर्ध्वमुन्नयेत् (८) । ततश्च ‘स्थालीपाकः’ स्थाल्यां पक्कः ‘उत्तरघृतः’ पाकान्ते घृतमिश्रितः ‘कसरः’ तिलतण्डुलसमूहः ‘कसरः’ इति कसरलक्षणात्; ‘राम्’ तादृशं कसरम् ‘अथेतयेत्’ दर्शयेत् पक्वी पतिरिति (९) । यदा सा तं पश्यति, तदैव पतिः पृच्छेत् ‘किम् पश्यसि ?-इति’ ‘उक्ता’ पतिर्नैवं पृष्टा सा, “(किं पश्यसि ?)-प्रजां पशून्तृतीयभाग्यं मत्तं दीर्घायुद् पत्युः” ॥५॥ (म० ब्रा० १, ५, ५)-‘इति’ इमं मन्त्रं ‘वाचयेत्’ पत्नी पतिः (१०) । ‘तं’ कुमारं ‘सा’ वधूः ‘स्वयं भुञ्जीत’ (११) । तस्मिन्नेव भोजनकाले ‘ब्राह्मणयः’ ‘वीरमूर्ध्विसूर्जोवपक्वी’-‘इति’ एवमादिभिः ‘मङ्गल्याभिर्गीर्भिः’ आशीर्वाक्यैः ‘उपासीरन्’ ईश्वरमिति शेषः (१२) । इति सीमन्तोन्नयनम् । ३-१२ ॥

भा०-अथ सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधि कहा जाता है, प्रातःकाल उत्तराय विद्याये हुए कुण के आसन पर वधू की बैठा कर माथे तक भिंगोकर

लेवे । प्रातःकाल वधू उत्तराय कुशाओं पर बैठ कर माथे तक जल में गोता लगा स्नान कर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराय ढाले हुए कुशासन पर पूर्व की ओर गिर कर आधा सोवे (जागता हुआ लेटा रहा) ॥१०॥ पति उस के पीछे रह कर अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुलि द्वारा पीसा हुआ शुद्ध लेकर उस के दहिने नाक के छिद्र में उस का रस डाले, या मूँचावे । उसी समय “पुमानग्निः पुमानिन्द्रः” इस मन्त्र का पाठ करते हुए पति अपने इष्ट का स्मरण करे ।
(११) अनन्तर जहां इच्छा हो भ्रमणकरे यही पुंसवन कर्म है ॥६-१२ । ६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के छठे खण्ड का भाषानुयाद पूरा हुआ ॥२६॥



अथ सीमन्तकरणम् ॥ १

‘अथ’ प्रकरणान्तरं द्योतयति । ‘सीमन्तकरणम्’ नाम कर्म, संस्कारविशेष । तदधिकृत्य वच्मोति । १ । तस्य कालं विधत्ते,—

भा०—अथ ‘सीमन्तोन्नयन’ नामक संस्कार का वर्णन किया जाता है ॥१॥

प्रथमगर्भे चतुर्थे मासि पष्ठेऽष्टमे वा ॥२॥

‘प्रथमे गर्भे’ एष हि संस्कारः प्रथमे एव गर्भे कार्यः न तु प्रतिगर्भम् । तत्र च ‘चतुर्थे पष्ठेऽष्टमे वा मासि’ कुर्यादितितत्कालविधिः । २ तत्रेति कर्तव्यतां विधत्ते

भा०—यह सीमन्तोन्नयन संस्कार केवल प्रथम गर्भाधान समय कर्त्तव्य है इसे प्रति गर्भाधान में करना ठीक नहीं । इस का समय चौथा ‘छठा’ या आठवां मास है ॥ २ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मन्तमौदुम्बरं शलालुग्रथनमावन्धाति अयमूज्जावतो वृक्ष इत्यथ सीमन्तमूढध्वमुन्नयति भूरिति दर्भपिञ्जलीभिरेव प्रथमं भुव-रिति द्वितीयं स्वरिति तृतीयमथ वीरतरेण येनादितेरित्ये तयर्च्चाऽथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतयर्च्चा त्रिश्वेतया च शलल्या यास्ते राके सुमतय इति कृसरः स्थालीपाक उत्तर-घृत स्तमवेक्षयेत् किम्पश्यसोत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जो वसूर्जो विपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्ग-ल्याभिर्वाग् भिरुपासीरन् ॥ ३-१२ ॥

‘अग्निम् परिस्तीर्य’ तत्र, या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सश्रंराधनी महम् (‘सश्रंराधन्यै देव्यै देष्टव्यै ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ६) - ‘इत्येतयर्चा’, विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्वाता पुनराहरत् । परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम ॥७॥ (म० ब्रा० १, ५, ७) ‘इति’ अनया च ‘आज्याहुती’ आज्यतन्त्रेण आहुतिद्वयम् ‘जुहोति’ जुहुयात् (१५) । अपरस्य ‘अयं’ गर्भः ‘पुमान् जनिष्यते’ चेत् ‘असौ नाम’ - ‘इति’ ‘नामधेयं’ जनिष्यमाण पुत्रास्यां ‘गृह्णाति’ प्रकल्प्य रक्षति (१६) । ‘यत् नामधेयं मनसि निश्चितम्, तत् नामधेयं ‘गृह्यम्’ गोप्यमेव भवति’ भवेत्, अन्यथा कन्याजाते हासाय स्याच्छ्रूणामिति (१७) । गतोऽयं सोप्यन्तीहोमसंस्कारः । १५-१७ अथ जातकर्माच्यते; -

भा०=पूर्वं उपदेश के अनुसार अग्नि स्थापनादि “परिस्तरण” कार्यं के पीछे ‘या तिरश्ची’ इस मन्त्र से और ‘विपश्चित् पुच्छमभरत्’ मन्त्र से आज्य तन्त्रद्वारा दो आहुति देवे । (१५) उस समय, - यदि पुत्र जन्म लेवे तो यही नाम रखूंगा इस प्रकार मन ही मन एक नाम स्थिर कर रखे । अर्थात् पुत्र की आशा करे (१६) परन्तु उसे प्रकाश न करे । अर्थात् प्रकाश करने से यदि पुत्र न हो तो शत्रु लोग हंस सकते हैं १५-१७ ॥

यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नथ ब्रूयात् काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चेति ॥ १८ ॥

‘यदा’ यस्मिन् काले प्रसवगृहस्थाः धात्रीप्रभृतयः सर्वे ‘कुमारं जातम्’ - ‘इति’ समाचारम् ‘अस्मै’ पित्रे ‘आचक्षीरन्’ ‘अथ’ तदव्यवहितमेव पिता ‘ब्रूयात्’ - ‘नाभिकृन्तनेन’ नाभिलग्ननाडीच्छेदनेन ‘च’ अपि स्तनप्रतिधानेन स्तनपायनेन एनं पालयितुं ‘काङ्क्षत’ इच्छां कुरुत यूयम् ‘इति’ ॥ १८ ॥

भा०:- इस के अनन्तर जात-कर्म संस्कार होता है जैसे; जिस समय सूति-का गृह में रहनेवाली धाई प्रभृति बोल उठे कि लड़का पैदा हुआ तो इस पर पिता बोले कि ‘नाभि से लगी हुई नाड़ी काटो और स्तन आदि पिला कर रखा करो ॥ १८ ॥

ब्रीहियवौ पेपयेत्तयैवाऽऽवृता यया शुद्धान्दक्षिणस्य पाणे रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य कुमारस्य जिह्वायां निर्माष्टीयमाज्ञेति तथैव मेधाजननं सपिः प्राशये उजातरूपेण वादाय कुमारस्य मुखे जुहोति मेधान्ते मित्रा-

स्नान करावे । पीछे अग्नि के पश्चिम भाग में विछाये हुये उत्तराय (उत्तर की ओर कुश की चोटी एवं दक्षिण की ओर उस की जड़) कुशासन पर पूर्व-भिमुख उसे बैठावे, पति भी उस के पीछे रहे । अनन्तर यज्ञ गूलर (उदुम्बर) का गुच्छा और एक शलाटुका, उस वधू के अश्रुल में, या शरीर के जिस किसी बान्धने योग्य (कटिके ऊपर) अङ्ग में बान्ध देवे । दोनों गुच्छाओं के बांधते समय 'अयमूज्जाधतो वृक्षः, इस मन्त्र का पाठ करे । उस के पश्चात् सारगर्भ सूखा कुशा समूल निर्मित पिङ्गूलि से उस वधू का केश सम्हारे 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम धार, भवः' मन्त्र से द्वितीयवार और 'स्वः' मन्त्र से तृतीय धार सीमन्त के केश आदि पिङ्गूलि द्वारा यड़ा देवे । 'येनादिते' इस मन्त्र का पाठ करता हुआ जिस 'शर' का धाण तैयार होता हो उसी शर से सीमन्त की बीच से चाड़ कर शोभायमान करे । 'राकामहय' इस मन्त्र का पाठ करके जिस, स्याही (शूल की जन्तु) के कांटे में तीन स्थान श्वेत हों ऐसे कांटे से छोटे २ केशों को ऊपर को ठठा देवे । उस के अनन्तर घृत संघरा देकर आग का प्रका तिल तबहुल उसे देखावे और उस के दर्शन समय उसे पति पूछे कि 'तुम उस में क्या देखती हो ?', इस के उत्तर में वधू बोले कि 'प्रजा' इत्यादि, अनन्तर उस दिन वधू उसी को भोजन करे और उस भोजन करते समय ब्राह्मणीगण इस वधू को 'वीर-प्रसविनी होश्री' इत्यादि मङ्गल सूचक वाक्यों से ईश्वरोपासना करे । यही सीमन्तोत्थयन संस्कार है । ३, १२॥

अथ सोप्यन्तीहोमः ॥ १३ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरं श्रुतयति । 'सोप्यन्तीहोमः' एतन्नामकञ्चापरः संस्कारः कार्यः ॥ १३ ॥ तस्य कालं विधत्ते :-

भा०-इस सीमन्तोत्थयन संस्कार के पीछे 'सोप्यन्ती-होम, नामक और एक संस्कार करना पड़ता है ॥ १३ ॥

प्रतिष्ठिते वस्तौ ॥ १४ ॥

'वस्तौ' योनिप्रदेशे 'प्रतिष्ठिते' गर्भे समुपस्थिते सोप्यन्ती होमः कार्यः इति तत्कालनिर्देशः । १४ तत्रैतिकर्तव्यतां विधत्ते :-

भा०-जिस समय प्रभव के द्वार देश में गर्भ आ पड़े उसी समय प्रघात प्रसव के अव्यवहित (लगेहुए) यह 'सोप्यन्तीहोम' संस्कार करना चाहिये ॥ १४॥

परिस्तीर्याग्निमाज्याहुती जुहोति या तिरश्चीत्येतय-
र्ज्ञा विपश्चित्पुच्छमभरदिति च पुमानयं जनिष्यतेऽसौ ना-
मेति नामधेयं गृह्णाति यत्तद् गुह्यमेव भवति ॥ १५-१७ ॥

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्त्रस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिग्न्यञ्जलिहृतः पितोप-
तिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत
उदङ्गं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुषृष्टम्परिक्रम्योत्तरतोऽव-
तिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रमीयेतपुत्रो
जनित्र्या अधीत्युदङ्गं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१-५॥

‘जननात्’ जन्मतः आरभ्य ‘यः’ ‘तृतीयः’ ‘ज्यौत्स्त्रः’ ज्योत्स्त्रायुक्तः पक्षः,
‘तस्य’ पक्षस्य ‘तृतीयायां’ तिथौ ‘प्रातः’ ‘कुमारं’ ‘सशिरस्कम्’ आप्लाव्य शिरसि
जलदानेन स्नापयित्वा ‘अस्तमिते’ सूर्ये ‘वीते’ विगते च ‘लोहितिग्निः’, ‘पिता’
कुमारजनकः ‘अञ्जलिहृतः’ पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जलिहृत्यः सन् ‘उपतिष्ठते’
उत्थितस्तित्ठते (१) । ‘अथ’ तदनन्तरं ‘माता’ कुमारप्रसूतिः ‘शुचिना’ शुभ्रेण
निर्मलेन ति यायत् ‘वसनेन’ ‘कुमारम्’ ‘आच्छाद्य’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां
दिशि गत्वा ‘उदङ्गं’ उत्तानम् ‘उदक्शिरसं’ कुमारं ‘पित्रे’ कुमारजनकाय तस्मै
‘प्रयच्छति’ प्रयच्छेत् (२) । दत्त्वा च सा ‘अनुषृष्टं’ परिक्रम्य स्वपतिपृष्ठदेशे-
मागत्य ‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां सुतरां पत्युर्वामभागे ‘अवतिष्ठते’ अवस्थिता भवेत्
(३) । ‘अथ’ दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः “यत्ते सुसीमे
हृदयथं हितमन्तः प्रजापती । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रं मयं निगाम्” ॥१०॥

यत् पृथिव्या समृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदासुतस्याहं नाम माहं पौत्र-
मयथरिपम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्मे यच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः । यथायं न प्रमी-
यते पुत्रो जनित्र्या अग्निः ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ५, १०-१२) ‘जपति’ जपेत् (४)
जपित्वा च ‘उदङ्गं’ उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रसूत्यै ‘प्रदाय’ प्रदानं कृत्वा
समाप्तं ज्यौत्स्त्रोपस्थानमिति मत्वा ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५) ॥१-५॥

भा०:-जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार
को मस्तक पर्यन्त धोकर स्नान करावे । अनन्तर सूर्यास्त के पीछे अर्थात्
ऐसे समय जब कि सूर्य मङ्गल की खालिमा पर्यन्त दीख न पड़े, उस नव-
कुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जलि पसार कर खड़ा हो और
नवकुमार की माता उस कुमार को साफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के
दक्षिण और आकार इस बालक को उत्तर शिरा और उत्तानभाव से (चित्त)
उस की अञ्जलि में प्रदान करे । स्वयं अपने पीठ पर होकर वाम दिशा आकर-
गुप्त रूप से अवस्थित हो । पीछे इस बालक के सारे पिता ‘यत्ते सुसीमे’

वरुणावित्येतयञ्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति च कृन्तत नाभि-
मिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ॥ १९—२२ ॥

नाभिकृन्तनात् पूर्वकृत्यमाह,—‘यया’ पूर्वोक्तया ‘आवृता’ परिपाट्या ‘शुद्धा’
पूर्वोक्ता ‘पेपयेत्’, ‘तथैव’ ग्रीहिययौ पेपयेत् (१९) पिष्टौ च ग्रीहिययौ दक्षिणस्य
पाशोः अङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया च अङ्गुल्या अभिसङ्गृह्य “इयमाज्ञेद मन्त्रमिदं
नायुरिदमस्तम्” ॥८॥ (म० ब्रा० १, ५, ८) —‘इति’ इमं मन्त्रं मुञ्चन् ‘कुमारस्य’
तस्य ‘जिह्वाया’ ‘निर्माष्टि’ नियच्छति (२०) । ‘तथैव’ तेनैव प्रकारेण दक्षिणस्य
पाशोः अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां गृहीत्वेति यावत् ‘मेधां ते मित्रावरुणौ मेधा मग्नि-
दं धातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवा वाधता पुष्करस्त्रजौ’ ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १-
५, ९) —‘इत्येतयञ्चां’ ‘च’ अपि ‘सदसस्पतिमद्भुतम्’ (ख० ब्रा० २, २, ३, ७) —
‘इति’ अनया ‘मेधाजननं सर्पिः’ ‘प्राशयेत्’ । ‘वा’ अथवा ‘जातकूपेण’ ‘हिर-
ण्येन’ हिण्मयशलाकादिना ‘आदाय’ गृहीत्वा ‘सर्पिः’ ‘कुमारस्य’ तस्य ‘मुखे’
‘जुहोति’ जुहुयात् क्षिपेत् (२१) । एतदनन्तरम् ‘नाभिम् कृन्तत’—‘इति’, ‘स्तनं
प्रतिधत्त’—‘इति’ ‘च’ ‘ब्रूयात्’ आदिश्यात् पितेति शेष । पित्रादेशग्रहणपूर्वकमेव
नाभिकृन्तनं स्तनप्रतिधानश्चेति गतं जातकर्म ॥२२॥

भा०—पहिरो जो शुद्धा पीसने का नियम कहा गया है उसीप्रकार धान्य
तण्डुल और यवतण्डुल पीसकर नाड़ी छेदनके पूर्व ही दहिने हाथ से अनानिका
ज्वर अङ्गुठे के द्वारा ग्रहण करते ‘यही ईश्वर की आज्ञा है’ यह मन्त्र
पढ़कर उस नव बालक की जीभ में चटा देदे और युद्धि बढ़ने की इच्छा से
‘मेधान्ते मित्रावरुणौ’ मन्त्र और ‘सदसस्पति मद्भुतम्’ (ख० ब्रा० २, २, ३, ७)
मन्त्र, इन दो मन्त्रों का पाठ कर, दो बार उसी प्रकार अङ्गुठा, अनानिका
द्वारा घृत भी चटावे, या मुख की शलाकादि के अग्रभाग से लड़के के मुख में
देये । अनन्तर नाड़ी काट कर स्तन पिशावे ॥१९, २२॥ यही जातकर्म संस्कार है ॥

अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३ ।

‘अत ऊर्ध्वम्’ नाभिकृन्तनात् परस्तात् ‘आदशरात्रात्’ दशरात्रिशेषं यावत्
‘समालम्भनम्’ अस्पर्शनम् कुमारमातुरित्यशौचविधिः ॥२३॥

प्रतिषाभयेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके सप्तमखण्डस्य अष्टाध्यायानं समाप्तम् ॥२७

भा०—इस नाड़ी छेदन के पीछे से दश दिन प्रभूति स्पर्श योग्या न होगी
अर्थात् ये दश दिन भर्ता स्त्री को स्पर्श भी न करे ॥२३॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पुरा हुआ ॥२७॥

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्त्रस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं
कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिग्न्यञ्जलिहृतः पितोप-
तिष्ठतेऽर्थं माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत
उदङ्मं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुषृष्टम्परिक्रम्योत्तरतोऽव-
तिष्ठतेऽर्थं जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रमीयेतपुत्रो
जनित्र्या अधीत्युदङ्मं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१-५॥

‘जननात्’ जन्मतः आरभ्य ‘यः’ ‘तृतीयः’ ‘ज्यौत्स्त्रः’ ज्यौत्स्त्रापुक्तः पक्षः,
‘तस्य’ पक्षस्य ‘तृतीयायां’ तिथौ ‘प्रातः’ ‘कुमारं’ ‘सशिरस्कम्’ आप्लाव्य ‘शिरसि’
जलदानेन स्नापयित्वा ‘अस्तमिते’ सूर्ये ‘वीते’ विगते च ‘लोहितिग्निः’, ‘पिता’
कुमारजनकः ‘अञ्जलिहृतः’ पुत्रग्रहणाय प्रचारिताञ्जलिद्वयः सन् ‘उपतिष्ठते’
उत्थितस्तिष्ठेत (१) । ‘अथ’ तदनन्तरं ‘माता’ कुमारप्रसूतिः ‘शुचिना’ शुद्धेण
निर्मलेन ति यावत् ‘वसनेन’ ‘कुमारम्’ ‘आच्छाद्य’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां
दिशि गत्वा ‘उदङ्मं’ उत्तानम् ‘उदक्शिरसं’ कुमारं ‘पित्रे’ कुमारजगकाय तस्मै
‘प्रयच्छति’ प्रयच्छेत् (२) । इत्था च सा ‘अनुषृष्टं’ परिक्रम्य स्वपतिपृष्ठदेशे-
नागत्य ‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां सुतरां पटपुर्वाभभागे ‘अवतिष्ठते’ अवस्थिता भवेत्
(३) । ‘अथ’ दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः “यत्ते सुसीमे
हृदयथं हितमन्तः प्रजापती। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रं मयं निगाम्” ॥१०॥
यत् पृथिव्या ममृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्र-
ममथं रिपम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै ने प्रजापतिः । यथायं ॥ प्रगी-
यते पुत्रो जनित्र्या जपि” ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ५, १०-१२) ‘जपति’ जपेत् (४)
जपित्वा च ‘उदङ्मं’ उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रमृत्यै ‘प्रदाय’ प्रदानं कृत्वा
समाप्तं ज्यौत्स्त्रोपस्थानमिति मत्वा ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५) ॥१-५॥

भा०:-जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार
को मस्तक पर्यन्त धोकर स्नान करावे । अनन्तर सूर्यास्त के पीछे सर्पात्
ऐसे समय जब कि सूर्य मण्डल की लालिमा पर्यन्त दीख न पड़े, उस नव-
कुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जलि पमार कर खड़ा हो और
नवकुमार की माता उस कुमार को माफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के
दक्षिण और आकार डम घालक की उत्तर गिरा और उत्तानभाय से (चित्त)
उस की अञ्जलि में प्रदान करे । स्वयं अपने पीठ पर होकर बाप दिशा आकर-
पुनः रूप से अवस्थित हो । पीछे इस घालक के बाद पिता ‘यत्ते सुसीमे’

एवं से 'यथा अयं न प्रसीयेत पुत्रो जनित्रया अधि' पर्यन्त तीन मन्त्रों का पाठ करे । अनन्तर गृहीत पुत्र को उस की माता को पुनः प्रदान करे और प्रयोजन के अनुसार अन्य कार्य करे, या विश्राम करे ॥ १-५ ॥

अथ येऽत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोद्दिष्टएव तेषु पितो-
पतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसं यददश्चन्द्रम-
सीति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ॥६॥ ७॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति । 'अतः' जननात् तृतीयज्यौत्स्नातः 'ऊर्ध्वं' उपरिष्ठात् परस्तादिति यावत्, 'ये' 'ज्यौत्स्नाः' ज्यौत्स्नायुक्ताः कालाः शुक्लपक्षाः, 'तेषु' ज्यौत्स्नेषु कालेषु 'प्रथमोद्दिष्टे' प्रथमागते ज्यौत्स्ने जननावतुर्ग्रे शुक्लपक्षे, यस्यां कस्यामप्येकस्यां तिथौ सम्भवत्यन्तर्द्वयोदये 'पिता' कुमारजनकः 'अपाम-
ञ्जलिं पूरयित्वा' 'चन्द्रमसम् अभिमुखः' सन् 'उपतिष्ठते' उपतिष्ठेत उत्थित-
स्तिष्ठेत (६) । ततश्च " यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयश्च अतम् ।
सदहं विद्वांश्स्तत् पश्यन् माहं पौत्रमपश्चदम् " ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ५, १३)
'इति' अनेन 'यजुषा' छन्दःशून्यमन्त्रेण 'सकृत्', 'तूष्णीं' अमन्त्रकं 'द्विः' द्विवा-
रम् 'उत्सृज्य' गृहीतोदकाञ्जलिमिति यावत्; समाप्त मन्त्रमर्जनं कृत्य मिति
मत्या 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः ॥६॥ ७॥ अथ नामधेयं विधत्ते—

भा०—पूर्वोक्त इत तृतीय शुक्लपक्ष के पीछे जो प्रथमोपस्थित ज्यौत्स्ना
अर्थात् जन्म से चतुर्थ शुक्ल पक्ष, उस की प्रतिपदा से पूर्वार्धना पर्यन्त १५ रात्रि
के जिस किसी रात्रि में चन्द्रोदय समय कुमार का पिता खड़ा होकर चन्द्रमा
के सम्मुख हो 'यददश्चन्द्रमसि' मन्त्र पढ़ कर एकवार एवं अपर दोवार बिना
मन्त्र साक्ष्य में तीन अञ्जलि जल छोड़ देवे ॥ ६, ७ ॥

✓ जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम् ॥८॥

'जननात्' जननदिनमारभ्य 'दशरात्रे' शतरात्रे संवत्सरे वा 'व्युष्टे' अतीते
एकादशदिनादौ 'नामधेयकरणम्' कुमारस्येति ॥८॥ तत्रैतदधिकं ध्यतां विधत्ते—

भा०—जन्म दिन से दश दिन, या १०० दिन, या सन्वत्सर बीतने पर
ग्यारहवें दिन में नयकुमार का नाम कारण करे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु
प्राहुपविशत्यथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य-
दक्षिणतउदङ्गं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसमनुपृष्टं परिक्रम्यो-

त्तरतउपविशत्युदगग्रे ष्वेव दर्भेष्वथ जुहोति प्रजापतये तिथये
नक्षत्राय देवतायाइति तस्य मुख्यान् प्राणान्त्सम्मृशन्कोऽसि
कतमोऽसीत्येतंमन्त्रं जपत्याहस्पत्यं मासंप्रविशासावित्यन्तेच
मन्त्रस्य धोपवदाद्यन्तरस्थन्दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतन्नाम
दध्यादेतदतद्वितमयुग्दान्तं, स्त्रीणाम्मात्रे चैव प्रथमं नामधे-
यमाख्याय यथार्थद्वौर्दक्षिणा ॥ ९-१८ ॥

‘अथ’ प्रक्रमार्थः । ‘यः’ पुरुषः पिता पुरोहितो वा ‘तत्’ नामधेयं कर्म ‘करिष्यन्
भवति’, सः ‘अग्नेः अद्यात्, उदगग्रेषु दर्भेषु’ ‘प्राङ्मुखः सन् ‘उपविशेत् (९) ।
‘अथ’ तदनन्तरं ‘माता’ दक्षिणतः दक्षिणस्यां कर्तुर्दक्षिणभागे गत्वा ‘शुचिना वसनेन
कुमारम् आच्छाद्य’ ‘उदक्षिरसम्’ उत्तरशिरस्कम् किञ्च ‘उत्तानं शिशुं ‘कर्त्रे’
नामधेयकर्मणोऽनुष्ठाने प्रयच्छति (१०) । दृष्ट्वा च ‘अनुपप्लवं परिक्रम्य’ सा
‘उत्तराग्रेषु दर्भेषु’ ‘उत्तरमः’ उत्तरस्यां दिशि कर्तुर्वागभागे ‘उपविशति’ उपविष्टा
भवेत् (११) । ‘अथ’ तदनन्तरं, क्रोडीकृतकुमारः सः ‘प्रजापतये’ प्रजापतिदे-
वतामनुकूलयितुं तथैव ‘तिथये’, तथैव ‘नक्षत्राय’, ‘जुहोति’ हवनं कुर्यात् (१२) ।
एवं होमानन्तरं ‘तस्य’ कुमारस्य ‘मुख्यान् प्राणान्’ मुखगतश्वासान् ‘सम्मृशन्’
अङ्गुलीभिः स्पृशन् ‘कोऽसि कतमोऽसि रूपोऽस्यासृतोऽसि आहस्पत्यं मासं
प्रविशासौ ॥१४॥ सत्याहूँ परिददात्वहस्त्वाराज्यै परिददातु रात्रि स्त्वाहोरात्राभ्यां
परिददात्वहोरात्रौ त्वाहुँमासेभ्यः परिदत्तामहुँमासास्त्वानासेभ्यः परिददतु
मासास्त्वत्तुभ्यः परिददत्वत्तवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वामुपे जरायै
परिददात्वसौ ॥१५॥ (म० ब्रा० १, ५, १४-१५)-‘इत्येतं मन्त्रं ‘जपति’ जपेत्
(१३) । ‘मन्त्रस्य’ तस्य ‘आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ’-‘इति’ अत्र ‘च’ अपि
‘अन्ते’ चरने असी इत्यस्य स्थाने ‘कृतं’ नयरचितं ‘नाम’ आह्वानाद्यप्यवहार्यं
पदं ‘दध्यात्’ स्थापयेत् व्यवहारादिति । तच्च नाम ‘धोपवदाद्यम्’ आदितएव
धोपसंज्ञकाक्षरमुक्तम्, ‘अन्तरन्तर्यं’ अन्तस्थसंज्ञकाक्षरमध्यं, ‘दीर्घाभिनिष्ठा-
मान्तं’ दीर्घसंज्ञकाभिनिष्ठानसंज्ञकाक्षरयोरन्यतरावसानकं भवेत् (१४) । ‘एतत्’
नाम ‘अतद्वितं’ तद्वितप्रत्ययरहितमेव कार्यम् (१५) । ‘स्त्रीणाम्’ कन्यानां तु
‘अयुग्दान्तम्’ अयुग्माक्षरान्तं दान्तव्यतिरिक्तञ्च नाम दध्यादित्येव तत्र विद्या-
यम् (१६) । ‘च’ पुनः तत् ‘नामधेयं’ मात्रे एव प्रथमं ‘आख्याय’ परिज्ञाप्य
नामधेयकरणं समाप्तमिति मत्या ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (१७) ।
अस्य कर्मणः ‘गौः’ एका ‘दक्षिणा’ देयेति (१८) । समाप्तं नामधेयकरणम् ॥ १८-१८

भा०—यह नामकरण संस्कार जो करे सो पिता, या पुरोहित अग्नि की पश्चिम में उत्तराय ढाले हुए कुश के आसन पर पूर्वमुख बैठे कुमार की प्रसूति, साफ वर्त्न में शिशु को ढांक कर ले आवे और नामकरण संस्कार करने के लिये प्रवृत्त कुमार के पिता, या अपर ब्राह्मण के दहिने ओर आकर उत्तर शिरा और उत्तानभाव से उसे देकर नामकरण करने में प्रवृत्त पिता या ब्राह्मण के पीठ के रास्ते आकर कुशपुत्र के ऊपर बैठे । अनन्तर इस नामधेयकारी कुमार को गोद में ले कर पहिले प्रजापति देवता की तुष्टि के लिये होम करे । पीछे जिम तिथि में कुमार का जन्म हुआ है, उस तिथि का नाम ले कर दूसरी आहुति प्रदान करे, उसके बाद जिस नक्षत्र में कुमार का जन्म हुआ है उसका नाम कहकर तीसरी आहुति देवे । फिर उस बालक के मुख में हाथ देकर श्वास, स्पशे कर “कोऽसि कतनोसि” मन्त्र पढ़कर एवं इस मन्त्र के पाठ समय दो स्थान में स्थित ‘असौ’ पदके बदले नूतन नाम रख कर व्यवहार करे । इस नामके आदि अक्षर घोष वर्ण, मध्यमें अन्तस्थ वर्ण, एवं अन्त्य वर्ण दीर्घ या विसर्ग होगा । विशेषतः इस नाम में तद्धित न रहे । कन्या सन्तान का नाम युग्म अक्षर अन्त में, और दकारान्त न हो यही देखना चाहिये । इस प्रकार नाम युक्त मन्त्र के दोनों स्थान में ‘असौ’ पद के स्थान में मिला कर पाठ समाप्त होने पर उस नाम का सब से पहिले उस की प्रसूति को अयगत करावे । इस प्रकार नामकरण संस्कार श्रेय कर, पिता, या पुरोहित यथा प्रयोजन अन्यान्य कार्य करे । या विश्राम करे । नामकरण संस्कार की दक्षिणा एक गौ देवे ।

✓ कुमारस्य मासिमासि संवत्सरे सांवत्सरिकेपु वा पर्व-
स्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाथः यजेत दैवतमिष्टा
तिथिं नक्षत्रञ्च यजेत ॥ १९-२० ॥

‘कुमारस्य’ नवजातस्य ‘संवत्सरे’ प्रथमे ‘मासि मासि’ प्रति जन्मतिथौ, ‘वा’ अथवा ‘सांवत्सरिके’ जन्मतिथावेव प्रथमे एव ‘च’ अथवा ‘पर्वञ्च’ पौर्ण-
मास्यामावास्यासु प्रथमे संवत्सरे एव ‘अग्नीन्द्रौ’ ‘द्यावापृथिवी’ ‘च, अपि
विश्वान् देवान्’ ‘यजेत’ यागेनेष्टं भावयेत् (१९) ‘दैवतमिष्टा’ अग्नीन्द्रादियोगं
प्रकृत्य ‘तिथिं’ जन्मनः ‘च’ अपि ‘नक्षत्रं’ जन्मन एव ‘यजेत’ (२०) । गत-
मिदं पौष्टिकं कर्म जन्मतिथिकृत्यं वा । १९, २० अथ मूर्द्धाभिघ्राणम् ;—

भा०:—प्रथम वर्षे प्रति मास की जन्मतिथि में किम्वा प्रति पूर्णिमा

[प्र० २ खं: ८ सू० १९-२१] पौष्टिककर्ममूर्द्धाभिप्राणं च ॥

९१

और अमावास्या पक्ष में अग्नीन्त्र, द्यावापृथिवी, और विश्वेदेवा देवता की अर्चना करे एवं इस प्रकार देवार्चना के पीछे तिथि और नक्षत्र की भी अर्चना करे। यही जन्मतिथिकृत्य है ॥ १९, २० ॥

विप्रोप्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेद् यदा वा पिता मइति विद्यादुपेतस्य बाङ्गादङ्गात् सत्थं स्ववसीति पशूनां त्वा हिङ्गारेणाभिजिघ्रामीत्यभिजिघ्रय यथार्थमेवमेवावरेपां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा स्त्रियास्तूष्णीं मूर्द्धन्यभिजिघ्रणम् ॥ २१-२५ ॥ ८ ॥

‘विप्रोप्य’ प्रवासादागत्य, ‘वा’ अथवा ‘यदा’ यस्मिन् काले ‘मे पिता इति विद्यात्’ बालकः तदैव, ‘या’ अथवा ‘उपेतस्य’ सन्निहितस्य यदैव सन्निहितो भवेत् तदैव, ‘ज्येष्ठस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं पाणिभ्यां परिगृह्य’ “अङ्गादङ्गात् सत्थं स्ववसि हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणं सन्धानि जीव मे यावदायुषम् ॥१६॥ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १७॥ अङ्मा भव परशुर्भवं हिरण्यमस्तुतं भव। आत्मासि पुत्र मासृषाः स जीव शरदः शतम्” ॥ १८ ॥ (१, ५, १६, १८), -‘इति’ त्वं ‘जपेत्’ (२१), ततः “पशूनां त्वा हिङ्गारेणाभिजिघ्राम्यसी ॥१९॥ ५ (१, ५, १९)” -‘इति’ वनं मन्त्रं पठन् ‘अभिजिघ्रय’ आग्राय समाप्तं मूर्द्धाग्राणं कर्मेति मत्या ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेत् (२२)। ‘अवरेपा’ तत्कमिष्ठानामपि पुत्राणाम् ‘एवमेव’ मूर्द्धाग्राणं कर्तव्यम् (२३)। तत्र च ‘यथाज्येष्ठं’ ज्यैष्ठानुक्रमेणैव मूर्द्धाग्राणं कार्यम्। ‘वा’ अथवा ‘यथोपलम्भं’ येन क्रमेण पितृसखिधी ते उपस्थिताः स्मरन्तेनैव क्रमेणेति (२४)। ‘स्त्रियाः’ कन्यायाः ‘मूर्द्धानि’ मस्तके ‘अभिजिघ्रय’ आग्रायद्वयं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव कार्यम् (२५)। समाप्तं मूर्द्धाग्राणम्। द्वियंघनं क्षुद्रकर्मप्रकरणसमाप्तिद्योतकम् ॥ २१-२५ ॥ ८

इतिसामवेदीयेगोभिलाष्टसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेअष्टमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥२०॥

भा०:-पिता जिस समय प्रदेश से अपने घर आवे, तब या जिस समय पुत्र ‘मेरा पिता यही है ऐसा समझ ले, या जिसी समय निकट आकर उपस्थित हो, उसी समय ‘अङ्गादङ्गात् सम्भवसि’ इन तीन मन्त्रों को पढ़कर हाथ में दृढ़ पुत्र का मस्तक पकड़ कर ‘पशूनां त्वा’ मन्त्र पढ़ कर सूँघे, पीछे यथेच्छ विधरे। अथवा पुत्रादि का मस्तक भी इसी प्रकार सूँघे। जो जिस के पीछे उत्पन्न

हुआ, हो उसे उसके पीछे या जो जिस समय निकट आवे तदनुसार सूध्वोप्राण करे। कन्या के सूध्वोप्राण में मन्त्र पाठ न करे ॥ २१-२५ ॥ ८ ॥

गोभिलशृङ्गसूत्र के द्वितीय अध्याय के अष्टमखण्ड का भाषानुवादपूरा हुआ ॥२८॥

—:०:—

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥१॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरतां द्योतयति। ‘अतः’ आरभ्य ‘चूडाकरणं’ कर्म वध्नीति। तच्च ‘तृतीये वर्षे’ कार्यमिति चूडाकरणकालः ॥१॥ तस्येति कर्मव्यतां विधत्ते;—

भा०:—यह चूडाकरण कार्य बालक वा बालिका के तृतीय वर्षकी आयु में करे ॥१॥

पुरस्ताच्छालायां उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति तत्रै-
तान्युपकृतानि भवन्त्येकविंशतिर्दर्भपिञ्जल्य उष्णोदकक-
थंस औदुम्बरः क्षुरजादर्शो वाक्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणत-
आनदुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इत्युत्तरतो-
ब्रीहियवैस्तिलमापैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्ता-
दुपनिदध्युः कृसरोनापिताय सर्वबीजानि चेति ॥२-७॥

‘शालायाः’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्मिन् भागे ‘उपलिप्ते’ स्थाने ‘अग्निः उप समा-
हितः भवति’ (२) । ‘तत्र’ ‘एतानि’ अनुपदं वक्ष्यमाणानि ‘उप कृतानि’
आसाद्य सज्जितानि ‘भवन्ति’ (३) । तान्येवाह—‘एकविंशतिः दर्भपिञ्जल्यः’,
‘उष्णोदककंस’ उष्णोदकसहितकांस्यपात्रम्, ‘औदुम्बरः’ उदुम्बरकाष्ठनिर्मितः
‘क्षुरः’ ‘वा’ अथवा ‘आदर्शः’ दर्पणः, ‘क्षुरपाणिर्नापितः’—‘इति’ चत्वारि वस्तूनि
सम्पाद्य ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां अग्नेः स्थाप्यानीति (४) । किञ्च आनदुहः
गोमयः वृथापक्वः अमन्त्रपक्वः ‘कृसरः स्थालीपाकः’ इति द्वे वस्तूनी सम्पाद्य
‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां अग्नेरेव सर्वत्र पूर्वोभिमुख एव कर्त्ता उत्तरां कर्त्तुं वांनभागे
(५) । ‘ब्रीहियवैः’ मिश्रितैः ‘तिलमापैः’ मिश्रितैरेव ‘पृथक्’ ‘पात्राणि’ ‘पूर-
यित्वा’ ‘पुरस्तात्’ अग्नेरेव पूर्वस्यां परस्तादिति यावत्, ‘उपनिदध्युः’ स्थाप-
येयुः (६) । एषु च उक्तः ‘कृसरः’ ‘व’ अपि ‘सर्वबीजानि’ ब्रीहियवैस्तिलमा-
पैश्च पूरितपात्राणि ‘नापिताय’ तस्मै देयानि (७) ॥ २-७ ॥

भा०:—जिस स्थान में चूडा कर्म करना हो, उसे गोमय से लीप कर पूर्व
भाग में यथा विधि अग्नि स्थापन करे (२) ये सब संग्रह कर उस स्थापन में
उपस्थित करे (३) जैसे—इक्कीस दर्भपिञ्ज, गर्म जल से भरा कांसे का पात्र,

गूलर के काष्ठ का क्षुरा, या दर्पण, एवं लोहे का क्षुरा सहित नापित, ये चार वस्तु दक्षिण दिशा में उपस्थित रखे (४) सांड का गोबर, अमन्त्र पक्ष कृसर अर्थात् सिद्ध तण्डुल, ये वस्तु उत्तर में रखे (५) पूर्व दिशा में एक पात्र में धान्य, यव एवं दूसरे पात्र में तिल और माष (उड़द) रखे, (६) ये कृसर और धान्यादिपूर्व दोनों पात्र नापित की देवे ॥ २-७ ॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुसारमाच्छाद्य पश्चादग्ने-
रुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥८॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘माता’ बालकस्य, ‘शुचिना वस्त्रेण कुसारम् आच्छाद्य, अग्नेः पश्चात् उदगग्रेषु’ ‘माघी’ प्राङ्मुखी सती ‘उपविशति’ ॥ ८ ॥

भा०:-उस के अनन्तर बालक की माता बालक को माफ बस्त्र में लपेट कर अग्नि के पीछे उत्तराय रखे हुए कुशामन पर पूर्य सुख हो बैठे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन् भवति पश्चात् प्राङ्भवतिष्ठते ॥९॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘यः’ पुरुषः ‘तत्’ ब्रूहाकरणां नाम संस्कारकार्यं ‘करिष्यन् भवति’ पिता पुरोहितोवा सः ‘पश्चात्’ उपविष्टायाः सपुत्रायाः, ‘प्राक्’ प्राङ्मुखः सन् ‘अवतिष्ठते’ अवस्थानं कुर्यात् ॥९॥

भा०:-पीछे पिता, या पुरोहित, जो कोई ब्रूहाकरणा संस्कार करने की प्रवृत्त हो, वह उस के पश्चात् भाग में पूर्वोभिमुख हो कर बैठे ॥ ९ ॥

अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेणेति सवितारं मनसा ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाण उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककथं संप्रेक्षमाणो दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणां कपुष्णिकामुन्दत्याप उन्दन्तु जीवस इति विष्णोर्दक्षिणोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षत आदर्शं वौपथे त्राय-स्वैनमिति सप्तदर्भपिङ्गुलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकाया मभि शिरोग्रा निदधाति ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वाऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते मेनथ् हिंसीरिति येन पूषा वृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्जं प्रोह-त्यप्रच्छिन्दन् सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीमथायसेन प्रच्छिद्यान-दुहे गोमये निदधानि ॥ १०-१७ ॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘नापितं प्रेक्षमाणः’ ‘सवितारं मनसा ध्यायन्’, ‘आप गमात् सविता धुरेण ॥१॥ (म० ब्रा० १, ६, १)”—‘इति’ इमं मन्त्रं ‘जपति’ जपेत् (१०) “उष्णेन वायुदकेनैधि ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘वायुं मनसा ध्यायन् उष्णोदककंसं प्रेक्षमाणः’ भवति सः (११) । “आप उन्दन्तु जीर्बुसे” ॥३॥ (म० ब्रा० १, ६, ३)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘दक्षिणेन पाणिना अप ‘आदाय’ ‘कपुण्ड्रिकां’ शिरःपोषिकां शिरःपाश्वर्त्तिकेशजुटिकां ‘उन्दति’ क्लेदयति (१२) । “विष्णोर्दंष्ट्रंष्ट्रोऽसि” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ४)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘श्रौदुम्भरं क्षुरमादशं वा’ ‘प्रेक्षते’ (१३) । “श्रीपथे प्रायस्वैनम्” ॥५॥ (म० ब्रा० १, ६, ५)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘अभिशिरोपाः’ शिरोऽभिमुखायाः ‘दर्भपिञ्जलीः’ ‘दक्षिणायां कपुण्ड्रिकायां’ ‘निदधाति’ धारयति (१४) । ‘ताः’ कपुण्ड्रिकासहिता दर्भपिञ्जलीः ‘वामेन पाणिना’ ‘नियुह्य हृदतया गृहीत्वा “स्वधिते मैनथं ह्मिथंसीः” ॥६॥ (१, ६, ६)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘दक्षिणेन पाणिना’ ‘श्रौदुम्भरं क्षुरम् आदशं वा’ ‘गृहीत्वा’ अभिनिदधाति’ यत्रतो धारयेत् (१५) । ततश्च तेनैवौदुम्भरेण क्षुरेण दर्पणेन वा ‘प्राञ्चं’ प्रागतं चालयन् परन्तु ‘अप्रच्छिन्वन्’ यथा च केशान् न छिन्द्यादेवं कृत्वा त्रिवारं ‘प्रोहति’ कण्ठद्वारं वपनं कर्त्तव्यमिति सवितर्कं पश्यति । तत्र च ‘सकृत्’ “एकवारं येन पूषा गृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य आवपत् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुप्ताय वर्धसे” ॥७॥ (म० ब्रा० १, ६, ७)—‘इति’ अनेन ‘यजुषा’ गद्यात्मकमन्त्रेण ‘द्विः’ वारद्वयं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेवेति (१६) ‘अथ’ तदनन्तरम् ‘आयसेन’ लौहमयेन क्षुरेण सपिञ्जलीं दक्षिणकपुच्छिकां ‘प्रच्छिद्य’ पूर्वासादिते ‘आनहुहे गोमये, ‘निदधाति’ स्थापयति (१७) ॥१०-१७॥

भा०:-अनन्तर, पिता या पुरोहित जो कोई कार्य करे, वे इस क्षुरहस्त नापित को देख कर मन ही मन जगत्प्रसविता देवता को ध्यान कर ‘आय-गमात्’ इस मन्त्र का पाठ करे ॥१०॥ गर्भ जल के पाय कांसे के पात्र में देखकर मन ही मन वायु देवता का ध्यान कर ‘उष्णेन वाय’ इस मन्त्र को पढ़े ॥११॥ दहिने हाथ से ‘कपुण्ड्रिका’ * ग्रहण कर ‘आप उन्दन्तु’ इस मन्त्र का पाठ करके उसमें वही गर्भ जल मीच कर गोला करे ॥१२॥ ‘विष्णोर्दंष्ट्रंष्ट्रोऽसि’ इस मन्त्र का पाठ करते हुए उसमें वही गर्भ जल सींच गुलार के काठ का क्षुरा या दर्पण देखे ॥ १३ ॥

* मस्तक के ऊपर दोनों पार्श्व के केशों को कपुण्ड्रिका कहते अर्थात् ६८, शब्द का अर्थ शिर, एवं बेरारि उस से पोषक होने से ६क—पुष्पिणः, नाम दुष्पा ॥

'ओषधे त्रायस्वेन' इस मन्त्र का पाठ कर सात दर्भ-पिङ्गुली नीचे की जड़ एवं ऊपर की कुनगी इस भान्ति उस कपुष्पिका में धारण करावे ॥१४॥ पीछे उसी दर्भ पिङ्गुली के साथ दहिने कपुष्पिका आदि बांये हाथ में रख कर 'स्वधितेमैनंहिंसीः' यह मन्त्र पढ़कर दहिने हाथ में उस गूलर के काष्ठ का छुरा या दर्पण लेकर उसी कपुष्पिका में अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १५ ॥ एवं उस की पूर्वाभिमुख कर तीनवार चला कर किस प्रकार छेदित होगा, तर्क करके देखे । उस तीनवार के चलाने में एकवार 'येन पूषा' अपर दो बार में किसी मन्त्र के पाठ करने की आवश्यकता नहीं । इस गूलर के छुरा, या दर्पण चलाने में केश छिन्न नहीं होता ॥१६॥ अनन्तर लोहे के छुरे से उसी दर्भ पिङ्गुलीके साथ दक्षिणकपुष्पिका को छेदकर सांड के गोबर में स्थापन करे ॥१७॥

एतयैवावृता कपुच्छलम् ॥१८॥ एतयोत्तरां कपुष्पिकाम्

॥ १९ ॥ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्त्तयेत् ॥ २० ॥

'एतया एव आवृता' कथितपरिपाटयैव 'कपुच्छलं' शिरःपुच्छसदृशं पद्या-
रक्षकलापम् आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनहुहे गोमये निदधाति ॥ १८ ॥

'एतया' परिपाटया उत्तरां कपुष्पिकाम्, अपि आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आन-
हुहे गोमये निदधाति ॥ १९ ॥ कपुच्छलच्छेदने उत्तरकपुष्पिकाच्छेदने च 'उन्दन-
प्रभृति' पूर्वोक्तक्षेदनादि गोमये निधानान्तं (१२-१३ सू०) कर्मजातम् 'अभि-
निवर्त्तयेत् निष्पादयेत्; न तत्पूर्वतनं मार्येतत्परतनञ्च तत्र पृथक्त्वेनानुष्ठेयम् २०

भा०:-पूर्वोक्त प्रकार से कपुच्छल को लोहे के छुरे से काटे ॥ १८ ॥ उत्तर
'कपुष्पिका' काटवाने में भी यही नियम समझना ॥ १९ ॥ 'कपुच्छल' काटन
में और उत्तर 'कपुष्पिका' काटने में दोनों ही स्थान गर्म जल से भिगाना आदि
सम्पूर्ण कार्य भिन्न २ करना होगा, उस के पूर्व, या पीछे का कार्य सब, प्रत्येक
घार काटने के लिये भिन्न २ न होंगे ॥२०॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धनं परिगृह्य जपेत् त्र्यायुषं जमद-
गैरिति ॥ एतयैवावृता स्त्रियास्तूष्णीम् मन्त्रेण तु होमः ॥२१-२४॥

इत्थं बालकस्य कपुष्पिकाद्वयं कपुच्छलञ्च छेदयित्वा उभाभ्यां पाणिभ्यां
मूर्द्धनं परिगृह्य 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं भगस्त्यस्य त्र्यायुषम् । यद्दे-
वानां त्र्यायुषं तप्ते अस्तु त्र्यायुषम्' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ८)-'इति' इमं
मन्त्रं 'जपेत्' (२१) 'स्त्रियाः' कन्याया अपि कपुष्पिकादिच्छेदनम् 'एतया'
'आवृता' परिपाटया 'एव' कार्यम् (२२) । तत्रायं विशेषः-'तूष्णीम्' अमन्त्र-

किञ्च 'एभिः सह' न विद्यहेयुः' कन्पोद्वाहसम्बन्धं न कुर्युः॥ इति गतः कालनियमः ।।

भा०:-उक्त सावित्रीपतित लोशों को पुनः उपनयन नहीं हो सकता ।
ऐसों को कोई अध्ययन भी न करावे, कोई यज्ञ भी नहीं करावे, इन का
विवाह भी समाज में निषिद्ध समझे । यही उपनयन काल का नियम है ॥६॥

यदहर्पैष्यन्माणवकोभवति प्रगएवैनं तदहर्भोजयन्ति
कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽऽच्छा
दयन्ति ॥ ७ ॥

'माणवकः' अनुधीतबालकः 'यदहः' तस्मिन्नहनि 'उपैष्यन्' उपनीती'
वियन् भवति, 'तदहः' तस्मिन्नहनि 'प्रगे एव' प्रातरेव 'भोजयन्ति' मात्रादयः,
यान् कानप्याहार्यान् प्रातराशमात्रं वा तं माणवकमिति शेषः । ततः 'कुशली-
कारयन्ति' मुण्डयन्ति । ततः 'आप्लावयन्ति' स्नापयन्ति । ततः 'अलङ्कुर्वन्ति'
शोभयन्ति । ततः 'अहतेन वाससा आच्छादयन्ति' । सर्वदैव तं माणवकम्
मात्रादय इति । ७ ॥

भा०:-जिस दिन अनुपनीत बालक का उपनयन होवे, उस दिन प्रातः
काल उसे प्रातराश (दोपार दिन से पहिले का भोजन) या और अन्यखाद्य
भोजन करावे । पीछे उस को मुण्डित कर स्नान करावे एवं, भूषणादि पहनावे
और उसे अखण्ड वस्त्र से आवृत करे ॥ ७ ॥

क्षौमशाणकार्पासीर्णान्येषां वसनानि । ८ । ऐणैयरौर-
वाजान्यजिनानि । ९ ।

'एषां' ब्राह्मणादीनां त्रयाणां 'वसनानि' परिधेयानि 'क्षौमशाणकार्पासी-
र्णानि' कुर्युः । ८ । एषां 'अजिनानि' उत्तरीयवर्माणि 'ऐणैयरौरवाजानि' कर्तव्यानि । ९

भा०:-बालक को पहनने योग्य वस्त्रः रेशमी, शण, कपास, या उनी चाहिये
॥ ८ ॥ एवं बालक के लिये अजिन अर्थात् उत्तरीय ऐणैय, रौरव, और वकरे
के घर्ष का होगा ॥ ९ ॥

मुञ्जकाशताम्बल्योरशनाः । १० । पार्णवैल्वाश्वत्थादण्डाः । ११

एषां 'रशनाः' कटिबन्धनरज्जवः 'मुञ्जकाशताम्बल्यः' कर्तव्याः । १० । एषां
'दण्डाः' हस्तयाद्याः 'पार्णवैल्वाश्वत्थाः' कर्तव्याः । ११ ।

भा०:-याकल के लिये कमर कस-मुञ्ज, काश, या सजीठ का होगा
॥ १० ॥ और दण्ड पलाश, बेल, या पीपर का होगा ॥ ११ ॥

क्षौमश्राणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्या-

विकं वैश्यस्यैतेनैवेतराणि व्याख्यातान्यलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १२-१४ ॥

पूर्वोक्तानां क्षीमादीनां मध्ये,—ब्राह्मणस्य 'क्षीम' तसरादि प्रसिद्धं 'वा' अथवा 'शण' शणसूत्रमयं 'वसनं' परिधेयं कार्यम् । 'क्षत्रियस्य' 'कापांसं' सूत्रमयं वसनं कार्यम् । 'वैश्यस्य' 'आविकं' अट्पूर्णाभयं वसनं कार्यम् । 'एतेनैव' वसननियमकथनप्रकारेणैव इतराणि द्रव्याणि अजिनरशनादष्टरूपाणि व्याख्यातानि कथितानीवेति । तथाच पूर्वसूत्रेषु (९, १०, ११) यथाक्रमतो व्यवस्था ब्राह्मणस्य—'ऐसेय' कृष्णसारसृगचर्म अजिनम्, 'मौक्षी' मुञ्जमयी रशना 'पार्शः' पलाशकाष्ठीयश्च दण्डः । क्षत्रियस्य—'रौरवं' रुरुसृगचर्म अजिनम्, 'काशी' काशमयी रशना, 'वैल्वः' विल्वकाष्ठीयश्च दण्डः । वैश्यस्य—'आर्ज' अजासृगचर्म अजिनम्, 'ताम्रवली' शणमयी रशना, 'आश्वत्थः' अश्वत्थकाष्ठीयश्च दण्डः । 'वा' अथवा 'अलाभे' ब्राह्मणादीनाम् क्षीमैशेषादीनामप्राप्तौ 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां 'सर्वाणि' क्षीमादीनि ऐशेषादीनि मौक्ष्यादीनि पार्शादीनि च द्रव्याणि यस्य यथालाभतो ग्राह्याणि ॥ १२-१४ ॥

भा०—उन में से ब्राह्मण को पहनने के लिये कपड़ा—रेशमी, या शण का, क्षत्रिय के लिये कपास का, वैश्य के लिये ऊनी होगी । सृग—छाला भी इसी प्रकार क्रम से ब्राह्मण के लिये कृष्णसार नामक सृग का चर्म, क्षत्रिय के लिये रुरुसृग का और वैश्य के लिये बकरी का चर्म होगा । ब्राह्मण के लिये मुंजका कमर कस, क्षत्रिय के लिये काश का, वैश्य के लिये शण का होगा । और ब्राह्मण के लिये पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिये विल्व का, वैश्य के लिये पीपर का होगा । यदि समयानुसार यथानियम ब्राह्मणादि के यथा योग्य वसन आदि दुर्घट होवें तो, सबही वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब प्रकार के वसन आदि व्यवहार कर सकेंगे । अर्थात् उक्त क्षीम (रेशमी) आदि चार व्यवहार करे जब, जिस समय, जिस किसी प्रकार का, वसन सुलभ पावे, उस समय वही ब्राह्मण आदि निर्विशेष व्यवहार कर सकेंगे, अजिनादि के विषय में भी समयानुसार इसी प्रकार यथा लाभ व्यवस्था करनी उचित है ॥ १३-१४ ॥

पुरस्ताच्छालायाउपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितोभवति ॥ १५ ॥ अग्ने व्रतपतइति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राह्णचार्योऽवतिष्ठते । १६ । अन्तरेणाम्याचार्या माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १७ ॥

‘शालायाः पुरस्तात्’ ‘उपलिप्ते’ स्थाने ‘अग्निः उपसमाहितः भवति’
 ॥ १५ ॥ तत्र चाग्नौ ‘आचार्यः’ वेदाध्यापकः कश्चित् माणवकः प्रतिनिधिर्भवन्
 “अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि । तच्छक्यं तेनर्ध्यासं मिदमहम-
 नृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि
 तच्छक्यं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ १० ॥ सूर्य व्रतपते
 व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि । तच्छक्यं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमु-
 पैमि स्वाहा ॥ ११ ॥ चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि । तच्छक्यं
 तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२ ॥ व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
 तत्ते प्रब्रवीमि । तच्छक्यं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि” ॥ १३ ॥ (म०
 ब्रा० १, ६, ९-१३) - ‘इति’ एभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः ‘हुत्वा’ ‘अग्नेः पश्चात् उदयेषु
 दर्भेषु’ ‘प्राङ्’ प्राङ्मुखः सन् ‘अवतिष्ठते’ अवतिष्ठेत । १६ । ‘अन्तरेणाग्न्याचार्यौ’
 अग्न्याचार्ययोः मध्ये ‘माणवकः’ ‘आचार्यम् अभिमुखः’ ‘अङ्गलिकृतः’ उदकप्र-
 हणोपयुक्तः कृताङ्गलिः सन् ‘उदगयेषु दर्भेषु’ अवतिष्ठेत ॥ १७ ॥

भा०-उपनयनार्थं अग्नि यज्ञशाला के पूर्वभाग में लीपे हुए स्थान में
 स्थापित करे ॥ १५ ॥ उस अग्नि में आचार्य्य अर्थात् एक व्यक्ति वेदाध्या-
 पक लड़के के प्रतिनिधि स्वरूप होकर “अग्ने व्रतपते” प्रभृति पांच मन्त्रों से
 पांच आहुति प्रदान कर अग्नि के पश्चिम उत्तराय कुशों पर बैठे ॥ १६ ॥ अग्नि
 और आचार्य के मध्यस्थल में डाले हुए उत्तराय कुशाओं पर आचार्य के
 सम्मुख और कृताङ्गलि हो लड़का बैठे ॥ १७ ॥ १५-१७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामङ्गलिं
 पूरयत्युपरिष्ठाञ्चाचार्यस्य ॥ १८, १९ ॥

‘तस्य’ तादृशवस्थस्य माणवकस्य ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां तिष्ठन् कश्चित्
 ‘मन्त्रवान्’ अधीतवेदः ‘ब्राह्मणः’ तस्यैव माणवकस्य ‘अङ्गलिं’ ‘अपां’ दानेन
 ‘पूरयति’ । ‘उपरिष्ठात्’ ततः परस्तात् ‘आचार्यस्य’ ‘च’ अपि अङ्गलिं पूरयति
 अपां दानेनेति ॥ १८-१९ ॥

भा०-उस लड़के की दक्षिण में रह कर कोई वेदपाठी ब्राह्मण, उस की
 अङ्गलि जलसे भर देवे । उसके बाद आचार्यकी अङ्गलिभी जलसे भरे ॥ १८, १९ ॥
 प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति ब्रह्मचर्य्यमागामिति
 वाचयति कोनामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः ॥ २०-२२

‘आचार्यः’ ‘प्रेक्षमाणः’ माणवकमिति यावत् “आगन्त्रा समगन्महि प्र मुमर्य्यं

योतन । अरिष्टाः सध्वरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१४॥ अग्निष्टे हस्तमग्रहीत्
विता हस्तमग्रहीत् । अयमा हस्तमग्रहीन्मित्ररुचममि कर्मणा ॥१५॥ (अग्नि-
आचार्यस्तय) (म० ब्रा० १.६.१४-१५) 'इति' दृष्टृषं 'अपति' स्वयम् । "ब्रह्मचर्य-
नागामुपमानयस्व" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १६)—'इति' इमामृचं 'वाचयति'
गणवकम् । "को नामासि ? असौ नामास्मि" ॥१७॥ (म० ब्रा० १, ६, १) —'इति'
[मं] मन्त्रं पठन् 'तस्य' माणवकस्य नामधेयं 'पृच्छति' ॥ २०-२२ ॥

भा०—आचार्य, उस लड़के के प्रति देखकर दो मन्त्रोंका स्वयं पाठ करे,
ब्रह्मचर्यनागाम्' लड़के से पाठ करावे एवं 'को नामासि' मन्त्र को पढ़ते हुए
उस लड़के का नाम पूछे ॥ २०-२२ ।

अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा
नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो
दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं साङ्गुष्ठं गृह्णाति देवस्य
ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं
गृह्णाम्यसाविति ॥ २३-२६ ॥

'आचार्यः' 'अभिवादनीयं' अभिवादानाय हितं 'नामधेयं' द्वितीयजन्म-
वर्कं नूतनं नाम 'कल्पयित्वा' अमुकनामात्मसीति तन्माणवकनामैव तन्मा-
णवकं वाचयित्वा (२३), 'अपामञ्जलिं गृहीतमुदकाञ्जलिम्' 'उत्सृज्य' परित्यज्य,
'देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसी'
॥२४॥ (म० ब्रा० १.६.१८),—'इति' (१) इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' साङ्-
गुष्ठं दक्षिणं पाणिं 'गृह्णाति' (२६) । तच्च द्विजत्वमूचकं नामधेयं कीदृशं कर्त-
यमित्याह—'देवताश्रयं' वेदगर्भग्रन्थग्रन्थेत्यादिकं, 'वा' अथवा 'नक्षत्राश्रयं'
आश्विन-रौहिणेत्यादिकं (२४), 'या' अथवा 'एके' आचार्याः 'गोत्राश्रयं' वेद-
गैर्वेद्यादिकम् 'अपि' नामधेयम् आहुरिति जेयः (२५) ॥ २३-२६ ॥

भा०—पीछे आचार्य स्वयं अभिवादन समय में कथनीय द्वितीय जन्म-
वृत्त एक नयीन नाम कल्पना कर उसे लड़केको "मैं अमुक नाम वाला गुरो
तुम को अभिवादन करता हूँ" कहया कर लिये हुए जलाञ्जलि को छोड़ कर
"देवस्य ते"—इस मन्त्र का पाठ करते हुए दहिने हाथ से बालक के अंगुठे के
माथे दहिना हाथ ग्रहण करे । यह नाम देवताश्रित, या नक्षत्राश्रित अथवा
गोत्राश्रित होगा (देवताश्रित जैसे—वेदगर्भ, ग्रन्थग्रन्थ, प्रभृति, नक्षत्राश्रित जैसे—
आश्विन, रौहिण प्रभृति, गोत्राश्रित जैसे—वेद, पेश्व प्रभृति) ॥ २३-२६ ॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्वासा-
विति ॥२७॥ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमध्वासमन्ववमृश्यान्-
न्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् प्राणानां ग्रन्थिरसीति ॥ २८ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् । ‘एनं’ माणवकम् सूर्यस्यावृत मन्वावर्त्तस्वासा
(न० ब्रा० १६, १९)-‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘प्रदक्षिणं’ यथास्यात्तथा ‘आवर्त्तयति’
प्राङ्मुखं करोति, आचार्येण ॥ २७ ॥ दक्षिणेन पाणिना’ माणवकस्य ‘दक्षिण-
मंसम्’ ‘अन्ववमृश्य’ स्पृशन्नेव “प्राणानां ग्रन्थिरसि ना विस्त्रसीज्जन्तक इदं”
परिददाम्यसुम्” ॥ २८ ॥ (न० ब्रा० १, ६, २०)-‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘अनन्त-
र्हितां’ बस्त्राध्यादनशून्यां ‘नाभिम्’ ‘अभिमृशेत्’ संस्पृशेत् आचार्येण ॥ २८ ॥

भा०:-अनन्तर इस बालक को प्रदक्षिण क्रम से घूर्वाभिमुख कर ‘सूर्यस्य
इस मन्त्र का पाठ करे ॥२७॥ पश्चात् आचार्य “प्राणानां ग्रन्थिरसि” मन्त्र
पढ़ते हुए दहिने हाथ से उस बालक को दहिने कांधे पर होकर बस्त्रादि
आवरण शून्य नाभि छूए ॥ २८ ॥

उत्सृप्य नाभिदेशमहुरइति । २९ । उत्सृप्य हृदयदेशं
कृशन्इति । ३० । दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमध्वासमन्वाल-
भ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ॥ ३१ ॥

माणवकस्य ‘नाभिदेशम्’ ‘उत्सृप्य’ हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा “अहुर इदं ते
परिददाम्यसुम्” ॥ २९ ॥ (न० ब्रा० १, ६, २१)-‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ।
॥ २९ ॥ माणवकस्य ‘हृदयदेशं’ ‘उत्सृप्य’ हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा कृशन् इदं ते
परिददाम्यसुम्” ॥ २९ ॥ (न० ब्रा० १, ६, २२)-‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ ३०
दक्षिणेन पाणिना’ माणवकस्य ‘दक्षिणमंसम्’ ‘अन्वालभ्य’ स्पृष्ट्वा “प्रजापतये
त्वा परिददाम्यसुम्” ॥ ३१ ॥ (न० ब्रा० १, ६, २३)-‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ ३१

भा०:-बालक के नाभिदेश में हाथ चलाकर आचार्य ‘अहुरः’ इस मन्त्र
का पाठ करे ॥ २९ ॥ इसी प्रकार हृदयदेश में हाथ चला कर ‘कृशन्’ मन्त्र
पढ़े ॥ ३० ॥ फिर आचार्य दहिने हाथ से बालक को दहिने कांधे को स्पर्श कर
‘प्रजापतये त्वा’ मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति । ३२ ।
अथैनं संप्रेष्यति ब्रह्मचार्यस्य साविति समिधमाधेह्यपोऽशा-
न कर्मकुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति ॥ ३३-३४ ॥

‘सद्येन’ वामेन पाणिना, माणवकस्य ‘सद्य’ वाममंसं स्पृष्ट्वा देवाय स्वा
 संवित्रे परिदाम्यसी” ॥२४॥ (म० ब्रा० १, ६, २४)”—‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥३२॥
 ‘अथ’ तदनन्तरम् । आचार्यः, ‘एनं’ माणवकं त्वमेतन्नामकं, अद्यप्रभृति “ब्रह्मचारी
 असि” (म० ब्रा० १, ६, २५)”—‘इति’ हेतोः ‘समिधम् आधेहि अग्नौ प्रतिदि-
 नमेव समिधाधानं कुरु, ‘अपोशान कर्म’ यथास्थानं यथाप्रयोजनञ्च शीघ्राचमनादि
 च कुरु, ‘ना दिवा स्वाप्सीः’ दिवानिद्राञ्च ना कुरु,—‘इति’ समिधमाधेह्यपो
 शान कर्म कुरु ना दिवा स्वाप्सीः ॥२६॥ (म० ब्रा० १, ६, २६) एतत्त्रितयोपदेश-
 बोधकं मन्त्रम् पठन् ‘सम्प्रेष्यति’ उपदिशति । ३२-३४

भा०—इसी प्रकार बाँये हाथ से बालक के बाँये कंधे को स्पर्श कर
 ‘संवित्रेत्या’ मन्त्र को पढ़े ॥३२॥ उस के पश्चात् आचार्य, इस बालक को “तुम
 आज से इस नाम से प्रतिदि ब्रह्मचारी होते हो, प्रतिदिन सायं प्रातः अग्नि
 में समिधादान करना और शीघ्राचार युक्त रहना, दिनमें न सोना” ये तीन
 उपदेश देवे ॥३३, ३४॥

उदङ्गनेस्तृप्त्य प्राडाचार्य्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु
 । ३५ । प्रत्यङ्माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुखआचार्य्य-
 मुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ॥ ३६ ॥

‘आचार्यः’ ‘अग्नेः’ ‘उदक्’ उत्तरस्या उदगग्रेषु दर्भेषु ‘प्राङ्’ प्राङ्मुखः सन्
 ‘उपविशति’ उपविशेत् ॥ ३५ ॥ माणवकः’ तत्रैव ‘उदगग्रेष्वेव दर्भेषु’ ‘दक्षिण-
 जान्वक्तः’ भूमिगतदक्षिणजानुकः ‘आचार्यमभिमुखः’ ‘प्रत्यङ्’ पश्चिममुखः सन्
 उपविशेदित्येव ॥ ३६ ॥

भा०—पश्चात् आचार्य अग्नि के उत्तर दिशा में उत्तराग्र रखे हुए कुशों पर
 पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ३५ ॥ बालक भी उसी स्थान में उत्तराग्र रखे हुए कुशाओं
 पर अपना दहिना जाँघ(जानु)भूमि में लगा कर आचार्य के सम्मुख बैठे ॥३६॥

अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं
 दुरुक्तात् परिवाधमानेत्यृतस्य गोप्त्रीति च ॥ ३७ ॥

‘अथ, तदनन्तरम् । आचार्यः ‘एनं’ माणवकं ‘त्रिःप्रदक्षिणं’ यथास्वात्तथा
 ‘मुञ्जमेखलां’ मुञ्जमयीं रशनां ‘परिहरन्’ परिधापयन् “इयं दुरुक्तात्परिवाध-
 माना वयसं पवित्रं पुनती मज्जागात् । प्राणापानाभ्यां धलमाहरन्ती स्वमा-
 देयी शुभगा मेखलेपम्” ॥ २७ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २७)”—‘इति’ मन्त्रं, ततस्तस्य
 गोप्त्री तपसः परस्थी प्रती रक्षः सहमाना श्रतातीः । सा मा समन्तमभिपर्येहि-

भद्रे धर्तारस्ते मेखले मा रिपास" ॥२८॥ (म० ब्रा० १, ६, २८) — 'इति' मन्त्रं 'च' 'वाचयति' । अत्रैव यज्ञोपवीतपरिधापनव्यवहारश्च, परं कौशुमानां सूत्रकारा-
नुरलेखादकृतेऽपि न दोष इति नव्याः । वस्तुतो वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नय-
नमेधोपनयनं, यज्ञोपवीतधारणन्तु दैवकार्यानुष्ठानार्थमेव सूत्रकारेण विहित-
मिति यदायदैव दैवकार्यं कर्तव्यं भवेत् तदा तदैव धार्यं स्यादिति न क्षतिः,
शिखापरिरक्षणन्तु सर्वथैव कार्यमेवान्यथा दैवकार्यकाले कुतश्चायास्यतीति ॥३३॥

भा०—आचार्य, उस बालकको मूँज की बनी हुई मेखला, तीन केरा करके
पहना कर 'इयं दुरुक्तात्' और 'ऋतस्य' गोपत्री इन दो मन्त्रों को पढ़ावे ॥३३॥

* अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवी-
त्विति । ३८ । तस्माज्जन्वाह पच्छोऽर्द्धं च ऋक्शइति महा-
व्याहृतीश्च विहृता ओंकारान्ताः ॥ ३९—४० ॥

'अथ' तदनन्तरम् । भाषावकः 'भोः !' 'अधीहि' अध्यापय, 'भवान् मे
सावित्रीम् अनुब्रवीतु'—'इति' प्रार्थनावाक्यद्वयं कथयन् 'उपसीदति' शरणगती
भवति । ३८ । ततश्च 'तस्मै' भाषावकाय, प्रथमं 'पच्छः' पादं पादं कृत्वा, ततः
'अर्द्धं च शः' अर्द्धं च मर्द्धं च कृत्वा, तदन्ते च 'ऋक्शः' "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" ॥ २९ ॥ पूर्णासृचमावर्त्तयित्वा 'इति' एवमेव
'अज्जन्वाह' अनुक्रमेण ब्रूयात् (३९) 'च' अपि 'विहिताः' विभिक्रीकृताः (१)
'ओंकारान्ताः' 'महाव्याहृतीः' "भूर्भुवःस्वः" (म० ब्रा० १, ६, १) इति अनुब्रूयात् ततः
'ओं' इत्यस्याप्युपदेशः कार्य इत्यर्थः ॥ ३९, ४० ॥

भा०—अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़, नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे
कि—हे गुरु ! मुझे वेद पढ़ावे, एवं सावित्री उपदेश करें ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार
बालक कर्तृक वेदाध्ययन एवं उसका आरम्भ सूचक सावित्री मन्त्र के प्रथम
उपदेश प्रार्थित होने पर आचार्य उसे पहिले एक २ धरण करके, पुनः आधी २
अथवा, फिर सम्पूर्ण ऋचा वार २ आवृत्ति करा देवे। तदनन्तर "भूः, भुवः, और
स्वः"—इन तीन महा व्याहृतियों को अलग-एवं ३ प्रकार की अभ्यास करावे ॥३९, ४०॥

वार्क्ष्वास्मै दण्डं प्रयच्छन् वाचयति सुश्रवसं मा कुर्विति । ४१

,च' ततः 'अस्मै' भाषावकाय 'वाचो' पलाशवृक्षावयवं दण्डं 'प्रयच्छन्'
सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वयं सुश्रवः सुश्रवाः । देवेष्वेव महयं सुश्रवः सुश्रवा
प्राप्स्यथेपु भूयासम्" ॥ ३९ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३९),—'इति' मन्त्रं 'वाचयति'
भाषावकमेव । ४१

भा०:-पश्चात् आचार्य, इस माणवक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर “सुश्रवसः सुश्रवसे ना कुतः” इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ४१ ॥

अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युराचार्याय भैक्षं निवेदयति ॥ ४२-४४ ॥

‘अथ’ उपनयनानन्तरं ‘भैक्षं’ भिक्षार्थं ‘चरति’ अटति (४२) ‘अग्रे’ ‘मात-
रमेव’ भिक्षेतेति शेषः । ‘च’ अपि मातुरेव ‘अन्ये द्वे सुहृदौ’ ततः परं भिक्षेत ।
‘वा’ अथवा ‘यावत्यः’ स्त्रियः ‘सन्निहिताः’ तत्रोपस्थिताः स्युः, ताः सर्वाएव मात्रा-
दिक्रमेषां प्रयत्नं भिक्षेत । ‘पुरुषभिक्षास्य’ मात्रोल्लेखइत्यपि ध्येयम् (४३) ।
संगृहीतञ्च तद्भैक्षं भिक्षार्थं सर्वमेव आचार्याय ‘निवेदयति’ उत्सृजति (४४)

भा०:-इसप्रकार उपनयन होने पर बालक भिक्षाचरण करे । पहिले
माता से भिक्षा मांगे, तदनन्तर माता के दो सुहृद् के निकट, या उस स्थान
में जिसनी स्त्रियां उपस्थित हों, माता से आरम्भ कर सब ही के निकट भिक्षा
ग्रहण करे * । सब भिक्षा को संग्रह कर आचार्य को निवेदन करे ॥ ४२-४४ ॥

तिष्ठत्यहःशेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरणान्तकर्मयापितदिवाबहुभागो माणवकः ‘अहःशेषं’ तद्दिनावशि-
ष्टांशं ‘वाग्यतः’ संयतवाक् सन् ‘तिष्ठति’ तिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात् ॥ ४५ ॥

भा०:-इन कार्यों के करने में बालक का प्रायः सारा दिन बीत जायेगा,
जो कुछ दिन का भाग शेष रह जावे, उसको चुपचाप स्थिरता से बिभ्रान करते
हुए बितावे ॥ ४५ ॥

अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्पमिति ॥ ४६ ॥

* ‘अस्तमिते’ दिवाकरे अग्नये समिधमाहार्पं कृते जातवेदसे । यथा त्व
मग्ने समिधा समिधस्येवमहमायुधा मेधया वर्धमा प्रजया पशुभिर्ग्रस्तवर्धसेन
धनेनावाद्येन समेधिपीय (स्वाहा) ॥ ३२ ॥ (स० ब्रा० १, ६, ३२)-‘इति’ मन्त्रं
पठन् ‘समिधम्’ समित्काष्ठैकम् ‘आदधाति’ अग्राविति शेषः ॥ ४६ ॥

भा०:-पीछे सूर्यास्त होने पर “अग्नये समिधमाहार्पम्” मन्त्र को पढ़ते
हुए अग्नि में एक समित काष्ठ डाले ॥ ४६ ॥

* पुरुष के निकट भिक्षा मांगने वा कोई उल्लेख न होने से ज्ञान पड़ता है कि भिक्षा देना कार्य गृहीणी ही
का है । साधारणतः भी भिक्षुक लोक गृहस्थ के घर पर “भिक्षा दो माई” बोल कर भिक्षा मागा करते । कारी
म अन्नचारी गण भी गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होकर “भवति भिक्षा देहि” इस वाक्य द्वारा भिक्षा मांगने
हैं, इस निये पिता आदि के निकट भिक्षा प्रार्थना और ग्रहण व्यवहार, पिता आदि ॥ भिक्षा दान वाग्दत्ता की
सफलता मन्त्र के लिये है ॥

त्रिरात्रमक्षारलवणाशीभवति ॥४७॥ तस्यान्त सावित्रश्चरुः४८
यथार्थम् ॥ ४९ ॥ गौर्दक्षिणा ॥५० ॥ १० ॥

‘त्रिरात्र’ तद्दिनप्रभृतिर्दिनत्रयम् ‘अक्षारलवणाशी’ क्षारलवणभिन्नभोजी
‘भवति’ भवेत् ॥४७॥ ‘तस्य’ दिनत्रयस्यान्ते चतुर्थाहे ‘सावित्रः’ सवितृदेवताकः
‘चरुः’ पक्कटयः होतव्ययेति सुतरामागतः ॥४८॥ अनन्तरं ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं
विहरणविश्रामादिकं कुर्यात् ॥ ४९॥ उपनयनसंस्कारस्यैतस्य ‘दक्षिणा’ ‘गौः’ एकै-
वेति समाप्तमुपनयनम् ॥ ५० ॥ १० ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥२,१०॥

॥ समाप्तार्थायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥ २ ॥

भा०:-उपनयन दिन से तीन दिन पर्यन्त क्षार लवण न खावे ॥ ४७ ॥
इन तीन दिन के पीछे चरु-पाक करके सविता देवता के उद्देश से आहुति
प्रदान करे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार उपनयन संस्कार शेष होने पर अन्य कार्य जो
हो, अपनी इच्छानुसार करे ॥ ४९ ॥ इस उपनयन संस्कार की दक्षिणा एक
गौ मात्र है ॥ ५० ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दशमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,१०॥

और गोभिलगृह्यसूत्र का द्वितीय प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥ २ ॥

—:०:—

अथ तृतीयप्रपाठकः ।

अथातः षोडशे वर्षे गोदानम् ॥१॥ चूडाकरणेन केशान्त-
करणं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरद्योतनाय । ‘अतः’ उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथाच
यस्य गर्भाष्टमेऽब्देभूतमुपनयनं तस्य गर्भचतुर्विंशाब्दे, एवं यस्य नवमादि षोड-
शाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते ‘गोदानम्’ नाम संस्का-
रविशेषं कार्यम् ॥१॥ अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्तव्यम्, - तच्च ‘केशान्तकरणं’
‘चूडाकरणेन’ पूर्वोक्तेन ‘व्याख्यातम्’ कथितम् ; चूडाकरणवत् कर्तव्यमित्यर्थः ॥२॥

भा०:-उपनयन काल से सोलहवें वर्ष में अर्थात् जिस का गर्भ काल से
गिनती कर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है, उस के गर्भसे २४ वें वर्ष में, और
जिस का नवम आदि १६ वर्ष की अवस्था में उपनयन हुआ हो उस का २५
वर्ष से ३२ वर्ष की उमर में गोदान संस्कार करे ॥ १ ॥ इस समावर्तन कार्य में
जो केश फटाना पड़ता है वह पूर्वोक्त चूडाकरण के नियमानुसार होगा ॥२॥

प्र० २ खंड १० सू० ४७-५०। प्र० ३ खंड १ सू० १-९] समावर्तनम् ॥ १०७

हस्तचारी केशान्तान्कारयते सर्वान्ग्रहलोमानि संहारयते ३,४॥

‘ब्रह्मचारी’ ब्रह्मवेदः, तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी, यदैव ‘केशान्तान्कारयते’ तदैव ‘सर्वाणि अङ्गलोमानि संहारयते’ कक्षवक्षोपस्थशिखाकेशानपि चापयेदित्यर्थः । ३, ४ ॥

भा०:-ब्रह्मचारी अर्थात् वेदाध्ययनाचार युक्त आद्याश्रमी जिस समय केश कटावे । उस समय कक्ष, (वक्ष) वक्ष, (छाती) उपस्थ, (लिङ्ग) और शिखा पर्यन्त के रोम कटावे ॥ ३, ४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य अविमिथुनं वैश्यस्य गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ५-८ ॥

अस्य हि गोदानकर्मणः ‘दक्षिणा’ ‘गोमिथुनं’ गोद्वयम् आचार्याय देयम् ‘ब्राह्मणस्य’ कर्त्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः (५) । ‘क्षत्रियस्य’ अश्वमिथुनम् अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा (६) । ‘वैश्यस्य’ ‘अविमिथुनं’ मेघद्वयं दक्षिणा (७) । ‘वा’ अथवा ‘गौः एव’ ‘सर्वेषां’ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा (८) । तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनस्य देयेति । ५-८ ॥

भा०:-इस गोदान [संस्कार (समावर्तन)] की दक्षिणा ब्राह्मण यदि ब्रह्मचारी हो, तो अपने आचार्य को दो गौ, ॥५॥ यदि क्षत्रिय हो, तो छः घोड़े देवे ॥ ६ ॥ और वैश्य हो तो दो भेड़ा देवे ॥७॥ या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही गौ ही दक्षिणा देवें ॥ ८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

‘केशप्रतिग्राहाय’ केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय ‘अजः’ पुमान् छागः एकएव दक्षिणा देया सर्वजातिब्रह्मचारिभिरिति ॥ ९ ॥

भा०:-केश लोम आदि कटवाने पर जो केशादि की फेकता है अर्थात् नापित उसे, उस के परिग्रहार्थ एक छाग देवे ॥ ९ ॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य सर्वाधिककालाऽप्यस्तास्तीति ज्ञायेत एव चेत्, आचार्याय गोदक्षिणादानानन्तरमपि “अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि”-इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीयइति पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतोभवेत्, तस्येवाचार्यस्यान्तिके स्थितो ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनमास्थोद्वाहकालं प्रतीक्षेतेति । तत्रोपनयनेतिकर्त्तव्यतामाह :-

भा०:-[यदि ब्रह्मचारी को समावर्तन के अनन्तर ग्रहस्थाश्रम (विवाह) ग्रहण

करने में एक वर्ष से अधिक विलम्ब जान पड़े, तो आचार्य को दक्षिणा देने पर भी 'एक क्षण अनाश्रमी न रहे' के अनुसार उसी ब्रह्मचर्याश्रम का अवलम्ब लेना चाहिये, इस लिये पुनः आचार्य के समीप उपनीत हो। अर्थात् पूर्ववत् नियम से अध्याप्य के निकट रहकर ब्रह्म के अर्थात् वेद की आलोचना करते हुये अपने विवाह की प्रतीक्षा करे। यह दोवार उपनयन किस रीति से होगा सो अधिम सूत्र से कहते हैं]

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातं न त्विहाहतं वासो नियुक्तं नालङ्कारः ॥१०-१२॥ नाचरिष्यन्तश्चसम्बत्सरमुपनयेत् ॥१३॥

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् (१०)। विशेषस्तु 'इह' उपनयने 'आहतं वासः' न नियुक्तम् (११)। किञ्चिद् 'अलङ्कारः' अपि न नियुक्तः इत्येव (१२)। १०-१२ ॥ एतदुपनयननिषेधमाहः—
एतदुपनयनतः 'संबत्सरम्' अपि 'अचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठानं न करिष्यन्तं ब्रह्मचारिणं 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतोभयनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणं कर्त्तव्यं, यद् यच्च व्रतमनुष्ठेयम्, अतस्तद्वक्तुमारभतेः—

भा०:—पूर्वोक्त उपनयन कथन द्वारा यह कहा गया है कि विशेष इस उपनयन में अखण्ड वस्त्र एवं अलङ्कार की आवश्यकता नहीं ॥ १०-१२॥ इस उपनयन के पीछे एक वर्ष काल भी जो ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान न करना निश्चित हो, अर्थात् समावर्त्तन के पीछे एक वर्ष के मध्य ही में जिसके विवाह होने की सम्भावना हो, उस को इतने कम दिन के लिये पुनः उपनीत होने की आवश्यकता नहीं ॥ १३ ॥ अब ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यावस्था में क्या २ कर्त्तव्य हैं, सो कहते हैं:—

वार्क्षज्ञास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय 'वार्क्षं दण्डं प्रयच्छन्' तदैव 'आदिशति' अनुसूत्रवदयमाखान् उपदेशानिति ॥ १४ ॥ ते चोपदेशादमे:—(१) 'अधर्माचरणात् अन्यत्र' अधर्माचरणमाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मापदेशश्च न श्रवणीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव, इति प्रथमोपदेशः ॥ १५ ॥

भा०:—उपनयन काल में जब माणवक को दण्ड प्रदान करे उस समय

वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा कहे हुए उपदेशादि देवे ॥१४॥ आचार्य का यदि कोई अधर्माचरण देखो, तो उस का अनुकरण न करना, और आचार्य यदि अधर्म करने कहें तो, उसे भी न करना; अधर्माचरण को छोड़ कर सर्वथा आचार्य, जय जो करने कहें, उस समय वही करो, एवं सततकाल आचार्य के मतानुगामी रहने की चेष्टा करो ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥१६॥ मैथुनम् ॥१७॥ उपरि शय्याम् ॥१८॥
कौशीलवंगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

(२३) 'क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्ययहारश्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकाये विवादादिकं ना कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कायेम् ॥ १६ ॥ (४) 'मैथुनं स्त्रीसङ्गं वर्जय इत्येव सर्वत्र ॥ १७ ॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय । इति पञ्चमोपदेशः ॥ १८ ॥ (६, ७, ८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको मास्यद्युत्पद्य, अञ्जनं क्षुप्तयोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय । अत्रापि यथा वाच्यायनस्य व्याघातकरी मनोजाविर्भावः स्पादेवं कौशीलयादिकं वर्जयेत्, न तु खानादिगीतवादित्रचर्चां, नापि गुरुप्रसादगन्धमास्यादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारं वर्जयेत् । अतएव मनुनाम्भ्यायि "यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते" इत्यादि १९

भा०:-क्रोध के कोई कारण होने पर भी क्रोध प्रकाश पूर्वक विवादादि न करना एवं झूठ बोलनादि कर्म भी न करना ॥१६॥ स्त्री प्रसङ्ग न करना, ॥१७॥ गुरु की शय्या की अपेक्षा अपनी शय्या ऊंची न करना ॥ १८ ॥ जिस्से मनो-विकार उत्पन्न हो, ऐसा नृत्य, गीत, वाजा, आदि की चर्चा, चन्दन, और मोलादिगन्ध का व्यवहार एवं आंखों में अञ्जन धारण आदि न करना ॥ १९ ॥

स्नानम् ॥२०॥ अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥२१॥

(८) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय ॥ २० ॥ (१०, ११, १२) 'अवलेखनं' मुखशोभनालकालिकादि 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यापदाधरणं सदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आधश्यकतिरिक्तम्; इमानि च त्रीणि वर्जय ॥ २१ ॥

भा०:-जल क्रीडा पूर्वक स्नान न करना ॥२०॥ अलका तिलक द्वारा मुख को सुन्दर करना, तुत्थकादि द्वारा दांत रंगना एवं आवश्यकता के अतिरिक्त बहुत देर तक पैर न धोना ॥ २१ ॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमांशसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोह-
णम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्रामउपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेण केशलोमादिनां वापनं वर्जय । पूर्व यदुक्तं
ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापकं तत् समावर्तनाद्गभूतं बोध्यम् ।
॥ २ ॥ (१४, १५) 'मधु' सारघम् वर्जय । २३ । (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरो-
हणं वर्जय ॥ २४ ॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकायोः
'धारण' वर्जय । २५ ।

भा०—क्षुर (अस्तरा) के द्वारा केश, लोम, आदि का मुण्डन न करावे ॥ २२ ॥ *
मधु नबिखियों द्वारा एकत्र किया शहत एवं मांस भी न खावे ॥ २३ ॥ गौ
द्वारा की सवारी चलायी जावे, उस पर भी न चढ़े ॥ २४ ॥ ग्राम के मध्य
ही कर जुता न पहने ॥ २५ ॥

स्वयमिन्द्रियमोचनमिति ॥ २६ ॥ मेखलाधारणभैक्षच-
र्यदण्डधारणसंमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते
नित्यधर्माः ॥ २७ ॥

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वर्जयेत्येव । 'इति' इमेष्टा-
दृशे वर्जनीया गताः । २६ । कर्त्तव्यानुपदिशति— (१-५) मेखलाया धारणम्,
भिक्षाचारिणीभाषायलम्बनम्, दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्, उदकाना-
मुपस्पर्शनपूर्वकभीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति
एते' पञ्च व्ययहाराः नित्यधर्माः प्रतिदिनकर्त्तव्याः । २७ । ब्रह्मचारिणां चत्वारि
वेदव्रतान्पुण्ड्रेयानि गौतमेनोक्तानि चाचार्योप्ययमाह—

भा०—हस्त मैथुन * न करना । ये, १८ उपदेश समाप्त हुए ॥ २६ ॥ मेखला
धारण, भिक्षा मांग कर मेट भरना, दण्ड धारण, समिदाधान, जल से हाथ पैर
धोकर ईश्वरोपासना, एवं प्रातः ही उठ कर गुरु जनों को अभिवादन, ये पांच
कर्म प्रति दिन कर्त्तव्य हैं ॥ २६, २७ ॥ समावर्तन के पीछे ब्रह्मचारी की और
४ व्रत करना चाहिये सो कहते हैं ।

गोदानिकप्रातिकादित्यव्रतौपनिषदज्यैष्ठसामिकाः संव-
त्सराः ॥ २८ ॥

* रम के पूर्व ३ व सूत्र में जो केश मुण्डन की व्यवस्था बही गयी है, वह समावर्तन गतरार में वर्तन
दितीय गृहे ॥ ३ ॥ वा नित्य विधायक है ॥ ६६ यह दुर्गुन आज कल—राम एवं वाजि के लक्षों में अधिकांश
पदा न वा दे रम वा कारण शिष्ट का अन्तर्ग है ॥

‘संवत्सराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवे-
युरित्यर्थः । तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः ‘गोदानिकाः’ स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां
सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम् । केचनाब्दाः ‘व्रातिकाः’ स्युः विशेषतोऽत्रारण्यसं-
हितोक्तव्रतपर्वणामेवानुशीलनं कर्तव्यम् । केचनाब्दाः ‘आदित्यव्रतीपनिषदाः’
स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः ‘कर्त्त-
व्यम् । केचनाब्दाः ‘ज्येष्ठसामिकाः’ स्युः अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशी-
लनं प्रधानतः कार्यमिति । यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः गोदानिकाः परन्तन्नाप्युत्त-
राब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसंवादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात्
केचनाब्दाः प्रथमादयः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च
विशेषतो व्रातिकाद्यादिभिः प्रसिद्धाः । यथा च सामवेदीय आर्चिकः सर्वेष्व
छन्दोमय स्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्चिक इति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु
‘छन्दः’ इत्येव । यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहादीनां सर्वेषामेव दशाकालानां
यहस्वेऽपि निजभीम्या वर्षाः मासा वा तत्र खलपाएय भवन्तीति ॥ २८ ॥

भा०—उपनयन से १६ वर्षे ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन कर ब्रह्मचारी कर्त्तव्य
वेदाध्ययनादि सम्पूर्ण होने पर आचार्य्य को दक्षिणा स्वरूप दो गोदान दकर
अपने घर लौट जाता, इसी कारण २४ वर्षे के वयस में कर्त्तव्य उस संस्कार
को ‘गोदानिक’ एवं ‘समावर्तन’ कहते हैं । इस १६ वर्षे के बीच, ४ व्रत करने
पड़ते, हैं और उस के अनुयायी ही यह षोडशाब्द चार नाम से प्रसिद्ध हो
जाता है । उनमें से जो कई एक वर्षों में वेद ग्रन्थ समस्त का अध्ययन समा-
न्यतः समाप्त होगा उसे गोदानव्रत एवं उस कई एक वर्षे को उस का अनुयायी
‘गोदानिक अब्द’ कहते हैं । उस के पश्चात् जो कई एक वर्षे में पुनः “शरण्य
संहिता” के व्रत पर्व का विशेष अनुशीलन करना होता, उस कई एक वर्षे को
‘व्रातिकाब्द’ कहते । अगन्तर जो कई एक वर्षे में “आदित्य व्रत” नाम आदि
और उस के साथ उपनिषद् ब्राह्मण का विशेष अनुशीलन करना पड़ता, उस
कई एक वर्षे को “आदित्य व्रतीपनिषद् अब्द” कहते । इसी प्रकार शेष के
जिस वर्षे में, या कई एक वर्षे में ज्येष्ठसाम आदि का विशेष अनुशीलन
किया जाता, उस कई एक वर्षे को “ज्येष्ठसामिक अब्द” कहते । यद्यपि वस्तुतः
ये षोडशाब्द ही “गोदानिक” है, किन्तु जिस प्रकार सामवेदीय आर्चिक
ग्रन्थ का आद्यन्त सब ही छन्दोमय होने पर भी उत्तर दल का ‘उत्तरा’ यह
विशेष नाम रहने से पूर्व दल मात्र को ही ‘छन्दः’ कहते; उसीप्रकार इस
स्थान में भी उत्तराब्द आदि का व्रतादि विशेष नाम रहने से प्रथमादि कई

एक वर्ष मात्र को 'गोदानिक' शब्द कहते । ज्योतिष शास्त्र में भी ग्रहों की दश समधिक काल होने पर भी प्रथम कई एक वर्ष, या कई एक मास मात्र उस ग्रह की 'अपनी दशा' कह कर परिचित होती ॥ २८ ॥

तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम् । ॥ २९ ॥ आदित्यव्रत-
न्तु न चरन्त्येके ॥ ३० ॥

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ध्वं व्रतेषु 'सायंप्रातः' 'उदकोपस्पर्शनम्', आचम-
नादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ॥ २९ ॥ 'एके' 'आदित्यव्रतन्तु' न 'चरन्ति'
उपनिषद्ब्रतमेव केवलमाचरन्ति न पुनरादित्यव्रतयुक्तं तदिति भावः ॥ ३० ॥

भा०:-इन्होंने गोदानिक आदि चार व्रतों में सायंकाल एवं प्रातःकालमें आच-
मन आदि करके यद्योक्त रीति से ईश्वरोपासना करे ॥ २९ ॥ अनेक लोग "उप-
निषद्" ब्रत के साथ "आदित्यव्रत" का अनुशीलन नहीं करते ॥ ३० ॥

ये चरन्त्येकवाससो भवन्त्यादित्यञ्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशर-
णाभ्यानापोऽभ्यवयन्त्यूध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ॥ ३१-३३-१

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः
तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः । 'व' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र'
'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम् ततोऽन्यत्र
आदित्यान्तर्धानाय छत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः । 'अगुरुप्रयुक्ताः'
गुरुभिः विशेषकाकार्यार्थमनुज्ञाताः 'जानुभ्यामूध्वम् अपः' जानुद्वयाधिकान्य-
दकानि 'न अभ्यवयन्ति' नायतरन्ति गंभीरमदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोप-
देशः । ३१-३३ । १

इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३, १

भा०:-जो लोग 'आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद्ब्रत' अवलम्बन करते हैं,
उन को निम्न लिखित तीन व्रत अवलम्बन करना चाहिये । प्रथम-जब तक
इन व्रत का अनुष्ठान करे, उत्तरीय वस्त्र का व्यवहार न करे, एक ही वस्त्र से
नियाँह करे । द्वितीय, तब तक, घर एवं वृक्ष के अतिरिक्त सूर्य को तिरोहिन
(छिपाये) न करे अर्थात् छाते आदि का व्यवहार न करे । तृतीय, तब तक, गुरु की
विशेष छाया बिना, जानु परिमाण जल से समधिक जल में न जाये ॥ ३१-३३ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम खण्ड का भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥ ३ । १ ॥



द्वादशमहानाम्निकाः संवत्सरा नवपट्त्रय इति विकल्पः । १-२

[प्र० ३ खं० १ सू० २९-३३, खं० २ सू० १-१०] समावर्तनं ब्रह्मचारिकृत्यम् ॥ ११३

‘महानाम्नीः’ महानाम्नि सामानुशीलनसाध्याः ‘संवत्सराः’ द्वादश, त्रयः, षट्, त्रयः—‘इति विकल्पः’ अस्ति। इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका अवदाः गोदानिकपोडशाब्दतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः । १-३ ॥

भा०:—“महानाम्नी” नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन-साध्य व्रत करे, वह १२, ९, ६, या ३ वर्षों में पूरा होगा। ये द्वादश आदि वर्ष, पूर्वोक्त १६ वर्ष से अतिरिक्त है। जो लोग इस काम्यव्रत के अनुष्ठान करने की इच्छा करें, वे, षोडशाब्द में गोदानादि चारों व्रत अनुष्ठान करके अवश्य कर्तव्य ब्रह्मचर्य समाप्त कर और यथा सामर्थ्य १२, ९, ६ वा ३ वर्ष और भी ब्रह्मचर्य करें। इस व्रत का फल आगे कहा जावेगा ॥ १-३ ॥

संवत्सरमप्येके । ४। व्रतन्तु भूयः पूर्वैश्चेच्छ्रुतामहानाम्नीः ॥ ५, ६

‘संवत्सरम्’ ‘अपि’ तस्य सामानुशीलनम् ‘इति’ ‘एके’ आचार्या वदन्ति ॥ ‘तु’ अपि ‘व्रतम्’ एकवार्षिकमेवैवम् ‘भूयः’ बहु जन्येत, यदि ‘चेत्’ ‘पूर्वैः’ व्रतप्राक्कालैः ‘महानाम्नीः’ ‘श्रुताः’ अनुशीलिताः स्युः । ५, ६ ॥ ‘एतत्काम्यकर्म शोषहृद्गतायोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति ;—

भा०:—कोई २ आचार्य कहते हैं कि एक ही वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४ ॥ यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व “महानाम्नीसाम” की रीत्यनुसार शिक्षा हो जावे, तो यहाँ एक वर्ष व्रत यथेष्ट है ॥ ५, ६ ॥

अथाहि रौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्ररीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ॥ ७-९ ॥

‘अथापि’ ‘रौरुकि ब्राह्मणं’ रौरुकिनामब्राह्मणोक्तं लौकिकप्रवादवचनं ‘भवति’ अस्ति । किन्तु ? इत्युच्यते—‘ह’ निश्चयं पुरा ‘मातरः’ ‘कुमारान्’ स्वपुत्रान् ‘पाययमानाः’ स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म’ उक्तवत्यः । किमुक्तवत्यः तदाह “हे ‘पुत्रकाः’ ! यूयं ‘शक्ररीण्डोमूलकमहानाम्नीनां’ ‘व्रतम्’ अनुशीलननिधमं ‘पारयिष्णवः’ ‘भवत’—‘इति’ ॥ ७-९ ॥ इदानीं तद्ब्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह—

भा०:—“रौरुकिब्राह्मण” (ग्रन्थ) में एक लौकिक प्रवाद है कि मातृगण अपने पुत्रादिक को स्तन्य पान कराते २ कहती हैं कि “ हे वत्स ! शक्ररी व्रतानुष्ठान के नियम को पार करने में समर्थ होओ ” । महानाम्नी साम की अस्थि स्वरूप पद्य मन्त्र आदि शक्ररी छन्द है ॥ ७, ८, ९ ॥

तास्वनुसवनमुदकीपस्पर्शनम् । १० नानुपस्पृश्य भोजनं

प्रातः । ११ सायमुपस्पृश्याभोजनमासमिदाधानात् ॥१२॥

(१) 'तासु' शक्नोतीषु शक्नोतीसाधनायेति यावत् । 'अनुसवनम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥१०॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातःभोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम् ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्', 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम् ॥१२॥

भा०:—इस महानाम्नी व्रत में प्रत्येक सन्धिकाल में जल से हाथ पैर आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥ १० ॥ प्रति सन्धाकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल स्पर्श आदि किये बिना " प्रातराश " (प्रातःकालीन भोजन) भी न करे ॥ ११ ॥ सायंकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल न ग्रहण करके भी समिदाधान के पहिले भोजन न करना अर्थात् सन्ध्योपासन और समिदाधान समाप्त करके 'सायमाश' (सन्ध्या का भोजन) भोजन करे ॥ १२ ॥

कृष्णवस्त्रः । १३ । कृष्णभक्षः । १४ । आचार्याधीनः । १५ । अपन्थदायी । १६ । तपस्वी । १७ । तिष्ठेद्विवा । १८ । आसीत नक्तम् । १९ । वर्पति च नोपसर्पेच्छन्दम् ॥ २० ॥

(४) कृष्णवर्णं रक्षितमपि वा नलद्रूपितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् । १३ । (५) कर्त्याकर्त्याविचारेणैवास्मादिकं भक्षणीयम् । १४ । (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वत आज्ञाकारी भवेदिति शेषः । १५ । (७) पथिकेभ्यः पन्थादानशीलो न भवेत् तथाच स्वातकव्रतमाचरेदिति भावः । १६ । (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्निमसूत्रत्रिकेण स्फुटीभविव्यति । १७ । (९) 'दिवा' अह्नि 'तिष्ठेत्' इत्येव ; नोपविशेत् शयनकथा तु दूरपराहता । १८ । (१०) 'नक्तम्' रात्रौ 'आसीत' शयनोपवेशने कुर्यात्, न च तिष्ठेदिति नियमः । १९ । (११) 'वर्पति च' पञ्चन्ये छत्रं मनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं 'न उपसर्पेत्' नाशयेत्, वृष्टिपितृण्य भवेदित्याशयोऽयथा वृक्षादिच्छायायलम्बनेऽपि न दोषः । २० ॥

भा०:—काला, रंगा हुआ (किसी रंग में) या मलिन वस्त्र व्यवहार करे ॥१३॥ भला, घुरा, विचार न करके जिस समय जो भोजन मिले, उसी को खाये ॥१४॥ सर्वथा आचार्य का आज्ञाकारी हो ॥ १५ ॥ अपरापर पथिक गरा को रास्ता देने में बाध्य (मजबूर) न हो अर्थात् स्वातक व्रतानुष्ठानकारी होवे ॥१६॥ तपस्वी होवे । " तपस्वी " का लक्षण ३ मूर्खों में आने कहेंगे ॥ १७ ॥ दिन में गड़ा रह कर काम काटे, सोने की बात तो दूर रहे, घंटे भी नहीं ॥ १८ ॥

रात्रि काल में बैठे या सोवे, परन्तु खड़ा न हो ॥१९॥ मेह वर्षने पर पानी से भीगने के भय से मनुष्यादि निर्मित गृहादि का आश्रय न करे; प्रत्युत दिन में खड़ा होकर, एवं रात्रि में बैठ, या सोकर, पानी वर्षते में भीगते, अथवा विशेष क्लेशबोध होने पर, वृक्ष आदि नैसर्गिक छाया भी अवलम्बन करे, तो हानि नहीं २०

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्य इति । २१ । विद्योत्तमानं ब्रूया-
देवथरूपाः खलु शक्यो भवन्तीति । २२ । स्तनयन्तं ब्रूया-
न्मह्या महान् घोष इति ॥ २३ ॥

(९) 'वर्षन्त' पर्जन्य अभिलक्ष्य 'आपः' इमाः अपि 'शक्यः' शक्करिख-
न्दोरूपाएव 'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २१ (१०) 'विद्योत्तमानं' बलाहकमभिलक्ष्य
'एवंरूपाः खलु शक्यः भवन्ति'—'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २२ (११) 'स्तनयन्त' गर्ज-
न्तं घनघटामण्डल अभिलक्ष्य 'मह्याः' महत्याः शक्योऽप्य 'महान् घोषः' 'इति'
एवं 'ब्रूयात्' ॥ २३ ॥

भा०—पानी वर्षते देख कर बीले कि "ये जल धारा समस्त शकरी खन्दो-
मय मन्त्र हैं", बिजुली देख कर—"शकरी खन्द सब भी निश्चय इसी प्रकार है"।
मेघ गर्जन सुनकर बीले कि "ये बड़े २ शब्द अवश्यही महती शकरीखन्द के हैं" ॥ २१-२३ ॥
न खवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् । २४ । न नावमारोहेत् । २५ ।
प्राणसंशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २६ ॥

(१२) 'खवन्ती' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शनं सकृद्वैव 'न अतिक्रामेत्'
पन्थानमिति । २४ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छे-
दिति भावः । २५ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः
स्यात्, तत्र 'तु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥ २६ ॥

भा०—रास्ते—में यदि स्त्रीतस्वती नदी अनति दूरपर जाये, या दहिने
मिले, उस को बिना स्पर्श किये न जावे । नौका पर सवार न हो, तैरकर ही
नदी पार आदि गमन करे । जिस स्थान में तैर कर पार आदि जाने से प्राण
का भय हो, तो वहां जल स्पर्श करके नौका में बैठ कर पार जावे ॥ २४-२६ ॥

तथा प्रत्यवरुह्य । २७ । उदकसाधवो हि महानाम्न्यं
इति । २८ । एवं खलु चरतः कामवर्षो पर्जन्यो भवति ॥ २९ ॥

'प्रत्यवरुह्य' नीतइति यावत् 'तथा' एव उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् । २७ । महा-
नाम्नीव्रते कथमेवं कर्त्तव्यमित्याह—'हि' यतः 'महानाम्न्यः' अथः 'उदकसाधवः'

उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति अतः एतद्ब्रतसाधनाय सर्वयैवोदकव्य-
वहारो विधेय इति भावः ॥ २८ ॥ तेन किम्फलमित्याह—‘एवम्, उक्तप्रकारेण
‘चरतः’ जनस्य ‘खलु’ निश्चयमेव ‘पर्जन्यः’ कामवर्षी भवति । एवञ्च ब्रतमिदं
काम्यमिति फलितम् ॥ २९ ॥

भा०—नौका से उतरते समय भी उसी प्रकार जल स्पर्श करे । महानाम्नी
ऋग् आदि जिस कारण जल व्यवहार द्वारा ही साधनीय है, इस लिये इस
व्रत में सब प्रकार से जल का व्यवहार कर्त्तव्य कहा गया है, इस प्रकार
आचरण करने वाले के पक्ष में पर्जन्य (मेघ) निश्चय ही कामवर्षी होते ।
अर्थात् इस प्रकार व्रतानुष्ठान सिद्ध-व्यक्ति के वृष्टि की इच्छा करने पर वृष्टि
ही ही गी । इस लिये इस को “काम्य-कर्म” कहते हैं ॥ २९-२९ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेपु ॥ ३० ॥

‘वा’ अथवा ‘कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेपु’ पूर्वोक्तेषु ‘अनियमः’ कर्त्तव्यतया
नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्पश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

भा०—या, असमर्प होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि
नियम प्रतिपालन न करने में दोष नहीं ॥ ३० ॥

तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेदेवमितरे स्तोत्रीये
सर्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ ३१-३३ ॥

यावत्कालमेतद्ब्रतमाचरितव्यमवेत् तस्य ‘तृतीये’ अंशे ‘चरिते’ ‘स्तो-
त्रीयां’ प्रथमाश्रयम् ‘अनुगापयेत्’ आचार्यः । व्रतानुष्ठेयकाल-तृतीय-भाग-गते
आचार्यस्तं प्रतिममाद्यङ्मूलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः (३१) ‘इतरे’ द्वितीय-तृतीये
अपि ‘स्तोत्रीये’ ऋषौ ‘एवम्’ तृतीयांशानुसारत एवानुगापयेत् । एवं हि व्रत-
कालस्य मध्यम तृतीयेऽंशेऽतीति मध्यमङ्मूलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिम-
तृतीयेऽंशेऽन्तिमङ्मूलकं सामाध्यापयेदिति परंपर्यसितार्थः (३२) ‘वा’ अथवा
‘सर्वस्य’ व्रतकालस्य ‘अन्ते’ एकदैव ‘सर्वाः’ स्तोत्रीयाः अनुगापयेत्, महाना-
म्नीसाम् पूर्वमेवाध्यापयेदिति यावत् (३३) ॥ ३१-३३ ॥ यद्विहितं महानाम्नीमा-
नानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाह—

भा०—यह महानाम्नी व्रत जय तक अनुष्ठेय हो, उसके एक तृतीयांश
समय बीतने पर, आचार्य इस व्रती को प्रथम ऋग् गान का अभ्यास करावे,
पीछे और एक तृतीयांश समय बीतने पर मध्यम ऋग् का गान उपदेश करे,
अनन्तर शेष तृतीयांश धीतने पर शेष ऋग् का भी गान करावे, या समस्त

प्रतकाल शेष होने पर एक ही बार में तीनों ऋचाओं का गान करावे, अर्थात् समस्त महानाम्नी साम का उपदेश अन्त में एक ही समय प्रदान करो ॥३१-३३॥

उपोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ ३४ ॥

‘उपोषिताय’ वक्ष्यमाण (३१) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च ‘सम्मी-
लिताय’ वक्ष्यमाण (३५) विध्यनुगतवसनबद्धनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे ‘अनु-
गापयेत्’ शङ्करी स्तोत्रीयास्तिस्रः, आचार्यः ॥ ३४ ॥ सम्मीलनप्रकार माहः—

भा०—३१ वें सूत्र में कहे अनुसार अभोजन और ३५ वें सूत्र में कहे अनु-
सार आंख बन्द करना; ब्रह्मचारी को आचार्य शङ्करी हृन्द् के तीन
स्तोत्रीय गान करावे, इसी गान को महानाम्नी—साम कहते हैं ॥ ३४ ॥

**कंसमपां पूरयित्वा सर्वोपधीः कृत्वा हस्तावब्रधाय
प्रदक्षिणमाचार्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३५ ॥**

‘कंस’ पात्रमेकम् ‘अपां’ प्रदानेन ‘पूरयित्वा’ तत्रोदकपूर्णकांसपात्रे ‘सर्वो-
पधीः, ग्रीष्मादीः सप्त ‘कृत्वा’ लिप्त्वा, तत्रैव ‘हस्तौ’ ब्रह्मचारिणः ‘अवधाय’
निमग्नौ कारयित्वा ‘आचार्यः’ ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘अहतेन वसनेन’ तस्यैव
अक्षिणी ‘परिणह्येत्’ बद्धे कुर्यात् । इत्यमेव सम्पाद्य तस्य सम्मीलनम् ॥३५॥

भा०—आचार्य, एक कांसे का पात्रजल पूर्णकर उस में धान्य आदि सात
प्रकार की औषधि डालकर उस में ब्रह्मचारी के दोनों हाथ को डुबाकर रखे
और इसी अवस्था में उस की दोनों आंखों की अखण्ड वस्त्र से बान्ध देवे । इस
प्रकार मुद्रित नेत्र होगा । एवं इसी क्रिया का नाम ‘परिणहन’ है ॥३५॥

**परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् । ३६ । परिणह्यो वाग्यतो
न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३७ ॥**

‘परिणहनान्ते’ ‘वा’ च ‘अनुगापयेत्’ ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आ-
चार्यः । ३६ । ‘परिणह्यः’ च ‘वाग्यतः’ भवेत् किञ्च ‘त्रिरात्रम् अहोरात्रौ वा, यथा-
सामर्थ्ये’ न भुञ्जीत भोजनं न कुर्यात् ॥ ३७ ॥ परिणहनोपवासवैकल्पमाहः—

भा०—इस प्रकार ‘परिणहन’ अर्थात् आंख बान्धने पर आचार्य ब्रह्मचारी
को महानाम्नी साम का अध्ययन करावे ॥ ३६ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणह्य
ब्रह्मचारी संयत्वाक् हो अपनी शक्ति अनुसार तीन रात, या एक दिन रात
भोजन न करे ॥ ३७ ॥ अब परिणहन पूर्वक उपवास का अनुकल्प कहते हैं ।

अपिवाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयाच्छ्रोभूतेऽरण्येऽग्निमुपस-

माधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेदग्निं माज्यमादित्यं
ब्रह्माणमनङ्वाहमन्नमपोदधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभि-
व्यख्यमिति एवं त्रिः सवर्षाणि ॥ ३८-४२ ॥

‘अपि वा’ अथवा ‘आ अस्तमयात्’ सूर्यास्तकालादारभ्य ‘अरण्ये तिष्ठेत्’
अरण्यस्थितिं कुर्वीत (३८) । ततः ‘श्वोभूते’ प्रभातायां रजन्यां ‘अरण्ये, एव
तत्र ‘अग्निम्’ उप ससाधाय’ यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ ब्रह्मचा-
री ‘व्याहृतिभिः, भूर्भुवःस्वरिति ‘हुत्वा’ (३९) ‘अथ’ अनन्तरम्, आचार्यः
‘एनम्’ ब्रह्मचारिणं ‘अग्निम्’ आज्यम्, आदित्यं, ब्रह्माणम्, अनङ्वाहम्, अन्नम्,
अपः, दधि—इति’ अष्टौ ‘अवेक्षयेत्’ दर्शयेत् (४०) । तत्र च ‘स्वरभिव्यख्यं
ज्योतिरभिव्यख्यम्’—इति’ इदं मन्त्रं पाठयेत् (४१) । ‘एवं’ उत्कलक्षणं मन्त्रं
‘त्रिः’ त्रिवारं ‘सवर्षाणि’ वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव । तथाच एतन्मन्त्रस्य त्रि-
विः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् (४२) । ३९-४२ ॥

भा०—अथवा सूर्यास्त समय से वन में रहे । अनन्तर निशा-प्रभात समय
उसी वन में यथाविधि अग्नि जलाकर, उसी जलती आग में व्याहृति मन्त्र
से हवन प्रदान करे । फिर आचार्य उसे अग्नि, आज्य, आदित्य, ब्रह्माण, एपम,
अन्न, जल, और दधि—ये आठ नाङ्गलिक वस्तु क्रमशः दिखलावे एवं प्रत्येक
वस्तु के देखते समय तीन २ बार स्वः देखा—ज्योतिः देखा कहवावे ॥ ३८-४२ ॥

शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते । ४३ । सोऽस्य वाग्विसर्गः ॥ ४४ ॥

सर्वकर्मशेषे ‘शान्तिं कृत्वा’ शान्तिपाठं पठित्वेति यावत् ‘गुरुम्’ आचा-
र्यम् ‘अभिवादयते’ । ४३ ‘सः’ अभिवादनकालएव ‘अस्य’ व्रतिनः ‘वाग्विसर्गः’
याचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ४४ ॥

भा०—समस्त कर्म की समाप्ति में शान्ति पाठ कर आचार्यको अभिवा-
दन करे ॥ ४३ ॥ गुरु को अभिवादन करने पर्यन्त ब्रह्मचारी संयतयाक् रहे
एवं अभिवादन के पश्चात् ‘संयतयाक् का नियम छोड़ देवे ॥ ४४ ॥

अनङ्गान् कंसो वासो वरे इति दक्षिणाः प्रथमे विकल्प
आच्छादयेद्गुरुमित्येके । ४५, ४७ ॥

‘अनङ्गान्’ एपमः, ‘कंसः’ कांस्यपात्रम्, ‘वासः’ वसनम्, ‘वरः’ गीः ‘इति’
पतलः ‘दक्षिणाः’ महानाग्निप्रतस्येति शेषः (४५) । तत्र च ‘प्रथमे’ अनङ्ग-
द्वये एव ‘विकल्पः’ विकल्पतः कंसादीनां मन्यतमोव्यवशेषः (४६) । ‘एके’ आचार्याः
‘तु’ गुरुम् आच्छादयेत्—यासोभिरिति शेषः—इत्येव विदधतीति (४७) । ४५-४७

भा०:-इस महानाम्नी/व्रत के साथ वृषभ, कांद्यपात्र, वसन, और गौ दक्षिणा देवे । इन में से कांद्यपात्र आदि तीन वस्तु गौ का ही विकल्प है । इस से वृषभ ही प्रकृत दक्षिणा है । कांद्य अभूति तीनों वस्तु साध्यानुसार व्ययस्था किपी है । अर्थात् जिस की गौ न हो, वह कांद्यपात्र, इस के अभाव में वसन, इस के अभाव में गौ । कोई २ आचार्य कहते हैं कि गुरु की सध्याङ्ग वस्त्र द्वारा आवृत्त करे ॥ ४५-४७ ॥

ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयाद्वचंसाम यजामहे इत्येतयर्च्चा
सदसस्पतिमद्भुतमिति चोभाभ्यां वा अनुप्रवचनीयेष्वेवम् ४८, ४९

महानाम्निकव्रतकृत्यमुक्तेदानों सर्वव्रतसाधारणशेषकर्तव्याणि क्रमाद् विधत्ते,
'ऐन्द्रः' इन्द्रदेवताकः 'स्थालीपाकः' पक्वव्यहति मायत् । 'तस्य' स्थालीपा-
कावस्य भागैकम् 'अन्नं' साम यजामहे (४, २, ३, १०)'-इति' एतया ऋचा,
'वा' अथवा 'सदसस्पतिमद्भुतम्' (२, २, ३, ४)'-इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा
'वभाभ्याम्' एव ऋगभ्याम् 'जुहुयात्' (४८) । 'एवम्' उक्तप्रकारो विधिः 'अनुप्रवच-
नीयेषु' सर्वसामाध्ययनेष्वेव योध्यः, न तु महानाम्निसामाध्ययनार्थमेवेति ॥ ४८, ४९

पूर्वत्र (प्र० १० खं० ११ सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः, व्रतसमा-
प्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते:-

भा०:-इन्द्र देवताक स्थाली पाक यह प्रस्तुत करे । एवं इस पर की यथा-
भाग ग्रहण कर "अन्नं साम यजामहे" (३, २, ३, १०) मन्त्र पाठ करते हुए अथवा
"सद सस्पतिमद्भुतम्" (२, २, ३, ७) मन्त्र पाठ करते हुए किंवा दोनों मन्त्र
का पाठ कर होम करके ॥ ४८ ॥ जो कोई साम ग्रन्थ अध्ययनकरे उन सबही ग्रन्थ
की समाप्ति में यह होम करे, केवल महानाम्नी साम ही के लिये नहीं ॥ ४८, ४९ ॥

महानाम्नी व्रत में जो २ कर्त्तव्य है सो २ कहकर अथ साधारण व्रतों के
अन्त में जो विशेष कर्त्तव्य है उसे कहते हैं:-

[पूर्व (प्र० २ खं० १० सू० १६) व्रत ग्रहण काल में जो मन्त्र आदि कहे
गये हैं, कुछ पाठ बदल कर वे ही सब व्रत समाप्ति काल में भी विहित हैं ।]

सर्वत्राचार्यं तदशकं तेनारात्समुपगामिति मन्त्रविशेषः ॥ ५० ॥

'सर्वत्र' व्रतान्तेषु 'मन्त्रविशेषः' पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्य इति कानि च
तानि पाठपरिवर्त्तनानि ? इत्याह-'अचार्यम्', 'तदशकम्' 'तेनारात्सम्' 'उपा-
ताम्' इति इमानि । तानि ॥ मन्त्रग्राह्यलोकेषु 'अग्ने व्रतपते (१, ६, ९-१३)'
'त्येवमादिषु पक्षेषु योष्यानि ॥ ५० ॥

भा०:-व्रत समाप्त होने पर पूर्वोक्त मन्त्र (म० ब्रा० १.६.८-१३) क्रिया आदि भूतकाल के रूप में व्यवहृत करे ॥ ५० ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेपो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥५१॥

‘आग्नेये’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘अजः’ एकः आचार्याय देयः । ‘ऐन्द्रे’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘मेयः’ एकः आचार्याय देयः । ‘पावमाने’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘गौः’ एका आचार्याय देया । इति ‘पर्वदक्षिणाः’ गेयगाननाम-गानग्रन्थीय-पर्वनाम-परिच्छेदानामध्ययन-निमित्ता दक्षिणाः आचार्यालभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यावस्थायां दातुमनर्थयेत् गृह-स्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः । ५१। गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते :-

भा०:-आग्नेय पर्व अधीत होने पर, आचार्य को एक छाग दक्षिणा देवे, ऐन्द्र पर्व पढ़ चुकने पर, एक भेड़ा एवं पावमान पर्व पढ़ लेने पर एक गौ दक्षिणा देवे । इस को पर्वदक्षिणा कहते । अर्थात् गेयगान नामक सामवेदीय गान ग्रन्थ का पर्वनाम से प्रधान परिच्छेदत्रय के पढ़ाने की दक्षिणाएँ हैं, यदि इसे ब्रह्मचर्यावस्था में प्रदान न कर सके तो गृहस्थाश्रम के प्रवेश काल में भी इस ऋण को चुका देवे तो हानि नहीं ॥ ५१ ॥

प्रत्येत्याचार्यं सपर्यत्कं भोजयेत्सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ५२, ५३

‘प्रत्येति’ गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः, ‘सपर्यत्कं’ पुत्रादिपरिजनसहितम् ‘आचार्यं’ ‘भोजयेत्’ । तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकानामनीय आचार्यगृहे गत्वा वेति न नियमः (५२) । किञ्च ‘सब्रह्मचारिणः’ सतीयाः समानकालव्रत चारिणश्च ‘उप’ समीपे स्वगृहे ‘समेतान्’ निमन्त्रणाहूतान् ‘■’ अपि भोजयेदित्येष (५३) ॥ ५२, ५३ ॥

भा०:-गुरुकुल से अपने घर वापिस होने पर गुरु पुत्रादि गुरु परिजन को साथ गुरुको भोजन कराये । (यह भोजन, चाहे अपने घर हो, या गुरु के ही घर पर हो) परन्तु निज सहपाठी आदिक को और समकाल ब्रह्मचर्य समाप्तकारी गण को भी उसी समय अपने घर पर निमन्त्रण कर भोजन कराये ॥ ५२, ५३ ॥

उपेष्टसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः ॥५४॥

‘उपेष्टसाम्नः’ ‘अनुगापनकल्प’ अध्यापनप्रकारः ‘महानाम्निकेन एव’ कथितः । उपेष्टसाम्न च महानाम्निकमिव उपोषितमुपनृतात्मरसपयं याच्यापयेदित्यर्थः । ५४ अपेदानों कीसमानां चिरप्रतिपाद्यमनियमानाह:-

भा०—ज्येष्ठमास के पढ़ाने की प्रणाली महानाभिनिकसाम की नाई है। अर्थात् ज्येष्ठमास के अध्ययन में भी विद्यार्थी की उपवास रहकर, आंख बांध कर, या घन जाना पड़ता है ॥ ५४ ॥ कौथुम शाखाध्यायियों के प्रतिपाल्य नियम कहते हैं ।

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति । ५५ न शूद्रांमुपेयात् । ५५ न पक्षिमांसं भुञ्जीत । ५७ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत् ५८

‘तत्र’ समावर्तनात् परम् ‘एतानि’ नित्यव्रतानि सर्वथैव प्रतिपाल्यनि-
यमाः ‘भवन्ति’ । ५५ (१) शूद्रां न उपेयात् शूद्रायाः पाणिग्रहणं न कुर्यात् । ५६
(२) ‘पक्षिमांसं न भुञ्जीत’ विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणी मांसं न भ्रष्ट्यात् ५७
(३) ‘एकाधान्यम्’ एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्’ चिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्,
सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासं न कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परि-
दध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद्वा यवं भक्षेत्, एवं
वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परि-
वर्त्य प्रक्षालनादिना पुनर्नृणादिति । ५८ ॥

भा०—समावर्तन के अनन्तर वक्ष्यमाण नियमों का अवश्य पालन करे ॥ ५५ ॥
(१) शूद्रा कन्या से विवाह न करे ॥ ५६ ॥ (२) चिड़ियेका मांस न खावे ॥ ५७ ॥ (३) एक प्र-
कार का धान्य, एक देश, और एक वस्त्र, त्याग करे । अर्थात् प्रतिदिन एक ही
प्रकार का अन्न न खावे; कभी धान्य, कभी गेहूं, कभी यव व्यवहार करे ;
बहुत दिनों तक निरन्तर एक ही देश में न रहे, अन्ततः वर्ष में एकवार
भी देश पर्यटन करे; एवं एक वस्त्र जब तक न कटे, तब तक अत्यान्तरूप
व्यवहार न करे, वरन सर्वदा ही बदलते हुए धुलाकर पुनः पहना करे ॥ ५८ ॥

उद्धृताभिरद्विरुपस्पृशेत् ॥ ५९ ॥

(४) ‘उद्धृताभिः अद्विरुपस्पृशेत्’ तत्क्षणमेवोदकान्युद्धृत्यतैरेव हस्तमुख-
प्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्धृतैः । एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः,
शीष्मे च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्या-
दिति भावः ॥ ५९ ॥

भा०—(४) जिस २ समय हाथ, पैर, मुख आदि धोनेकी आवश्यकता हो, उस
उस समय कूप आदि से जल भर लेवे, या भरवा लेवे, इस से शीतकाल में
गर्म जल एवं शीष्मकाल में शीतल जल सुगमता से मिलेगा और जल में
विषकीट आदि पड़ने की भी शंका न रहेगी ॥ ५९ ॥

आदेशनात् प्रभृति न मृणमयेऽशनीयात् न पिवेच्छ्रवणादित्येके । ६१, ६२ । २

(५) 'आदेशनात् प्रभृति' सावित्र्युपदेशादारभ्य 'मृणमये न अशनीयात्' किञ्च मृणमये 'पिबेत्' अपि 'न' । 'एके' आचार्यास्तु 'श्रवणात्' गुरुमुखात् वेदाध्ययनश्रवणसमाप्तिर्यदा भवेत्, ततः प्रभृत्येव मृणमये न अशनीयात् न च पिवेदित्याहुः । ६०-६२ ।

इतिसामवेदीपेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेद्वितीयखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ३, २

भा०—जिस दिन 'सावित्री' दीक्षा हो, उस दिन से सही के घर्त्तन में भोजन, या पान न करे । कोई २ आचार्य कहते हैं कि जब तक आचार्य के निकट वेद श्रवण करे, तब तक ऐसा न करने से भी चल सकता है, अनन्तर वेदाध्ययन समाप्ति पर घर आने पर्यन्त, सही के पात्र में भोजन, या सही के पात्र में जल पान छोड़ देवे ॥ ६०, ६१, ६२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायकेद्वितीयखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३॥ २

अथ महानाम्नी साम ॥

(प्रथम स्तोत्रीयानुगानम्)

१— १ १२ २ १ १२ १
ए२ । विदामघवन्विदाः । गातुमनुशथ्शिपः । दाइशा

३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए२ । शिक्षाशचीनाम्पताइ ।

२२२ १२ — १ २ १ २ २ २ २ १
पूर्वीणाम्पूरु २ । वसा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । आ-

१ — १ २ ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।

१२ १ २ २ ५ १ १२
स्वर्नाथ्शू २ : । हा ३ २ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । प्राचे । तन

१ १ २ २ १२ — १ १ १ २ २ १२
प्रचेतया । इन्द्रा । युन्नायना २ इपाइ । इडा । इन्द्रा । युन्नायन

— १ १ १ २ २ १२ — १ १ १ २ १२
२ इपाइ । अथा । इन्द्रा । युन्नायना २ इपाइ । इडा । एवा हि

१ १ १ १ २ २ ३ २ १ २ ४
शक्रोरायेवाजायवा १ जी ३ वाः । शविष्ठ वज्रिन्ना ३ । जा

५ १ १ २
साइ । मथ्शिष्ठ वज्रिन्ना २ ३ हो । जा सा ३२ उवा ३ २ ।

इद् इडा २ ३ ४ ५ । आ या । हि पिब मा २ त सुवा । इ
डा २ ३ ४ ५ ॥—

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २ । विदारायेसुवीरियाम् । भुत्रो वाजानाम्पतिर्व-
शाथं २ । अनुआ ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ । मथं
हिष्ठ वज्रिन्नुञ्जसां । यः शविष्ठः शूरा २ णा ३ १ उवा २ ३ ।
ई ३ ४ डा । योमथं हिष्ठ मघो २ । ना ३ १ उवा २ ३ ।
ई ३ ४ डा । अथं शुर्नशोचा २ इः । हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।
चाइ । कित्वो अभिनोनया । ईन्द्रो । विदेतमूरस्तुहाइ । इ
डा । ईन्द्रो । विदेतमूरस्तुहाइ । अथा । ईन्द्रो । विदेतमूर
स्तुहाइ । इडा ईशेहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ । जेता-
रमपरा ३ । जाइताम् । सनः स्वर्पदता २ ३ होइ । द्वा इपा
३ १ उवा २ ३ । इद् इडा २ ३ ४ ५ । क्रातुः । छन्द ऋता २
मृहात । इडा २ ३ ४ ५ ॥

महानाम्नी साम ॥

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २ । इन्द्रन्धनस्य सातयाइ । हवामहे जेतारमपरा

२। जितमा ३१ उवा २३। ई ३४ डा। ए२। सनः स्वर्प
 दति द्विपाः। सानः स्वर्पदता २ इ। द्विप आ ३१ उवा २
 ३। ई ३४ डा। पूर्वस्य यत्तआ २। द्विप आ ३१ उवा २
 ३। ई ३४ डा। अथं शुर्मदाया २। हा ३१ उवा २३। ई ३४ डा।
 सूत्रआधेहिनोवसाउ। पूर्त्तीः। शविष्ठशारस्य ताइ। इडा।
 पूर्त्तीः। शविष्ठशा २ स्यताइ। अथा। पूर्त्तीः। शविष्ठशारस्य
 ताइ। इडा। वशीहिशक्रोनूनं तन्नव्यथंसा१न्या३साइ। प्रभो
 जनस्यवा ३। आहान्। समयेर्षु ब्रवा २३ होइ। वाहा ३१ उवा
 २३। इड्डडा २३४५। शूरो। योगोपुगा २ च्छता ३। इडा।
 साखा। सुशेवो २ द्वयुः। इडा २३४५॥—

(पञ्चपुरीय पदानुगानम्)

आइवा। हियेवा २३४५। होइ। हो। वाहा ३१ उ
 वा २३। ई ३४ डा। आइवा हियगा २३४५ इ। होइ। हो। वा
 हा ३१ उवा २३। ई ३४ डा। आइवा। हि इन्द्रा २३४
 ५ होइ। हो। वाहा ३१ उवा २३। इ ३४ डा। आइवा
 हि पूपा २३४५ न्। होइ। हो। वाहा ३१ उवा २३। ई ३४ डा।

१ २ २ २ १ १ १ १ १ २२
 आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा
 २ ५ १ ५ २ २ १ १ १ १ १ १
 २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो ।
 २२ २ ५
 वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

प्रौष्ठपदी३हस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

“हस्तेन प्रौष्ठपदी” हस्तनक्षत्रयुतां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव “उपाकरणं” नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म यद्ययमाशेतिकर्तव्यताकं कर्तव्यम् । उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत् । १ अत्रोपाकरणे :-

भा०:-भाद्रमास केजिस किसी तिथि के पूर्वान्ह में हस्ता नक्षत्र मुक्त हो, उसी दिन ‘उपाकरण’ कर्म करे * ॥ १ ॥

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणां३ सावित्र्यनुवचनं यथोपनयनो२

(१) व्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रत्रयीः ‘हुत्वा’ आत्यमेव ‘शिष्याणां’ वेदाध्ययनारम्भकर्तुमुपस्थितानां नवानां ‘सावित्र्यनुवचनं सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्तव्यम् । एतच्च ‘यथा उपनयने’ कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽहुंघंशश्रवणं शङ्कति यावत् ॥ २ ॥

भा०:-भूः, भुवः, और स्वः इन तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए तीनों आहुति देवे (वेदाध्ययन का आरम्भ करने के लिये समुपस्थित नये छात्रों को उपनयन में उपदेश देने की नाई पहिले पाद २, फिर आधी२ श्रवा और अन्त में समस्त श्रक् आयुक्ति क्रम से सावित्री मन्त्र का अभ्यास करावे **॥२॥

सामसावित्रीञ्ज । ३ सोम३राजानंवरुणमिति । ४ ॥

(२) ‘च’ अपि ‘सावित्रीम्’ अथमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं ‘शान’ अनूच्यात् अनुयाचयेत् शिष्यान् । आदी तावदाचार्यो भागशोऽनूयातदनु तपेय तत्साकमेव शिष्याः मर्यएव मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत् । ३ (३) ‘च’ अपि

* जिस क्रिया के द्वारा वेद के नूतन पाठ का अध्ययन और अभ्यापन आरम्भ किया जाता, “उम अनुष्ठान” को ‘उपाकरण’ कहते हैं। यह ‘उपाकरण’ आचार्य एवं श्रवण दोनों ही को समान वर्तव्य है, श्रावण एवं ही मिल कर करते हैं। श्रुतवेदी और श्रुतवेदियों को यह ‘उपाकरण’ आश्रय प्राप्त में होता है एवं किसी २ के मत से श्रुतवेदियों को भी आश्रय ही प्राप्त में होता है। अतएव हम अनुष्ठान को ‘आश्रय’ भी कहते हैं।

** वेदों के अभ्यापन आरम्भ करने में गार्हपत्य ही सावित्री पाठ और तत् समवाय कदाप्य एवं उसी प्रकार व्यवहार भी है। यदि भोजे, ही दिन में उपनीत होकर ता सावित्री गायन का अभ्यास दृष्ट या गतन है यन्त्र। यह श्रुति अभ्यास उन के लिये विगते आश्रय है।

‘सोनं राजानं वरुणम्’ (छ० आ० १, २, ५, १) ‘इति’ अथ मनुच्यते तन्मू-
लकं साम य (गे० गा० ३, १, १) । ४

भा०:-एवं यह सावित्री ऋक् अवलम्बन पूर्वक गीत साम भी एक २
भाग कर, आचार्य, निज कृत उच्चारण के पीछे और सङ्ग २ उस छात्र को पढ़ाते
हुए अभ्यास करावे ॥३॥ (सोमथं राजानं (छं, औं १, २, ५, १) ऋक् एवं यह ऋक्
मूलक साम (गेँ, गों ३, १, १) इस प्रकार क्रम से अभ्यास करावे ॥४॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् ॥५॥

(४) ततः सर्वे मिलित्वा ‘छन्दसः’ छन्दोनाममामवेदीयार्थिकग्रन्थस्य ‘आ-
दितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीत वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः
सामग्रान्यायाः समग्रायाः यावदधीताया वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । ‘अधी-
त्य’ पारायणे समाप्ते ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनमपरापरं कार्यं कर्त्तव्यम् । ५ ॥

भा०:- (४) अनन्तर छन्दोनामक (आर्थिक)* ग्रन्थ के पूर्व और उत्तर दोनों
भाग ही आद्यन्त (या जिन का जहां, तक पढ़ा है) सब मिल कर पाठ
करें । उसी प्रकार वेद पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करे ॥५॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्करम्भिणमिति । ६ ।

(५) अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते ‘धानावन्तङ्करम्भिणम्’ (छ० अङ्क ३, १,
२, ७)-‘इति’ इमां सृचं पठित्वा ‘अक्षतधानाः’ भ्रष्टयवा एव धाना उच्यन्ते
तत्र चाक्षतत्वं गुण्यम्, ता एव ‘भक्षयन्ति’ आचार्यादयः । ६ ॥

भा०:- (५) वेद पारायण के अनन्तर ‘धानावन्तङ्करम्भिणम्’ इस मन्त्र का
पाठ करते हुये अन्नग्न भुनाहुआ यव सब लोग भक्षण करें ॥६॥

**दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोअकारिपमिति । ७ आचा-
न्तोदकाः । ८ खाण्डिकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत् ॥९॥**

(६) ततश्च ‘दधिक्राव्णोअकारिपम्’ (छ० अ० ४, २, २, ७) ‘इति’ अर्थं
पठित्वा ‘दध्नः प्राश्नन्ति’ तएवेति । ७ (७) अनन्तरम् ‘आचान्तोदकाः’ उदकैः
कृताश्चमनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः) । ८ (८) ततः ‘खाण्डिकेभ्यः’ अधीतवेदखण्डेभ्यः
पुरातनछात्रेभ्यः इति यावत् । ‘अनुवाक्याः’ अनुवाकशाएव ‘अनुगेयाः’ स्वगाना-
नुरूपगायकाः ‘कारयेत्’ आचार्यः ॥ ९ ॥

भा०:- (६) तदनन्तर ‘दधिक्राव्णोअकारिपम्’ मन्त्र पाठ करके सब लोग दही
खावें ॥ ७ ॥ (७) उस के पश्चात् सब लोग आचमन कर यथा स्थान मुख्यभाय से

* यही साम वेद का मूल ग्रन्थ अर्थात् संहितास्थि है । इसी वा अक्षतम्बन वर गेय गान प्रभृति गान ग्रन्थ
सूत्र बने हैं येन आद्याय ग्रन्थ भी इसी वा व्यवस्थापक है श्रुत्यादि इत्यादि ।

वेदं ॥ ८ ॥ (८) पीछे, आचार्य, जिन छात्रों ने जहां तक पढ़ाही, उन को उस के परे से अध्ययन आरम्भ करावे ॥ ८ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते । १० उदगयने च पक्षिणीं रात्रिम् ॥ ११ ॥

‘सावित्रमहः’ यद्दिने सावित्रपुण्यदेशोऽनुवचनं वा तद्दिनं ‘काङ्क्षन्ते’ याङ्क्षन्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विग्रामायेति ॥ १० ॥ ‘य’ अपि तदेव सावित्रमहः उपनयननियन्धनं ब्रह्ममाण मुत्सर्गनिमित्तं वा ‘उदगयने’ खेदु भवेत्, तर्हि ‘पक्षिणीं रात्रिं’ तद्दिनमारभ्य परदिनाद्यशेषपर्यन्तं विग्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ११

[यहां जिस प्रकार वेदों का ‘उपाकरण’ कहा गया, उनी प्रकार उत्तरायण में वेदों की ‘उत्सर्ग’ क्रिया की भी व्यवस्था कियी जावेगी]

भा०—जिस दिन यह ‘उपाकरण’ क्रिया हो, उस दिन, दही खाकर एवं आश्विन करलेने पर नये विद्यार्थियों को विग्राम देवे ॥ १० ॥ उस उत्तरायण में छात्रों को पक्षिणी (एक दिन और एक रात एवं उस के पर का दिन) विग्राम देने की व्यवस्था करे अर्थात् क्या वेद, क्या वेदाङ्ग, सम्बन्धी नया वा पुराना पाठ अध्ययन या अध्यापन कुछ भी न करे ॥ ११ ॥

उभयत एके त्रिरात्रम् । १२ । आचार्याणाञ्चोदकोत्सेच-

नमुभयत्र ॥ १३ ॥

‘एके’ तु आचार्याः, ‘उभयतः’ दक्षिणायनोत्तरायणेतदुभयकाले एव तथाच वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सन्पन्ने ‘त्रिरात्रं’ काङ्क्षन्ते विग्रामायेति ॥ १२ ॥ (९) ‘उभयत्र’ उपाकरणे उत्सर्गे च ‘आचार्याणां’ वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः ‘उदकोत्सेचनं’ जलाञ्जलिक्षेपणं तर्पणनिति यावत् कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते—कि ‘उपाकरण’ और ‘उत्सर्ग’ इन दोनों क्रियाओं में छात्रों को तीन रात्रि विग्राम देवे ॥ १२ ॥ (९) ‘उपाकरण’ और उत्सर्ग, इन दोनों क्रियाओं में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्यों का नाम स्मरण करके (स्वीय) तृप्तिपादन करे ॥ १३ ॥

अवणामेकउपाकृत्यैतमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते । १४
तैपीमुत्सृजन्ति ॥ १५ ॥

‘एके’ आचार्याः ‘अवणां’ अवर्णों पीणं मासी प्राप्य ‘उपाकृत्य’ ‘आसावित्रात्’ सहितृदेवतायां भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्रमभिधाय्य ‘एतंकालं’ ‘काङ्क्षन्ते’ अध्ययनाध्यापनविग्रामायेति । इत्युपाकरणम् ॥ १४ अगोत्सर्गः ।—‘तैपी’ तित्पनामनक्षत्रमा पीपी पीरं मासी मिति यावत् प्राप्य ‘उत्सृजन्ति’ वेदा-

ध्यापनत्यागमूचक मुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्याएवेति । इदमेवोदगय-
नीयं प्रत्युपाकरणम् ॥ १५ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते हैं कि—आवसानास की पूर्णिमासी को यह
'उपाकरण' करना चाहिये एवं उसी दिन से भाद्रमास के हस्तानक्षत्र युक्त
तिथि पर्यन्त छात्रोंको विश्राम देवे ॥ १४ ॥ पीपकी पूर्णिमासी को वेदाध्यापन
का 'उत्सर्ग' अर्थात् कई एक मासके लिये नया पाठ अध्यापन छोड़देवे । इस
की 'प्रत्युपाकरण' (कर्म) कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राङ्बोद्ध्वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीया-
स्ताअभ्येत्योपस्यूश्यच्छन्दांस्स्यूपीनाचार्यांश्च तर्पयेयुः ॥ १६

एतस्मिन्नुदगयनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विश्रामाय काङ्क्षन्ते
आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र च विश्रामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक्'
या पूर्वस्यां—दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि वा निष्क्रम्य, 'या आपः'
'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पृशिन्यो मेहनीयाः ततोऽवापीनाः अथमेहनीयाः, न
तादृश्याः, मेहनोद्धर्ध्वगता नाभिदद्या इति यावत् ; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य', 'उप-
स्यूश्य' 'छन्दांसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'स्यूपीन्' मन्त्रद्रष्टृपुत्रिणामान्युल्लिख्य,
'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः
स्मरणतः स्वात्मवृत्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

भा०—यह 'उत्सर्ग' क्रिया पूरी होने पर 'पक्षिणी' या तीन रात सब
प्रकार अध्ययन का विराम रखे, यह पूर्व ही व्यवस्था कियी गयी है । उस
विरामकाल में,—स्व २ वास ग्राम के पूर्व, या उत्तरभाग में, जाकर, कम से कम
नाभि—प्रमाण—अरा वाले जलाशय में गोता मार कर उपस्पर्श पूर्वक छन्दो-
नामक सब उल्लेख करते हुए श्रीर मन्त्र द्रष्टा अधिवियों का नामोल्लेख करते
हुये अपनी २ शाखा प्रवर्तकादि आचार्यों का नामोल्लेख करते हुये जला-
ञ्जलि देकर (अपनी) तृप्ति सम्पाद न करे ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रत्युपाकरणेऽभ्यानाध्याय आपुनरुपाकरणाच्छन्दसः ॥ १७

'तस्मिन्' उक्तलघौ 'प्रत्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्वाये कर्मणि सम्पन्ने 'ततः'
प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात्' भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्द-
सः' मानवेदीय छन्दोयन्यमात्रस्य 'अभ्यानाध्यायः' अभ्यनिमित्तकोवक्ष्यमाणगत-
तोऽनध्यायोभयति, 'अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं
विधारादिरुद्ध यजंतीयम् ॥ १७ उत्त। अभ्यानाध्यायमेव स्फटयति ;

भा०—इस प्रकार 'प्रत्युपाकरण' कर्म, सम्पन्न होने पर्यन्त पुनः उपाकरण न होने पर्यन्त, इन कई एक महीने (नया पाठ तो होगा नहीं अधिकन्तु मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा, इस अनध्याय में पुरातन पाठ का अभ्यास या विचारादि भी वर्जनीय है । किन्तु यह "आश्वानध्याय" छन्दोग्रन्थ मात्र के लिये है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्तनयितुपृपितेष्वाकालम् ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्येज्योतिः, स्तनयितुर्मेषमाला, पृपितावृष्टिविन्द्यः, एतत्-त्रितयमेकदैव दृश्येत चेत् तदा आ कालम्यत्कालिकी घटना, तत्परदिवसीय-तावत्कालं यावत् अनध्यायछन्दोऽध्ययनस्येति । अयमेवाश्वानध्याय उच्यते ॥ १८

भा०—विजुली, मेषमाला, और वृष्टि देखने पर आ-काल अश्वानध्याय होगा । अर्थात् अश्वनिमित्तक उपद्रव जिस समय उपस्थित हो, उस के पर दिन उसी समय तक छन्दोग्रन्थ की चर्चा भी न करे ॥ १८ ॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु । १९ निर्घाते च ॥ २० ॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गे ग्रहणादी य आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम् । १९ । 'च' अपि 'निर्घाते' मेघोदये विमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ कालमेवानध्यायः ॥ २० ॥ अथ सार्वकालिकसाधारणानध्यायानाह :-

भा०—उल्कापात, भूकम्प, और सूर्य और चन्द्रग्रहण के पर दिवसीय उसी समय तक अनध्याय होगा । यह अनध्याय सब ही ग्रन्थों का जानो ॥ १९ ॥ वज्र गिरने पर भी उस के पर दिन के उसी समय तक अनध्याय होगा । यह भी सब ग्रन्थों के लिये है ॥ २० ॥

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् । २१ पौर्णमासीषु च ॥ २२ ॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वास्वेव वेदं वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानध्यायः । २१ 'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥ २२ ॥

भा०—प्रति अष्टकामावास्या एवं प्रत्येक अष्टमीतिथिकी सबप्रकार अनध्याय होगा २१ प्रति पूर्णिमा तिथि में इसीप्रकार जबतक तिथि रहे अनध्याय होगा २२

तिसृषु कार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामापाद्याञ्चाहोरात्रम् ॥ २३ ॥

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आपादयाम्'—इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्दिनं तद्वात्रिंश नाधीयीरित्येव । २३ अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते:-

भा०—विशेषतः कार्त्तिकी, फाल्गुणी, और श्रावणी पौर्णिमा की एक दिन

एव एक रात्रि मद्य प्रकार अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

सन्नह्यचारिणि च प्रेते । २४ स्वे च भूमिपती ॥ २५ ॥

‘सन्नह्यचारिणि’ मर्तार्थे ‘प्रेते’ ‘च’ मृते अहोरात्रम् नाधीयीन् । २४ ‘च’ अपि ‘स्वे’ भूमिपती भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीन् ॥ २५ ॥

भा०—एक गुरु के शिष्य के मृत्यु होने पर भी एक दिन रात मद्य प्रका अनध्याय होगा ॥ २४ ॥ भूस्वामी के मरने पर भी एक दिन रात सद्य प्रका अनध्याय रहेगा ॥ २५ ॥

त्रिरात्रमाचार्य्ये । २६ उपसन्ने त्वहोरात्रम् । २७ गीत-
वादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् । २८ शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र

‘आचार्य्ये’ स्वे एव प्रेते ‘त्रिरात्रम्’ नाधीयीन् । २६ ‘उपसन्ने’ शिष्ये प्रेते ‘तु’ ‘अहोरात्रम्’ एव नाधीयीन् । २७ गीतं, यादित्रं, रुदितं, अतिवातो भङ्गता एषु सत्सु ‘तत्कालम्’ यावत् स्यात् तायदेव नाधीयीन् । २८ ‘अतः’ उक्तेभ्यः हेतुभ्यः ‘अन्यत्र’ ‘शिष्टाचारः’ अप्येकोऽनध्यापहेतुः तथाहि शिष्टेऽपि कश्चिद्विहित समागते नाधीयीन् २९ गतमिदं वेदाध्ययनप्रकरणम् । अयाद्भुतप्रकरणम्

भा०—आचार्य्य के मृत्यु होने पर, सद्य प्रकार अध्ययन, तीन रात तक रोष रखे, तदनन्तर अन्य आचार्य्य से पढ़े ॥ २६ ॥ शिष्य के मरने पर एक दिन और एक रात अनध्याय होगा । अर्थात् उस दिनरात में उस मठ (पाठशाला) में किसी का किसी प्रकार पाठन होगा ॥ २७ ॥ गीत, धाद्य, रोना, आन्धी उपस्थित हो ने पर’ अवतक उपद्रव शान्त नहो, सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त’ विशेष प्रतिबन्धक होने पर और भी अनध्याय होगा, जैसे, यदि कोई शिष्टव्यक्ति मठमें आवे, तो उनके आदरार्थ अनध्याय होगा ॥ २९ ॥

अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् । ३० वत्थं शमध्यमयो-
र्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥

‘अद्भुते’ कस्मंश्चिदपि उपस्थिते ‘कुलपत्योः’ यस्मिन् कुले समुपस्थित मद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः ‘प्रायश्चित्तं’ कर्त्तव्यम् भवेत् । ३० कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमित्याह ;—वंगः स्थूलोपरिस्थः, मध्य-माद्य स्तम्भाः, एतयोः ‘भिन्ने’ भिन्नयोः अनिमित्ततएव विदीर्णयोः सतोः ‘वा’ अथवा ‘मणिके’ जलाधारवृद्धभावे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतदद्भुत-

दीपप्रशमनाय व्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रैः 'जुहुयात्' आज्याहुतं कुर्यात् ३१

भा०-कोई अद्भुत (आश्चर्य) बात हो पड़े तो गृहस्थानी और उस की स्त्री को प्र. यश्चित्त करना चाहिये ॥ ३० ॥ कैसे अद्भुत के लिये क्या प्रायश्चित्त होगा? सो कहते हैं कि-जिस वांम के ऊपर सम्पूर्ण घर का ठाठ (छप्पर) हो यह, या घर के खम्भे सथ हठात् फट जावें, या अन्न का चड़ा, या मांढ फूट जावे, तो व्याहृति मन्त्रों को पाठ कर आज्याहुति देवे ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत् ॥ ३२ अथापरम् ॥ ३३ ॥

'दु.स्वप्नेषु' 'अद्यनोदेवसवितः' (छ० आ० २, १, ५, (७) -'इति' एताम् 'अृचं' 'जपेत्' । एतज्जपादेव एतदद्भुतदीपप्रशमनं भवेत्तान् । गतमिदमद्भुतप्रकरणम् ॥ ३२ । 'अृचं' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्तिकमस्ति तद् वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भा०-धुरा स्वप्न देखने पर 'अद्यनोदेवसवितः' (छ० आ० २, १, ५, ७) मन्त्र का जप करे ॥ ३२ ॥ और भी कुछ घटनाओं के अनुसार कर्त्तव्य कहा जाता है ॥ ३३ ॥

चित्ययूपोस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्लुप्त इन्द्रियैश्च पापस्पर्शे पुनर्मानैत्विन्द्रियमित्येताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

किन्तिदित्याहः- 'चित्ययूपः' बौहूयूपः तस्य तपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्षयोः वेपनं कम्पनम् ; एषु निमित्तेषु ; -किञ्च सुप्ते एव सूर्याभ्युदितः अपिवा सुप्ते एव सूर्यास्त गतयेतः-इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परबधूरीजादीनां स्पर्शे "पुनर्मानैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः । पुनर्द्रविणं नैतु ना पुनर्प्राप्तिं नैतु ना ॥ ३३ ॥ पुनर्मनः पुनरात्मा न आगात् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं न आगात् । वैश्वानरो अदय्य स्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा) ॥ ३४ ॥ (म० ब्रा- १, ६, ३३-३४) -'इति' एताभ्याम् ऋग्भ्याम् 'आज्याहुती' आज्यास्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

भा०-दैवात् बौहूरूप प्रकट होनेपर, कान में किसी प्रकार शब्द होने पर आँखों के स्फुरन होने पर, एवं सूर्योदय के पीछे जागने पर, या सूर्यास्त समय नींद आने पर, और भी हाथ आदि इन्द्रियों के द्वारा परार्द्ध स्त्री के स्तन स्पर्श करने पर, "पुनर्मानैत्विन्द्रियम्" इत्यादि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति देवे ॥ ३४ ॥

आज्यलिप्ते वा समिधौ । ३५ जपेद्वा लघुषु ॥ ३६ । ३ ॥

‘धा’ अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते ‘आज्यलिप्ते’ समिधी’ समित्काष्ठद्वय-
मात्रं जुहुयात् । तथैव तत्पापप्रशमनं भवेद्याम् । ३५ ‘धा’ अथवा ‘लघुप’ ततो-
ऽप्यल्पनिमित्तेषु उक्तमृगद्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेति शम् ॥ ३६ ॥

इतिसामयदोषेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेद्वितीयखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३॥

भा०-यदि अतिरिक्त पाप स्पष्ट न हो जावे तो घी-से लपेटा लकड़ी
(दो) अग्नि में हवन करे ॥ ३५ ॥ बहुत छोटा दोष (पाप) होने पर उक्त
दोनों मन्त्र मन ही मन जप करे, आहुति प्रदान न करे ॥ ३६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायकेद्वितीयखण्डका भाषानुयादपूराहुआ ॥ ३, ३ ॥



अथ स्नातकप्रकरणम् । कृतब्रह्मचर्योर्गाहंस्थानुप्रवेशायाचार्यानुगतः विधि-
विशेषेण स्नातः सन् पितृकुलं प्रतिगच्छति । एतदेव स्नातकव्रतमुच्यते । तदेवा-
स्मिन् खण्डे यथाक्रमं विपत्ते,-

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरुवेऽनुज्ञातो दारान्
कुर्वीतासगोत्रान् ॥ १, २, ३, ४ ॥

‘ब्रह्मचारी’ आद्याश्रमीद्विजः ‘वेदम्’ वेदैकम् आद्यन्तम् । ‘अधीत्य’ गुरु-
मुखादनुश्रुत्य यथाशक्ति बुद्ध्याच (१) ‘उपनी’ उपनीः उपनयनं, तद्दक्षिणा-
प्युपचारादुपनीरित्युच्यते; ततो द्वितीयैकस्य सुपांडुरिति लुकि उपनीति;
उपनयनदक्षिणामिति यावत् ‘गुरुवे’ तस्मै वेदाध्यापकायाचार्याय ‘आहृत्य’
निवेद्य (२) ततस्तेनैव गुरुणा ‘अनुज्ञातः’ द्वितीयाश्रमग्रहणे लब्धानुष्ठः सन्
‘दारान्’ पत्नी ‘कुर्वीत’ (३) । दारांश्च कीदृशान् कर्त्तव्यान्तित्याहुः-‘असगोत्रान्’
समानगोत्रातिरिक्तान् स्वगोत्रजभिन्नानिति यावत् (४) ॥ ४ ॥

भा०-ब्रह्मचारी एक वेद को आद्योपान्त अध्ययन कर, गुरु की उपन-
यन की दक्षिणा दे, और उनकी आज्ञानुसार अपना विवाह स्थिर करे, जिस
कन्यासे विवाह करे उसका और अपना समान (एकही) गोत्र नहो ॥ १, २, ३, ४ ॥

मातुरसपिण्डा । ५। अनग्निका तुश्रेष्ठा । ६। अथाप्लवनम् । ७।

तत्र दारकर्मणि ‘मातुः असपिण्डा’ मातृसमानपिण्डा कन्या न ग्राह्या ॥ ५ ॥
तत्र च ‘तु’ अपि ‘अनग्निका’ यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना
उलङ्घ्यापि विचरितुं शक्नुयात्, सा नग्निका, तद्विज्ञा अनग्निका ऋतुमती प्राप्त-
यौवना, सैव ‘श्रेष्ठा’ प्रशस्या; कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यस्य भुपयुज्यते,

तदेव च 'सोमो ददद् गन्धर्वाय'-इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते नान्यथेत्येव दार-
कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएवाह सनुरपि 'देवदत्तां पतिर्भायां विन्दते
नेच्छयात्मनः (९, ९५)'-इति । तदेवं प्राप्तयां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौव-
नापि नोद्वाह्येति फलितम् (६) । ६- 'अथ' दारकरणे गुर्वनुमतिप्राप्तयनन्तरम्
'आलवनम्' ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तिसूचकं विधिविशेष विहितं स्नानम् उपदेष्टया-
न इति शेषः ॥ ७ ॥

भा०-और वह कन्या ब्रह्मचारी की माता की सपिण्डा न हो अर्थात्
ब्रह्मचारी की माता के पिता के सात पीढ़ी में न हो ॥ ५ ॥ जिस कन्या का
ऋतु (मासिकधर्म) प्रकाश हो चुका हो, इस प्रकार प्राप्त 'यौवना' को 'अनग्निका'
कहते हैं । अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये प्रशस्ता होती है । वि-
वाह के निमित्त गुरु की आज्ञा पाने के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति
सूचक स्नान करे ॥ ७ ॥

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्यकुलस्य परिवृतम्भवति ॥८॥

'आचार्यकुलस्य' आचार्यकुलसम्बन्धिन्ध्येव स्थाने 'उत्तरतः पुरस्तात् वा'
उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि 'परिवृतं' सर्वतः आवृतं स्नानागारं 'भवति' भवेत् ॥८॥

भा०-आचार्य परिवार सम्बन्धी स्थान की उत्तर, या पूर्व दिशामें अच्छे
प्रकार आच्छादित एक स्नानागार (Bathing room) बनावे ॥ ८ ॥

तत्र प्राग्ग्रेषु दर्भपूदङ्काचार्य्य उपविशति । प्राग् ब्रह्म-
'चार्य्युदग्रेषु दर्भेषु ॥ ९, १० ॥

'तत्र' स्नानागारे 'आचार्य्य' 'प्राग्ग्रेषु दर्भेषु' 'उदङ्मुखः' सन् 'उपविशति'
उपविशेत् 'ब्रह्मचारी' 'उदग्रेषु दर्भेषु' 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् उपविशेदित्येव ॥९, १०॥

भा०:-इस 'स्नानागार' में पश्चिम की ओर जड़ एवं पूर्व की ओर शिर
इसप्रकार डाले हुए कुशाओं पर आचार्य्य उत्तराभिमुख होकर बैठे एवं 'उत्त-
राग्र रक्ते' हुए कुशाओं पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ९, १० ॥

सर्वोपधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिरा-
चार्य्योऽभिपिञ्चेत् ॥११॥

कुहितद्रव्याण्युष्णजले निक्षिप्य चत्वारिणा पूतीकृतं तज्जलं फाण्टमुच्यते ।
'सर्वोपधिविफाण्टाभिः' सर्वोपधिद्रव्यैस्तथाविधकृताभिः 'गन्धवतीभिः' सुगन्ध-
'द्रव्यमिश्रिताभिः' 'शीतोष्णाभिः' शीतलजलमिश्रिताभिः कटुष्णाभिः 'अद्भिः'
'आभिमिश्रितैः' 'अभिपिञ्चेत्' ब्रह्मचारिणं प्रणमिति ॥ ११ ॥

भा०:-युगन्ध, कच्चा पक्का मिला * सर्वोपधि-फाण्ट जल से आचाप्यं प्रथम ब्रह्मचारी को अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

स्वयमिव तु । १२ मन्त्रवर्णा भवति । १३ ॥

‘तु’ अप्यर्थः । अनन्तरम्, ‘इव’ तद्वत् आचार्याभिषिञ्चनप्रकारेण ‘स्वयम्’ अपि ब्रह्मचारी आत्मानम् अभिषिञ्चेदित्येव । १२ । अत्र स्वयमभिसिञ्चनकाले ‘मन्त्रवर्णः’ मन्त्रोच्चारणं कर्तव्यं ‘भवति’ भवेत् । १३ । स्वयमभिषिञ्चनकाले आदौ तावत् पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाञ्जल्युदकानां व्यवहारस्ततोऽवशिष्टानामेकदैव तूष्णीम् । तत्र चाद्यमन्त्रद्वयाभ्यामुदकाञ्जलिद्वयं भूमौ क्षिप्त्वा तृतीयादिभिरुदकाञ्जलिभिः शिरःप्रभृत्यङ्गानां सिञ्चनमभिमतम् । तदेव यथाक्रमं विधत्ते,-

भा०:-उन के पश्चात् ब्रह्मचारी स्वयं भी आपे को अभिषिञ्चित करे ॥ २॥ एवं आपे को अभिषिञ्चन करते समय मन्त्र पढ़े ॥ १३ ॥

[स्वयं अभिषिञ्चित होते समय पहिले पांच मन्त्रों से जलाञ्जलि द्वारा जल व्यवहार कर अन्त में अवशिष्ट जल एक ही बार में अपने मस्तक पर डार देवे। उन में प्रथम दो मन्त्रों से लिया शेष अञ्जलिजल भूमि पर डार कर तृतीय आदि तीनों मन्त्रों से मस्तक आदि सब शरीर सिंचन करे । इस का यथाक्रम से आने विधान करते हैं]

ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति ॥ १४ ॥

“ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोक्ष्य उपगोक्ष्योभरुको मनोहाः । खलो विरुजस्तनूदूपिरिन्द्रियहा अतितान्तसृजामि” ॥ १॥ (म० ब्रा० १, ३, १)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अपामञ्जलिम्’ ‘अवसिञ्चति’ त्यजति भूमाविधि । १४ ॥

भा०:-“ये अपस्वन्तरग्नयः” इस मन्त्र से एक अञ्जलि जल पृथिवी पर गेरे ॥ १४ ॥

यदपाघोरं यदपाङ्कूरं यदपामशान्तमिति च ॥ १५ ॥

ततः, “यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमिति तत्सृजामि” ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ३, २)-‘इति’ अनेन ‘च’ अपि अवसिञ्चत्येव ॥ १५ ॥

भा०-उसके पश्चात् ‘यदपा घोर’ मन्त्रसे एक अञ्जलि जल भूमिपर डाले ॥ १५ ॥

यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति ॥ १६ ॥

‘ततः’ “यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि” ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ३, ३)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘आत्मानं’ शिरःप्रभृतिकम् ‘अभिषिञ्चति’ च एव ब्रह्मचारी ॥ १६ ॥

* सब द्रव्यों का कट कर गरम जल में छोड़ कपड़े से ढाक देवे ऐसे जल का ‘फाण्ट’, कहत हैं । वृद्ध, अजामासी, हरिद्रा, वच, शिलाजित, चन्दन, सुरामासी, लालचन्दन, वपूर, भद्रसौष इन का नाम सर्वोपधि है ।

भा० -तदनन्तर "यो रोचनस्त" मन्त्र से एक अञ्जलि जल से अपना मस्तकादि सिद्धित करे ॥ १६ ॥

यशसे तेजसइति च । १७ येनस्त्रियमकृणुतमिति च । १८ तूष्णीञ्चतुर्थम् ॥ १९ ॥

तत "यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय ब्रह्मायेन्द्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पो-
षाय अपचित्ये" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ४) - 'इति' अनेन 'य' अपि आत्मा-
गमभिपिब्वेत । १७ तत. येन स्त्रियमकृणुत येनापामृषतऽउराम् । येनाज्ञानभ्य-
पिब्वतं येनेमा पृथिवीं महीम् । यद्द्वान्तरश्चिना यशस्तेन मामभिपिब्वतम्" ॥ ५ ।
(म० ब्रा० १, ७, ५) - 'इति' अनेन 'च' आत्मानमभिपिब्वेत । १८ ततोऽग्निष्टान्युद-
कान्येकदैवगृहीत्या 'तूष्णीं' मन्त्रशून्यम् आत्मानमभिपिब्वेत । तदिदं चतुर्थम् ॥ १९ ॥

भा० - उक्त के पश्चात् "यशसे तेजसे" यह मन्त्र पढ़कर एक "अञ्जलि जलसे
अपना मस्तकादि सिद्धित करे ॥ १७ ॥ अन्त मे "येनस्त्रिय" यह मन्त्र पढ़ २ बार
तृतीय जलाञ्जलि से पुन. अपना मस्तकादि सिद्धित करे ॥ १८ ॥ शेष जल को
बिना मन्त्र पढ़े अपने माथे पर ढार देवे ॥ १९ ॥

उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेत्तोद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्र-
भृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

'ततश्चोपोत्थाय' स्नानाधनादुत्थानं प्रकृत्य "उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरु-
द्भिररथात् प्रातर्षावभिररथात् । दशमनिरसि दशमनिं माजुर्वा त्या विशाम्या
माविश ॥ ६ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिररथात् मान्तपनेभिर-
रथात् । शतमनिरसि शतमनिं कुर्वा त्या विशाम्या माविश ॥ ७ ॥ उद्यन् भ्राज
भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिररथात् सार्यं यावभिररथात् । महश्चमनिरसि महश्चमनिं
माजुर्वा त्या विशाम्या माविश" । ८ (म० ब्रा० १, ७, ६ वा ७ वा ८) 'इत्येतत्प्रभृतिना'
एवमप्रकारेण षष्ठाद्यन्यतमेन मन्त्रेण आदित्यं सूर्यम् उपतिष्ठेत्त आराधयेत् २०

भा० - अन्तर नहाने की जगह ही पर खड़े होकर 'उद्यन् भ्राज भृष्टिभि' ॥
(६ वा, ७ वा, या ८ वा) इन तीन मन्त्रों में से किसी एक का पाठ करते हुए
सूर्य की आराधना करे ॥ २० ॥

यथा लिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

'या' शय गच्छोऽत्र व्यथस्यायाम् । यथालिङ्गं मन्त्रलिङ्गानुसारतएव व्य-
थस्या 'विहरन्' व्यथहरन् मन्त्रेण आदित्यमुपतिष्ठतएव । तथा च पठे मन्त्रे
'प्रातर्षावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् प्रातस्तम्यैव प्रयोग सप्तमे पुन साम्प्र-
प-

नेभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् मध्यान्ह तस्यैव प्रयोगः, अष्टमे तु सायंयावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् तस्यैव सायं प्रयोगः इति व्यवस्था ॥ २१ ॥

भा०:-इन तीन (पूर्वोक्त) मन्त्रों में से जिस में 'प्रातः' शब्द पठित है उस का प्रातःकाल के उपस्थान में प्रयोग करे, और जिस मन्त्र में मध्यान्ह बोधक 'सान्तपन' शब्द है उस को मध्यान्ह के उपस्थान में पढ़े और 'सायं' पद जिस मन्त्र में पढ़ा है उस मन्त्र को सायंकाल के उपस्थान में पढ़े ॥ २१ ॥

चक्षुरसीत्यनुबन्धीयात् ॥ २२ ॥

"चक्षुरसि चक्षुर्गम्यमे पाप्मानं जहि । सोमस्त्वा राजायतु नमस्तेऽस्तु माना हिथंसीः" ॥ ९ ॥ (न० ब्रा० १, ७, ९)-इति इमं मन्त्रम् 'अनु' पश्चात् कालत्रये एव मन्त्रत्रयस्य 'बन्धीयात्' बन्धनं कुर्यात् । उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतदनन्तरं सर्वत्रैव पाठघनित्यर्थः ॥ २२ ॥

भा०:-'चक्षुरसि' इस मन्त्र की प्रातःकालादि समय पढ़ने योग्य पूर्वोक्त (उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः आदि) तीनों मन्त्रों के पश्चात् बान्ध देवे अर्थात् इन मन्त्रों के साथ-यह मन्त्र सदैव अवश्य पढ़े ॥ २२ ॥

मेखलामधमुञ्जत उदुत्तमं वरुणपाशमिति ॥ २३ ॥

तदनन्तरञ्च ब्रह्मचर्यकाले गृहीतां 'मेखलां' 'अधमुञ्जते' अधस्तान्नीचनं कुर्यात् । तत्र मन्त्रः-"उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधनं वि मध्यमध्वं प्रणय । अषादित्य धृते वपन्तघानागसी अदितये स्याम" ॥ १० ॥ (न० ब्रा० १, ७, १०)-इति अयं बोध्यः ॥ २३ ॥

भा०:-तदनन्तर "उदुत्तम वरुण पाशम्" मन्त्र की पढ़कर, ब्रह्मचर्य पहण समय की पहनी हुई मेखला को नीचे की त्याग देवे ॥ २३ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयम्भुक्त्वा केशश्मश्रुरोमनखानि वापयीत शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

एवं स्नानं समाप्य मेखलात्यागानन्तरं स्नातकव्रतं समाप्तं मन्यमान आश्रमसन्धी स्थितः सः 'ब्राह्मणान्' कतिपयान् 'भोजयित्वा' ततः 'स्वयं भुक्त्वा' च 'शिखावर्जं' शिखाव्यतिरिक्तं 'केशश्मश्रुरोम' सर्वं 'नखानि' च 'वापयीत' नापितेनेति । २४ ।

भा०:-इस प्रकार स्नान कर मेखला त्यागने पर, स्नातक व्रत समाप्त हो गया, ऐसा समझ कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय ब्रह्मचारी कतिपय ब्राह्मणों को भोजन करावे एवं पीछे आप भी भोजन करे । तदनन्तर नापित से मूँछ, रोम, नख आदि धनवाने ॥ २४ ॥

स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्त्रजमावधनीत
श्रीरसि मयि रमस्वेति ॥ २५ ॥

पूर्वोक्तवापनानन्तरं पुनः स्नात्वा, 'स्नात्वा', 'अलङ्कृत्य' स्वदेहम्, 'अहते'
अखण्डे 'वाससी' उपसंव्यानोत्तरीये 'परिधाय' "श्रीरसि मयि रमस्व" ॥ ११ ॥
(न० ब्रा० १, ७, ११)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'स्त्रजम्' 'आवधनीत' स्वमूर्ध्नीति
शेषः । २५ ।

भा०:—उक्त प्रकार और कर्म कराने पश्चात् भूपणादि पहन, अखण्ड दीनों
वस्त्र नीचे ऊपर (धोती अङ्गोच्छा) पहन कर "श्रीरसि मयि रमस्व" इस
मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने मस्तक में माला *पहने ॥ २५ ॥

नेत्र्यौ स्थो नयतम्मामित्युपानहौ ॥ २६ ॥

"नेत्र्यौ स्थो नयतं माम्" । १२ । (न० ब्रा० १, ७, १२),—'इति' मन्त्रेण
'उपानहौ' चर्मपादुके परिधायेत्येव । २६ ।

भा०:—पीछे 'नेत्र्योस्थ' मन्त्र पढ़कर जूता पहने ॥ २६ ॥

गन्धर्वोऽसीति वैणवन्दण्डङ्गृह्णाति ॥ २७ ॥

'गन्धर्वोऽस्युपाय उपमामव' । १३ । (न० ब्रा० १, ७, १३),—'इति' मन्त्रेण
'वैणव' वैणुवंशभवं 'दण्डं' 'गृह्णाति' । २७ ।

भा०:—अनन्तर 'गन्धर्वोऽसि' मन्त्र का स्मरण करते हुए घांस (शास्त्रोक्त
विधि अनुसार बनी) की यष्टि ग्रहण करे ॥ २७ ॥

आचार्यश्च सपरिपत्कमभ्येत्याचार्यपरिपदमीक्षते य-
क्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति ॥ २८ ॥

'सपरिपत्कं, शिष्यादिमण्डलिविराजितम् 'आचार्यम्' 'अभ्येत्य, "यक्षमिव
चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्" । १४ । (न० ब्रा० १, ७, १४) 'इति' मन्त्रमु-
च्चरन् 'आचार्यपरिपदं' तम् 'ईक्षते' पश्येत् । २८ । अथ यात्राप्रकारः ।

भा०:—तदनन्तर शिष्यों से घिरे हुए आचार्यके निकट बैठकर "यक्षमिव
भूपासं" मन्त्र पाठ कर उस शिष्य युक्त आचार्य का दर्शन करे ॥ २८ ॥

उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् सम्मृशन्नोष्ठापिधाना

* शरीर के किस २ अङ्ग में माला पहनने से माला की विशेष संज्ञा क्या २ होती है सो कहने हैं—जो
मस्तक में धारण किया जावे उसे 'मस्तक', एवं उसी को 'माला', और माला में बहने है । चेरा के भीतर पहनने
से 'गर्भण', नाम होता है, शिष्या २ लड़कने से 'प्रभक्ष्य', कहते हैं, सम्मुख भाग में लगाए पर जो झूलती हो
उसे 'लतामव', कहते हैं । जो कण्ठ में पहिनी जावे उसे 'प्राणम', कहते, यही 'उपवीन', वा प्राचीनीनेत्रि की
मार्ग बाँध तर लपकती हो उसे 'वैवन्ध्रिक', कहते हैं ॥

नकुलोति ॥ २९ ॥ अत्रैनमाचार्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

‘उपोषयिष्य’ अर्द्धोपवेशन प्रकृत्य ‘मुख्यान्’ मुख्यागतान् ‘प्राणान्’ वायून् ‘सम्भृशन्’ पवित्रीकुर्वन् “श्लोष्टापिधाना नकुली दन्तपरिमित पवि । जिह्वे मा विह्वलो वाचं चारुमाद्येह वादय ” ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, १, १५) ‘इति’ मन्त्र पठेदिति । २९ । अत्र’ अस्मिन्नेव समये ‘आचार्य’ ‘एन’ स्नातकम् ‘अर्हयेत्’ आशिषेति भाव । ३० ।

भा०—अर्द्धोपवेशन कर अपने मुख में आये हुए श्वास वायु का अनुभव करते हुए “श्लोष्टापिधाना नकुली” मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इस समय आचार्य उस ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर प्रसन्न करे ॥ ३० ॥

गोयुक्तश्चरथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूवरबाहू वाऽभिमृशे-
द्वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया.इति ॥ ३१ ॥

ततश्च ‘गोयुक्त’ गोभ्या युक्त रथ’ यानम् ‘उपसंक्रम्य’—तत्समीपगमनेन प्राप्य, तस्यैव रथस्य ‘पक्षसी’ चक्रौ ‘वा’ अथवा कूवरबाहू’ युगन्धरपार्श्वे । “वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरण सुवीर । गोभि सखद्विभ्रमि वीड्वस्व आस्थाता ते जयतु जेत्यानि” ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, १, ६) ‘इति’ मन्त्रेण अभिमृजेत् स्पृजेत् ॥ ३१ ॥

भा०—इस प्रकार यात्रा के लिये जिस रथ में सवार होना हो उस के चक्र या जूआ छूकर ‘वनस्पते वीड्वङ्गो हि’ मन्त्र का पाठ करे ॥ ३१ ॥

आस्थाता ते जयतु जेत्यानीत्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

तथा स्पर्शनम् कृत्वा “आस्थाता ते जयतु जेत्यानि” (म० ब्रा० १, १, १७) ‘इति’ मन्त्र पठन् तदुपरि ‘आ’ अभिमुख्येन ‘तिष्ठति’ आरोहणीत्यर्थ ॥ ३२ ॥

भा०—उस के अनन्तर “आस्थाता ते” मन्त्र पढ़कर, रथ के ऊपर चढ़े ॥ ३२ ॥

प्राड्वोदङ् वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्योपयाति ॥ ३३ ॥

प्राड्’ पूर्वोभिमुखस्तत्रोपविष्ट्वा ‘वा’ अथवा ‘उदङ्’ उत्तराभिमुखएत्रोपविष्ट्वा ‘अभिप्रयाय’ सर्वतश्चालयित्वा तद्रथमिति शेष । ‘प्रदक्षिण’ यथा स्यात् तथा ‘आवृत्य’ प्रायत्तनेन गत्या स्ववासमिति ॥ ३३ ॥

भा०—इस रथ पर पूर्वोभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे । अपनी वास भूमि की दक्षिण में रक्त कर प्रायत्तन करते हुए वहां बैठे ॥ ३३ ॥

उपयातायार्घ्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

प्र० ३ खं० ४ सू० २९-३४, खं० ५ सू० १-६] समावृत्तविधिः ॥

१३९

‘उपयानाय’ स्वायामप्राप्ताय तस्मै स्वातकाय ‘अर्घ्यम्’ देयं पुरजनैरात्म-
जनैर्वा ‘इति’ एवं ‘कौहलीयाः’ आहुः। तत्राप्यस्माकं नासम्भति रिति भावः ॥३४॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३४

भा०:-यहुत दिन तक गुरुगृह में वारा पूर्वक कृत ब्रह्मचर्य्य, अधीतवेद,
स्नातक को परिवार गण आदर के साथ ग्रहण करें (Recieve) ॥ ३४ ॥
गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय अध्यायके चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३४॥



अत ऊर्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥१॥

‘अतः’ ब्रह्मचर्यात् ‘ऊर्ध्वं’ परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीली
स्यात् वृद्धानां नात्रादीनां शुश्रूपापर आज्ञानुवर्त्ता च भवेत्। अथवा वृद्धः प-
रबुद्धिः तत्स्वभावाको भवेत्। ‘इति’ एतन्मात्रेणैव ‘समस्तोद्देशः’ समप्राणामेव
धर्माणाम् उपदेशः मिदो भवेदिति ॥१॥

भा०:-ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विवाह के पहिले आश्रम सन्धि
समय तक गृहधर्म करना चाहिये। उस से पिता माता प्रभृति वृद्ध जनोंकी
सेवा में परायण एवं सुपक बुद्धि होये। यह मय उपदेशों का मूल है ॥१॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्जक्षते ॥२॥

‘तत्र’ ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, ‘आचार्याः’ गोभिला-
दयः ‘एतानि’ बुद्धिस्थानि अनुपदं वक्ष्यमाणानि ‘परिसञ्जक्षते’ परिसंख्यानानि
कुर्वन्ति। परिसंख्यानञ्च निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य
विशेषत्वम् ॥२॥

भा०:-पर में पुनः आये हुए ध्यक्तियों के लिये आचार्यों ने वक्ष्यमाण
नियम निर्दिष्ट किये हैं ॥ २ ॥

**नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ॥३॥ नायुगवा ॥४॥ न रज-
स्वलया ॥५॥ न समानर्प्या ॥६॥**

‘अजातलोम्न्या’ रसानभिज्ञया बालिकया ‘उपहासम्’ अपि ‘न’ इच्छेत्
अपि ॥३॥ ‘अयुगवा’ अयोग्यया अपि ‘न’ तथा ॥४॥ ‘रजस्वलया’ अपि ‘न’ तथा
॥५॥ ‘समानर्प्या’ समानः योग्यः अपि पतिः यस्या अस्ति, तथा सधयया अपि
‘न’ तथा ॥ ६ ॥

भा०:-जिन कन्या को अन्तर्लोक उत्पन्न हुए हों इनप्रकार रस से
अनभिज्ञा बालिका के साथ उपहास करने की इच्छा न करे ॥ ३ ॥ इसप्र-

कार आयु रूप गुण प्रभृति में सर्वथा अयोग्या नारी के साथ भी उपहास पत्रित्याग करे ॥ ४ ॥ रजस्वला पत्नी से अलग रहे ॥ ५ ॥ परस्त्री के साथ भी उपहास आदि न करे ॥ ६ ॥

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत । ७ । न द्विःपक्वम् । न पर्युपितम् । ८ । अन्यत्र शाकमन्त्रस्यवपिष्टविकारेभ्यः ॥ १० ॥

‘अपरया’ गुप्तया ‘द्वारा’ ‘प्रपन्नम्’ प्राप्तम् ‘अन्नम्’ ‘न भुञ्जीत’ । ७ । ‘द्विः-पक्वम्’ पक्वं पुनःपक्वम् अन्नं ‘न’ भुञ्जीतेत्येव । ८ । ‘पर्युपितम्’ अन्नम् ‘न’ भुञ्जीत । ९ । तत्रास्ति विशेषः— शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेयः । तथाच शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युपितत्वं न दोषायेति ॥ १० ॥

भा०:-अन्य किसी गुप्त रीति से प्राप्त अन्न भोजन न करे ॥ ७ ॥ दोवार का पका अन्न (उसना चावल आदि) भोजन न करे ॥ ८ ॥ वासी भात भी न खावे ॥ ९ ॥ कन्द, मूल फलादि द्वारा तैयार किया हुआ मांस की नाईं यद्य आदि अन्न से समुत्पन्न जलेयी आदि या अन्य किसी प्रकार का खाद्य मिष्टान्नादि वासी होने पर भी (कोई हानि नहीं) खावे ॥ १० ॥

न वर्पति धावेत् । ११ । नोपानही स्वयन् हरेत् । १२ । नोदपान मवेक्षेत् ॥ १३ ॥

‘वर्पति’ पर्वन्त्ये ‘न’ धावेत् । ११ । ‘उपानही’ स्वस्यापि ‘स्वयं’ ‘न आ-हरेत्’ हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा । १२ । ‘उदपानम्’ कूपं ‘न’ ‘अवेक्षेत्’ तथा-वेक्षणे तत्र पतनसम्भवात् ॥ १३ ॥

भा०:-पानी वर्तते समय या वर्तने पर कीचड़ भरे मार्ग में दीड़ कर न चले ॥ ११ ॥ अपना जूता स्वयं हाथ में लेकर न चले और न स्वयं अपना जूता घनाये ॥ १२ ॥ बहुत गहरे कूप आदि में एक टक से न देखे ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत । १४ । नागन्धास्त्रजं धारयेत् । १५ । अन्यास्त्रहिरण्यस्त्रजः । १६ । नामालोक्ताम् ॥ १७ ॥

‘फलानि’ आद्यपनसादीनि ‘स्वयं’ ‘न प्रचिन्वीत’ वृक्षशालादिभ्य इति या-यत् । १४ । ‘अगन्धां’ गन्धगूण्यां ‘स्त्रजं’ मालां ‘न धारयेत्’ मस्तके इति यायत् । १५ । तत्राप्ययं विशेषः—‘हिरण्यस्त्रजः’ सुवर्णमालातः ‘अगन्धां’ न धारयेत् स्वर्णमाला-भरान्तु धारयेदित्येव । १६ । गृहस्थाश्रमतः प्राक् अमालोकां माला व्यतिरिक्तं मालाम्पादिकां ‘न’ धारयेत् ॥ १७ ॥

भा०—आम आदि कोई फल स्वयं पेड़ों से तोड़ कर न जमा करे ॥१४॥ माघे पर बिना गन्धकी माला न धारण करे ॥१५॥ किन्तु सोनेकी माला तो गन्ध रहित होने पर भी अवश्य धारण करे ॥ १६ ॥ माला शब्द से जिस माले का व्यवहार हो, उसी को धारण करे, मालम्बादिक (माला) को नहीं । अर्थात् गृहाग्रम के पहिले आग्रम सन्धि में मालम्ब आदि का व्यवहार न करे ॥१७॥

स्नानि वाचयेत् । १८ भद्र मित्येतां वृथावाचं परिहरेत् ।

१९ भद्र मिति ब्रूयात् । २० तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति ॥२१॥

स्नानक्षणं शिरोवेष्टनिकां मालां तु धारयेदेव । १८ 'भद्रम्'—'इति' वृथा वाचं' अभद्रेऽपि भद्रोक्तिं 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत । १९ 'भद्रम्'—'इति' 'ब्रूयात्' सत्य मेव तद् भद्रं चेत् । २० अथ स्नातक विभागान् दर्शयति,—'तत्र' समावृत्ति-तेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यं व्रतान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥ तत्त्रिविधत्वेमेव स्फुटयति ;—

भा०—जिस का नाम स्नक् है, उसी को धारण करे ॥ १८ ॥ जो वस्तु अच्छी न हो, उसे अच्छी है ऐसा न कहे ॥१९॥ इसप्रकार, जो वस्तुतः अच्छी हो उसे अच्छी कहे ॥२०॥ समावृत्तित (जिन का ब्रह्मचर्य समाप्त हो गया है) द्विज गण तीन प्रकार के होते—जिन्हें स्नातक कहते हैं ॥ २१ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥२२॥

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समया-नवाप्येव अपूर्णोऽपि काले स्नातः, 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपा-ल्यापि समयवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्ण काले स्नातः, 'विद्याव्रत-स्नातकः' विद्यां समयां प्रगृह्य, व्रतं च यथावत् प्रतिपाल्य, यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयः स्नातकाः ॥ २२ ॥

भा०—प्रथम, विद्यास्नातक अर्थात् जितने नियमों का ब्रह्मचर्य में प्रतिपा-लन करना पड़ता, उतने नियमों का पालन न कर सकने पर, एवं जितने काल पर्यन्त ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य हैं, उतने काल तक न करके वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचर्य समाप्ति सूचक स्नानकारी होता है। द्वितीय, व्रतस्नातक अर्थात् जितने समय तक ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य, एवं जिस २ नियमसे कर्त्तव्य हो, उस २ प्रकार वेदाध्य-यन समाप्त न करके भी 'व्रतस्नातक' होता है। तृतीय—'विद्याव्रतस्नातक' अर्थात् नियम पूर्वक यथोक्त कालपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके सम्पूर्ण वेदाध्यायी होता है ॥२३॥

तेषां मुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ । २३ । नाद्रं परिदधीत
 १ २४ । नैकं परिदधीत । २५ । न मनुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत । २६ ।
 नादृष्टं दृष्टतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

‘तेषां’ त्रिविधानां स्नातकानां मध्ये ‘उत्तमः’ तृतीयः विद्याव्रतस्नातक-
 एव ‘श्रेष्ठः’ ‘पूर्वौ’ विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावेव ‘तुल्यौ’ समानमर्घ्यादौ
 ॥ २३ ॥ पुनरपि स्नातकव्रतान्याह—‘आद्रं’ घासः ‘न’ ‘परिदधीत’ । २४ ॥ ‘एकं’
 घासः ‘न’ ‘परिदधीत’ एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखण्डं व्यवहरेदेव । २५ मनुष्यस्य
 स्तुतिं न प्रयुञ्जीत घाटुयाद् परित्यजेदिति । २६ ‘आदृष्टं’ किमपि कर्म, ‘दृष्टतः’
 परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा ‘अब्रवीत्’ ॥ २७ ॥

भा०—उक्त तीन प्रकार के स्नातकों में से तृतीय अर्थात् ‘विद्याव्रतस्नातक’
 ही सब से श्रेष्ठ है, अन्य दो समान हैं ॥ २३ ॥ भौंगा कपड़ा न पहने ॥ २४ ॥
 केवल एक ही वस्त्र न पहने, किन्तु भीतर उस के काच्छा, यर कौपीन पहन
 कर ऊपर से धोती पहने ॥ २५ ॥ मनुष्य की कूटी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥ जिसे
 अपनी आंखों से न देखे, उसे अपनी आंख से देखा है ऐसा न कहे ॥ २७ ॥

नाश्रुतं श्रुततः । २८ स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत्
 । २९ तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् ॥ ३० ॥

‘अश्रुतं’ किमपि वाक्यं, ‘श्रुततः’ परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् म-
 न्वानो वा न ब्रवीत् । २८ ‘स्वाध्यायविरोधिनः’ अर्थान् ‘स्वाध्यायः’ पक्षधा
 उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् यात्रेभ्योदानाच्च तदेवाम-
 न्यतनस्यापि विरोधिनी येषां विषयाः तान् ‘उत्सृजेत्’ परित्यजेत् । २९ ‘तै-
 लपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं पण्णद्रीययादिकम् ‘इव’ ‘आत्मानं’ जीवात्मानं ‘दिधारयि-
 षेत्’ देहे धारयितुमिच्छेत् । तैलपूर्णपात्रद्वयः कश्चिद् यथा पयि अतीव
 सावधानो गच्छति, अन्यथा वेगगमनेन वक्रगमनेन मनसोऽप्रतिधानेन च पात्र-
 स्थितलानामुच्छलनं त्रिपात्रानां भूमी पतनं ततश्च पुनरुपादनासम्भवः, भूम्याः
 कषण्णिदागदितेष्वपि तेषु मालिन्यादिकं परिमाणात्पत्यङ्गानिधायं भवेत् ।
 तपेय देहस्थमिममात्मानं सति यथेनैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्ष्यं स्व-
 सम्भयनेन, परमिच्छेत् तादृशेच्छेया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत्
 किञ्च यायत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽकृशोऽपि स्यात्, अन्यथा
 यायत् स्वयं सायत्कालमपि न तिष्ठेत् किञ्चित्स्थितोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशीभवेत्प्राप्तेति ३०

भा०—जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कानसे सुना है ऐसा न कहे ॥ २८ ॥ पांच प्रकार के (स्वीकार, विचार, अभ्यास, जप, और छात्रों को देना) स्वाध्यायों में से किसी में बाधा न हो, ऐसा वर्त्त । अर्थात् ऐसा कार्य न करे जिससे स्वाध्याय की बाधा पहुँचे ॥ २९ ॥ मार्ग में चलता पुरुष जिस प्रकार तेल से भरा, तेल का वर्त्तन अपने हाथ में रख कर, उस की गिरने के डरसे बहुत सावधानी से चलता है; नहीतो अनवधानता से शीघ्रता, या टेढ़ी चाल चलने से, तेल पृथिवी पर गिरकर नष्ट हो जावे, यदि भूमि पर से गिरा तेल उठा लेवे, तो भी उसकी मलीनता एवं न्यूनता अनिवार्य है। इसीप्रकार इस शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे, नहीं तो अकाल ही में, यह शरीरच्युत या दुःखी हो जावेगा । यद्यपि यह, एक शरीर में चिरस्थायी और दुःखरहित नहीं रह सकता, तथापि यत्न करने पर अपेक्षा-कृत स्थायी और अपेक्षा कृत सुखी हो सकता है) ॥ ३० ॥

न वृक्षमारोहेत् । न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् । नैकः । ३१-३३

‘वृक्षं’ न आरोहेत् । तदारोहणेन ततः पतनमनु सरणमङ्गहानि यां भ-
जान् । ३१ ‘प्रतिसायं ग्रामान्तरं’ न व्रजेत् । तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं त-
थाप तस्यैव प्राणहानि रपि सम्भवति । ३२ ‘एकः’ एकाकी एव ग्रामान्तरं ‘न’
व्रजेत् तथाच ग्रामान्तरगतो विपन्नयेत् यः सहायी भवेत् अथवा यथास्थानं सं-
वाद्तपि नपेदेवं कथनापरो द्वितीयः सहगोपतीयवश्यकः ॥ ३३ ॥

भा०—पेड़ पर न चढ़े (क्योंकि इससे गिर कर सर जावे, घोट लगने आदि की शङ्का है) ॥ ३१ ॥ प्रतिदिन सन्ध्या के पीछे दूसरे गांव में भ्रमणार्थ न जावे (इससे गुप्त प्रणय आदि दोष होने का डर है) ॥ ३२ ॥ अकेला दूसरे गांव में न जावे (एकाकी विपन्न होने पर, सहायकारी, या संवाद दाता का अभाव होता है । इस लिये ग्रामान्तर जाते समय एक उपयुक्त व्यक्ति को सतत सङ्ग रखे) ॥ ३३ ॥

न वृषलैः सह । ३४ न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् । ३५
न चाननुचरश्चरेत् । ३६ एतानि समावृत्तव्रतानि । ३७ यानि
च शिष्टा विदधुः ॥ ३८ ॥

‘वृषलैः’ दुर्नीतिकैः ‘सह’ न व्रजेत् । तथाच ‘संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति’ ३४
‘कासृत्या’ कुपचेन ‘ग्रामं न प्रविशेत्’ अपितु प्रसिद्धेन पथा दूरतरेणापि प्रवि-
शेत् तथाच निर्भयगमनं भवेत् । ३५ ‘च’ अपि ‘अननुचरः’ भृत्यशिष्यात्मीया-
न्यतनपरिचारकविहीनः ‘न चरेत्’ प्रवासं न गच्छेत् । अतएवोक्तं ‘भृत्याभावे

भवति मरणम्' । ३६ 'एतानि' उक्तानि समावृत्तव्रतानि' समावृत्तानां स्नातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥ 'च' अपि 'यानि' उक्तान्यानि 'शिष्टाः' गुर्वादयः विदधुः तानि च कर्त्तव्यान्येवेति ॥ ३८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३५

भा०—दुष्ट लोगों का संसर्ग न करे (जिस कारण संसर्ग ही से दोष गुण उत्पन्न होते हैं) ॥ ३४ ॥ प्रसिद्ध मार्ग रहने पर भी, जल्दी पहुँचने के विचार से प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कुपथ से न जावे ॥ ३५ ॥ एवं प्रवास (दूरदेश बाहर) जाते समय नीकर, छात्र, या किसी एक अपने अनुचर को अवश्य सङ्ग ले लेवे ॥ ३६ ॥ ये सब कर्म स्नातक के लिये कहे गये हैं ॥ ३७ ॥ और भी जो कुछ शिष्टगण स्नातकों के हितार्थ निषम कहें, उन २ का प्रतिपालन अवश्य करे ॥ ३८ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ३५ ॥



गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयेते मा, मे विश्वतो वीर्यं

इति १ प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ॥ २ ॥

“प्रकाल्यमानाः” चरणभूमौ गमनार्थं गृहादिष्काश्यमानाः गाः, “इमा मे विश्वतो वीर्यं भव इन्द्राय रक्षतम् । पूयथं स्तब्धं पर्यावर्त्तयान्ता आगन्तु नो गृहान्” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, ८, १)—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत’ । १—‘प्रत्यागताः’ चरणभूमिती गृहागता स्ता गाः “इमा मधुमती र्मह्यममन्ताः पयसा सह । गाय आज्यस्य नातर इहेमाः सन्तु भूयसीः” ॥ २ (म० ब्रा० १, ८, २) ‘इति’ अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

भा०—चारण भूमि (गी चराने की जगह) में चराने के लिये गी आदि को घर से बाहर ले जाते समय “ इमामे विश्वतो वीर्यं ” यह मन्त्र पढ़े ॥ १ ॥ और तब गी आदि घरकर घर आये तो “ इमा मधुमती र्मह्यम् ” यह मन्त्र पढ़े ॥ २ ॥

पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहना-
ज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवांश्श्लेष्मासीति ॥ ३ ॥

‘पुष्टिकामः’ पुष्टयः, ‘प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेपनात् प्राक्’ एष तस्य ‘ललाटं’ जिह्वया’ स्पर्शयया ‘उल्लिह्य’ आस्याद्य स्नेहेन मुलागतं स्लेष्मादां “गवांश्च स्लेष्मासि गायोः मयि सिप्यन्तु” ॥ ३ (म० ब्रा० १, ८, ३)—‘इति’ इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत् गलाधः कुर्यात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं पार्ष्णम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्नेहः प्रतिपालकस्यापश्यक-
ललाटस्येव यथाभिन्नपितृपुष्टिर्भवतीति सूचितम्) ॥ ३ ॥

भा०—जोलोग, पुष्टि की कामना करें, वे गौ के वत्स, को जन्म के साथ ही, अव-
तक उसकी अपनी मा उसे चाटे, या न चाटे, पुरुष अपनी जिह्वा से, वत्सका ललाट
चाटे (अर्थात् मा के स्नेह से भी पालक का स्नेह कुछ अधिक होना आव-
श्यक है) । इस प्रकार चाटते समय मुंह में आया हुआ लार को “गवां श्ले-
ष्मासि” यह मन्त्र मन ही मन पढ़ कर निगल जावे ॥३॥

**पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपस-
माधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ॥ ४ ॥**

‘पुष्टिकाम एव’ पुरुषः, ‘निशायां’ रात्री ‘सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; ‘गोष्ठे’
तत्रैव गोस्थाने, ‘अग्निम्’ उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वालय, तत्र, “संग्रहण संगृहा-
ण ये जाताः पशवो मन । एषैवाथं शर्मन् यच्छतु यथा जीवन्ती अप्ययात्” ॥ ४॥
(सं० ब्रा० १, ८, ४)—‘इति’ एतेन मन्त्रेण ‘विलयनं’ अर्द्धमघितं दधि ‘जुहुयात्’
स्त्रुवेणेति । (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्यम् । एतेन, गवां प्रसवक्षेत्ररुज-
मपनीतं स्यात्) ॥ ४॥

भा०—जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे रात में गौ के वत्स जनने पर, घरमें
अच्छे प्रकार आग जला कर “संग्रहण संगृहाण” यह मन्त्र पढ़ते हुए “विल-
यन” (आधा मूत्र हुआ दधि) होम करे ॥४॥

**पुष्टिकाम एव संजातास्त्र्योदुम्बरेणासिना वत्समिथुन-
योर्लक्षणं करोति पुंशस एवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसि साहस्रमिति ५**

‘पुष्टिकाम एव’ पुरुषः, ‘सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; ‘वत्समिथुनयोः’ द्वयोर्द्वयोर्ध-
रसयोः ‘त्र्योदुम्बरेण’ उदुम्बरकाष्ठेन असिना, चिह्नकविशेषेण ‘लक्षणं’ चिह्नम्
उभयोः समरूपमेव ‘करोति’ कुर्यात् । तत्र, ‘पुंशः एव’ चिह्नम् ‘अग्रे’ कर्तव्यम्,
‘अथ’ तदनन्तरं च ‘स्त्रियाः’ । अत्र चिन्हकरणे मन्त्री “भुवनमसि साहस्रमि-
न्द्रायत्या सृमोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम्” ॥५॥ गो पोषणमसि गोपोपस्येशिपे
गोपोपाय त्या । सहस्र पोषणमसि सहस्रपोपस्येशिपे सहस्रपोपाय त्या” ॥६॥
(सं० ब्रा० १, ८, ५, ६)—‘इति’ इमौ ॥ ५ ॥

भा०—जो लोग पुष्टि की इच्छा करें, वे, गूलर की लफड़ी की धनी लाल
तरवार से नयोःपत्र प्रतियज्ञे के दोनों कानों को इसप्रकार चिन्ह कर दें कि
(यदि जोड़ा उत्पन्न होतो) प्रथम बाछे की, फिर घच्छिया की । दोनों कान
में चिन्ह करते समय, “भुवनमसि साहस्रः” ये मन्त्र पढ़ें ॥ ५ ॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत् लोहितेन स्वधितिनेति ॥ ६ ॥

‘कृत्वा’ शङ्कन, ‘च’ तत “लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयो कृतम्” (यायतीना) भूयसीना व एयमो लक्षयमकारिषम् । (भूयसीना) भूयसीना व उत्तरामुत्तरा२३ समा क्रियासम्” ॥ ७ ॥ (स० ब्रा० १, ८, ७)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत्’ ताम् वत्सानिति शेष । अत्र च मन्त्रे ‘लोहितेन’-इति पदलिङ्गात् च चौदुंशरोऽसि लोहित स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य ष्यलनेन सिन्दूरादिना वा भवितव्यम् । तथाच दाहने सिन्दूरादिरङ्गितेन वा वत्सयुरमा चिन्हिता स्युः किञ्चात्रेव ‘कर्णयो’-इति पददर्शनात् तेषां कर्ण-
ध्वेव चिन्हानि कर्तव्यानीति च गम्यते । (एतेन (अरणभूम्यादौ बहुस्वानिक वत्सानामेकत्र अस्मिन् विधम सुपरिहार्य, किञ्चैकविधचिन्हेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावङ्कितायिति एकेऽपहृते तदन्वेयस्य सुकर भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्यम्) ॥ ६ ॥

भा०-उक्त प्रकार चिन्ह करने पर, “लोहितेन स्वधितिना” यह मन्त्र पढे (एक २ जोड़ा वत्स का एक २ प्रकार चिन्ह रहने से एक वच्चा भुलाने पर उसकी मिलने का सुभीता होगा, वहा गीये अधिक हो, वहा के लिये यह नियम जान पड़ता है) ॥ ६ ॥

तन्त्रीं प्रसार्य माणां बहुवत्साञ्चानुमन्त्रयेतेयं तन्त्रीं गवां मातेति ७

‘प्रसार्यमाणा’ शुष्कीभवनाय बहुवत्साञ्च गोदोहनादौ ‘तन्त्री’ वत्सयन्धन-
नरञ्च “इयं तन्त्री गया माता सवत्साना निवेशनी । सा न पयस्यती दुहा उत्तरामुत्तरा२३ समा” । ८ ॥ ८ (स० ब्रा० १, ८, ८)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत्’ ॥ ७ ॥

भा०-‘इयं तन्त्री गया माता’ इस मन्त्र का पाठ कर वत्स की दान्धने की रस्ती पसार कर सुखात्रे ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति । ८ निष्कालनप्रवेशने तन्त्रीविहरणमिति । ९ गोयज्ञे पायसश्चरुः ॥ १० ॥

‘तत्र’ गोपोषणे ‘एतानि’ ‘अहरहः कृत्यानि’ प्रतिदिनकर्तव्यानि ‘भवन्ति’ भवेयु । ८ ‘निष्कालन प्रवेशने’ प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते ‘तन्त्रीविहरण’ सप्तमसूत्रो-
क्तम् अपि ‘इति’ इमानि ग्रीणि । ९ अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञं कार्यं तत्र द्रव्य-
देयते विधत्ते, - “गोयज्ञोपायस” पयसा सिद्ध ‘घट’ पक्व ॥ १० ॥

प्र० ३ खं० ६ सू० ६-१५] गोयज्ञपभपूजाऽश्वयज्ञाः ॥ १४७

भा०-गौ पीपण (पावन) करने में प्रति दिन, ये नियम करना चाहिये ॥८॥ प्रथम, गौ आदिक को चारण भूमि (चरागाह) में चरने देना, २ तीय, घर कर आने पर उनको यज्ञ से ग्रहण करना और तृतीय, ध्वजों की विशेष गौओं की सेवा करनी ॥९॥ गो-यज्ञ के निमित्त दूध में का पका चरु आवश्यक है ॥१०॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ११ ऋषभपूजा । १२
गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । १३ । यमवरुणौ देवताना-
मत्राधिकौ ॥ १४ ॥

‘अग्निं’ ‘पूषणम्’ ‘इन्द्रम्’ ‘ईश्वरम्’-इमान् चतुरो देवान् ‘यजेत’ अर्चयेत् । ११ ‘ऋषभस्य’ ष्वभस्य पूजा अपि कार्या । १२ ‘गोयज्ञेन’ उक्तेनानेन ‘एष’ ‘अश्वयज्ञः’ व्याख्यातः विशेषेणोपदिष्टः । तथाच अश्वयज्ञेऽपि पायसश्चरुद्रव्यम्; अन्यथाप्य देवताः । ऋषभपूजास्यानेऽश्वपूजनम् । १३ ‘अत्र’ अश्वयज्ञे ‘देव-
तानाम्’ मध्ये ‘यमवरुणौ’ इमौ देवौ ‘अधिकौ’ पूज्याविति ॥ १४ ॥

भा०-और अग्नि, पूषा, इन्द्र, और ईश्वर, ये चार नाम वाले देव विशेष अर्चनीय हैं । (अर्थात् जिन मन्त्रों के ये देवता हैं उन मन्त्रों से) ॥ ११ ॥ ऋषभ पूजा भी गोयज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥१२॥ गोयज्ञ और अश्वयज्ञ दोनों ही एक प्रकार से होंगे (इस से अश्वयज्ञ में भी दुग्ध सिद्ध चरु आवश्यक है और अग्नि प्रभृति उक्त चार देवता भी विशेष अर्चनीय हैं) ॥१३॥

भा०-गो-यज्ञ से, अश्व-यज्ञ में विशेषता यह है कि अश्व यज्ञ में ‘यम’ एवं ‘वरुण’ देवता की पूजा होती है ॥१४॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् । १५ ॥ ६ ॥

‘गन्धैः’ धूपादिभिः ‘गवाम्’ ‘अभ्युक्षणं’ ग्रहणं कार्यमिति शेषः । वीक्ष्वा-
याञ्च द्विवेचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायंप्रातः सायमेव वा गोयज्ञे अग्निं प्रज्वा-
त्य तत्र गुग्गुलवादिगन्धद्रव्यक्षेपणेन च तद्गृहं धूपयितुं कार्यम् । एतेन भश-
कादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिति ॥ १५ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके पष्ठखण्डस्य वयारूपानंसमाप्तम् ३६

भा०-गौ-शाला में प्रतिदिन सायं प्रातः काल, अन्ततः सायंकाल भी आग जला कर उस में धूना, गुग्गुल प्रभृति डाल कर, घर को साफ रखते (जिस से मल मूत्र जनिह दुर्गन्ध दूर हो) ॥१५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के छठेखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३६॥

अथातः श्रवणाकर्म ११ पौर्णमास्यां कृत्यम् १२ पुरस्ता
च्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

'श्रव' अधिकारायः । 'अतः' ऊर्ध्वं 'श्रवणाकर्म' अधिकृतं वेदितव्यम् ११
तच्च श्रवणाकर्म 'पौर्णमास्यां' तिथौ 'कृत्यं' करणीयं भवति आरब्धव्यमिति ।
श्रवणाकर्म इति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादन्यथेतः श्रवणानक्षत्रयुक्तयामेव पौर्ण-
मास्यामिति । २ 'शालायाः' अग्न्यागारस्य 'पुरस्तात्' पुरोभागे 'उपलिप्य' गो-
मयेत्यादिना, 'शालाग्नेः' अग्न्यागारस्थिताग्नितामस्य 'अग्निं' गृहीत्वा 'प्रणयन्ति'
यथाविधिं प्रज्वालयन्ति प्रज्वालयेयुः गृहस्था अग्निशेषेणेति ॥ ३ ॥

भा०:-अत्र श्रवणा कर्म का आरम्भ जनो ॥ १ ॥ यह श्रवणा कर्म, श्रवण
मास की पूर्णिमा में पहिले किया जावे । अर्थात् श्रावणी पूर्णिमा से इस का
आरम्भ करे ॥ २ ॥ जिस घर में नित्य अग्निहोत्र का अग्नि स्थापित ही, उसी
घर के पुरो भाग में गौ के गोबर से लीप कर अग्निहोत्र से कुछ अग्नि लेकर
पृथक् यथा विधि अग्नि प्रज्वालित करे । यह, साधारणतः सब ही गृहस्थ करे ॥ ३ ॥

अभितश्चत्वार्युपलिम्पन्ति । ४ प्रतिदिशम् साधिके
प्रक्रमे । ५, ६ । अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं
भृञ्जत्यनुपदहन् ॥ ७ ॥

'अभितः' तस्याभिनवस्याग्नेः, 'चत्वारि' स्थानानि 'उपलिम्पन्ति' गोमये-
त्यादिनैव । ४ 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति 'साधिके प्रक्रमे' अग्नौ न प्रक्रमपरि-
मित स्थाने तल्लिम्पनं कर्तव्यम् । 'त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः' । ५, ६ 'अग्नौ' तत्र 'क-
पालं' घटार्द्धप्रायं भाजनम् 'आधाय' स्थाप्य, तस्मिन्नेवोक्तते आग्रे 'सकृत्सङ्गृ-
हीतं एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमितं यवाजम् 'अनुपदहन्' दग्धं यथा न भवेत्
तथा कृत्वा 'भृञ्जति' भजयेत् ॥ ७ ॥

भा०:-उस नये स्थापित अग्नि की चारो ओर चार स्थान भी गोबर से
लीपे ॥ ४ ॥ प्रत्येक दिशा में कम से कम तीन पग स्थान लीपे ॥ ५, ६ ॥ उस
नये अग्नि पर एक खपरी (घड़े का अट्टा) रख कर, उस में एक मुट्ठी यव
एकवार डाल कर ऐसा भजे जिस में यव भस्म न हो जावे ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृढं हयित्वाऽवहन्त्युद्वेचम् ॥ ८ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' भागे 'उलूखलं' दृढं हयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र उ-
द्वेचं, तुपमुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा 'अवहन्ति' मुष्टिमितान् तान् भृष्यवान्,
मुसलेनेति । ८ ।

भा०-उस अग्नि के पीछे दृढ़ता से ओखरी (उलूखल) रख, उस में उक्त भूने यव आदि को साफ करने के लिये रख कर मूसल से छांट देवे ॥८॥

सुकृतान्सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय नि-
दधाति । ९ दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

एषञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' मृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषे 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेण' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥ ९ ॥ क दिशि रहोत् ? इत्याशङ्कामपनोदितुमाह:-'दक्षिणपश्चिमे' द्वे दिशौ 'अन्तरेण' मध्ये 'सञ्चरः' गमनागमनमार्गः । तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रहोदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

भा०-इस प्रकार भूने यव आदि को भूसी निकाल और चूर्ण कर, सुन्दर सत्तू प्रस्तुत होने पर, उसे चमसे में (पानीय पात्र में) रख कर, सूप से ढांक कर यत्र से रखे ॥९॥ दक्षिण और पश्चिम दिशा में अर्धात् नैर्ऋत्यकोण में, जाने आने का रास्ता छोड़ कर, जहां चाहे, उक्त सत्तू को रखे ॥ १० ॥

अस्तमिते चमसदव्यावादाय शूर्पञ्जातिप्रणीतस्याहुं
व्रजति । ११ । शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते ॥१२॥

'अस्तमिते' सवितरि, 'चमस-दव्या' शूर्पे च 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्र-
णीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य, नित्याग्निः पृथक् कृत्वा द्वितीयतया
स्थापितस्य, अग्निवत्स्य, तस्यैवाग्नेः 'अहुं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति ।
। ११ । चमसे रक्षितान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' 'आवपति' 'च' अपि शून्ये तत्र
चमसे 'उदकम्' 'आदत्ते' गृह्णीयात् । १२ ।

भा०-सूर्यास्त होने पर, चमस दर्वी (बलीना) सूप लेकर उस के अति-
रिक्त (अर्धात् नित्य स्थायी अग्नि से विभिन्न) मये अग्नि के निकट होम
करने के अभिप्राय से जावे ॥ ११ ॥ पहिले चमसे में रक्खा सत्तू आदि सूप में
उफ़ल कर, उस चमसे में जल ग्रहण करे ॥ १२ ॥

सकृत् संगृहीतान् दव्यां सक्तून् कृत्वा पूर्वं उपलिप्त
उदकं निनीय बलिं निर्वपति, यः प्राच्यांदिशि सर्पराज एष
ते बलिरिति । १३ । उपनिनयत्यपाथं शेषं यथा बलिं न
प्रवक्ष्यतीति ॥ १४ ॥

ततः 'दव्यां' तथा 'सक्तून्' 'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतान् कृत्वा' गृहीत्वा,

किञ्च 'पूर्व' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीतं 'निनीय' निषिच्य, तदुपरि "यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥१॥ (म०ब्रा०२,१,१)-इति अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भागं 'निर्वपति' स्स्थापयति ॥१३॥ 'अपां शेयं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जलं 'उपनिनयति' उपनिनयेत् स्थापितवलेरुपरि किञ्चित् क्षिपेत् । तथा कृत्या क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवदयति' न प्रवहेत् ॥ १४ ॥

भा०-अनन्तर उस दूर्ध्व से एक ही बार में पूरा सत्तू उठाले और पूर्व दिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में उस चमस पात्र में रखे जल सीधकर उस के ऊपर यथा क्रम से "यः प्राच्यां" इस मन्त्र से बलिभाग रखे ॥ १३ ॥ उस चमस पात्र के बचे जल को उस बलि पर छीटे। इस जल को इस प्रकार छीटे जिस में ये बलि आदि वह न जावे ॥ १४ ॥

सद्यं बाहुमन्वावृत्त्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः । शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्याहुं व्रजति । १५, १६ ।

ततश्च 'अव्यावर्त्तमानः', तत्रैकत्रैवस्थितौ 'सद्यं बाहुम्' 'अन्वावृत्त्य' वाच-
भागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् सङ्गृहीतादिप्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षि-
णास्यां दिशि देवा बलिः 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गानुसारत-
एव मन्त्रं (यो दक्षिणास्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥२॥ यः प्रतीच्या दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥ ३ ॥ यः उदीच्या दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥ ४ ॥ सं०ब्रा०२,१,२-४) पठित्वा हर्त्तव्येति । 'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या । 'एवम् उ-
दीची' बलिः च हर्त्तव्या । ततश्च 'चमसदर्व्या' 'अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य'
तस्मिन्नेयाग्नी, 'शेयं' अवशिष्टसक्तुभागम् 'अग्नी' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रतिप्य
'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिनएव तस्य, यतो गृहीत्वा एषोऽतिप्रणीतः तस्य
'अहुं' समीपं 'व्रजति' व्रजेत् ॥ १५, १६ ॥

भा०-उसी एक स्थान में रहते हुए 'घोड़ावाई' और हटकर, इसी प्रकार दक्षिण और एक बलि पश्चिम और एक और उत्तर और भी एक बलि, रखे और उस २ बलि, के देते समय 'मन्त्र ब्राह्मणोक्त अपरतीन मन्त्र अर्थानुसार यथा यथ मन्त्रो का व्यवहार करे । पीछे चारों और चार बलि प्रदान करे और उस के ऊपर यथा जल छिड़के । पीछे खाली चमस और दूर्ध्व जल में धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुलाकर और अवशिष्ट सत्तू आदि उसी अग्नि

में डालकर जिस अग्नि में कुछ आग लेकर यह अग्नि प्रस्तुत हुआ है, उसी चिरस्थायी अग्नि के निकट जावे ॥ १५-१६ ॥

पश्चादग्ने भूमौ न्यञ्जौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति । १७ । प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ १८ ॥

‘आग्नेः’ चिरस्थापितस्य अनतिप्रणीतस्य तस्य ‘पश्चात्’ भूमौ ‘न्यञ्जौ’ अधोमुखौ ‘पाणी’ हस्तौ ‘प्रतिष्ठाप्य’ “नमः पृथिव्यै दथंष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिपान् ॥ गथं हतं माविषधी विं हतं मा गितं वधीः” ॥५॥ (म० ब्रा० २.१.३) ‘इति एतं मन्त्रं जपति’ ॥१७॥ ततः ‘प्रदोषे’ रात्रिप्रथमयामे ‘पायसः चरुः’ पक्तव्यः ॥१८॥

भा०:-उक्त अनति प्रणीत चिरस्थापित अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे कर “नमः पृथिव्यै” इम मन्त्र का जप करे ॥ १७ ॥ उस के पीछे रात्रि के पहिले अथ पहर में पायस चरु पकाये ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥ १९ ॥

‘तस्य’ चरो; एकैकं भागं गृहीत्वा ‘श्रवणाय स्वाहा’ ‘इति’ इत्येवं पञ्चभिः मन्त्रैः ‘जुहुयात्’ पञ्चहोमान् कुर्यादिति ॥ १९ ॥

भा०:-उक्त चरु में से एक २ भाग लेकर ‘श्रवणाय स्वाहा’ प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति देवे ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत् । २० । उत्तरतोऽग्नेर्दभस्तम्बश्च संमूलं प्रतिष्ठाप्य सोमो राजेत्येतं मन्त्रं जपति याथं सन्धाथं समधत्तेति च ॥ २१ ॥

‘अन्यत्’ कर्मशेषं ‘स्थालीपाकावृता’ स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति, शेषः ॥ २० ‘अग्नेः’ तस्यैव ‘उत्तरतः’ ‘समूलं दभस्तम्बं’ ‘प्रतिष्ठाप्य’ “सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो इताकथं राजा सोमस्य यथथं स्मः ॥ अहिजम्भन मसि सौतस्तम्बश्च सौमस्तम्ब महिजम्भन मसि” ॥६॥ (म० ब्रा० २.१.४) ‘इति’ ‘एतं’ ‘मन्त्रं’ ‘य’ अपि “याथं सन्धाथं समधत्त यूयथं सप्तज्ञपिभिः सह । ताथं सर्पामात्य-क्रानिष्ट नमो वो अस्तु नानो द्विथंसिष्ट” ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २.१.५) ‘इति’ मन्त्रं ‘जपति’ ॥ २१ ॥

भा०:-अपर शेष कर्म सब स्थाली, पाकपत्र जिस प्रकार सिद्ध करना होता उसी प्रणालि से करे ॥ २० ॥ उस अग्नि के उत्तर भाग में मूल के साथ कुशपुष्प स्थापन कर ‘सोमो राजा’ यह मन्त्र और ‘याथं सन्धाथं’ मन्त्र पढ़े ॥ २१ ॥

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति।
अहरहस्तूष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्राग्घोमादाग्रहायण्याः ॥२२, २३॥

‘ततः’ तदनन्तरं ‘श्वः’ परदिने ‘अक्षतसक्तून्’ यवसक्तून् ‘कारयित्वा’ पुत्र-
पुरोहितादिना ‘नवे पात्रे’ ‘अपिधाय’ आच्छाद्य ‘निदधाति’ स्थापयति। तैरेव
सक्तुभिः ‘अहरहः’ प्रतिदिनं ‘सायं होमात्’ सायङ्कालीनहोमतः पुरस्तादेव
‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव ‘बलीन् हरेत्’ । ‘आ आग्रहायण्याः’ अग्रहायणमासी-
यपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्राग्दिनपर्यन्तमिति । समाप्तं श्रवणाकर्म ॥२२, २३॥
इतिज्ञानवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रतृतीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ३.७

भा०:-उस के दूसरे दिन अपने पुत्र, या पुरोहित आदि द्वारा यव का
सक्तू प्रस्तुत कराकर नये पात्र में ढाक कर रखे और इसी सक्तू से प्रतिदिन
सांयहोम के पहिले पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान में प्रदान करे । अग्रहण
महीने की पूर्णिमा के पूर्वदिन तक इसी प्रकार करे ॥ २२, २३ ॥ *

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३, ७॥

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरुः ॥१॥

‘आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां’ आश्विनपूर्णिमायां ‘पृषातके’ आन्पमिश्रिते
पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) ‘रुद्रः’, रुद्रदेवताकः ‘पायसः चरुः’
पक्वव्यः इति शेषः ॥१॥

भा०:-आश्विन मास की पूर्णिमा की, पृषातक अर्थात् घृत मिश्रित दुग्ध
सम्पादन पूर्वक रुद्र देवता की तुष्टि के लिये पायस चरु पाक करे ॥ १ ॥ *

**तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक
इति द्वितीयाम् ॥ २ ॥**

‘तस्य’ चरोः एकैकमंशं गृहीत्वा ‘आनोमित्रावरुणा’ (छ० आ० ३.१.३.७)
‘इति’ ‘प्रथमाम्’ आहुतिं किञ्च “मानस्तोके तनये मा न आयी मा नो गोषु मा
नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भानिनो बधी हंविष्मन्तः सदनिरथा
हवामहे” ॥८॥ (म० ब्रा० २.१.८) ‘इति’ ‘द्वितीयाम्’ ‘आहुतिं’ ‘जुहुयात्’ ॥२॥

भा०:-उक्त चरु का एक २ भाग लेकर “आनो मित्रावरुणा” (छ०आ०८,
१.३.७) मन्त्र से प्रथम और “मानस्तोके तनये” मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥२॥

* आज इसी “अवधायक” में, जो बदले सावन की पूर्णिमा को सलोनी (राखी), या रघुनन्दन,
नाक्षत्र लोग अपने २ यन्मानों को “मेन बन्धो बन्धो राधा बानेन्द्रो गङ्गावतरतेन त्वा प्रतिवन्धामि रवे मानव
मानव”, इस श्लोक को पढ़ (राखी रङ्गीन धागा) बान्ध कर दक्षिणा पाते हैं ॥

* इसी के बदले “कोजागरी नृत्य”, अर्थात् कोजागर पौर्णमासी को लक्ष्मी पूजा हुआ करती है ॥

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः ३ । स्था-
लोपाकावृताऽन्यत् ॥ ४ ॥

‘च’ अपि ‘काम्यासि इत्येतत्प्रभृतिभिः’ यजुर्वेदप्रसिद्धैः (य० वे० सं० ८, ४३) ‘गोनामभिः’ एकादशभिः, ‘पृथक्’ नामशः एकादशाहुती जुहुयात्तस्यैव चतुरंशं गृहीत्येति ॥ ३ ॥ ‘अन्यत्’ सर्वे ‘स्थालोपाकावृता’ स्थालोपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति ॥ ४ ॥

भा०:-‘काम्यासि’ प्रभृति यजुर्वेद के प्रसिद्ध ग्यारह (य० वे० सं० ८, ४३) गौ के नामों का उच्चारण करे, इस चरु के भाग को लेकर भिन्न २ * ग्यारह आहुति देवे ॥ ३ ॥ और अन्यान्य सब कार्य स्थालोपाक की नाईं करे ॥ ४ ॥

पृपातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वा
स्वयमवेक्षेत; तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुञ्चरत् । पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

ततः ‘अग्निं प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा पृपातकम् आरुप्य मिश्रितं पयः
‘पर्याणीय’ स्वसमीपं गृहीत्वा तच्च ‘ब्राह्मणान्’ तत्रागतान् ‘अवेक्षयित्वा’ दर्श-
यित्वा ‘तच्चक्षुर्देवहितम्’-‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘स्वयम् अवेक्षेत ॥ ५ ॥

भा०:-उस के अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिण करके उस पृपातक को अ-
पने निकटस्थ लेकर स्थानीय ब्राह्मणों को देखावे एवं ‘तच्चक्षुर्देवहितं, इत्यादि
मन्त्र पढ़ २ कर उस में अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुपान्मणीन्
सर्वौषधिमिश्रानावध्नीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

‘ब्राह्मणान्’ निमन्त्रितान् ‘भोजयित्वा’ भोजनदानेन तपेयित्वा ततः
‘स्वयं भुक्त्वा’ ‘सर्वौषधिमिश्रान्’ व्रीहिशालिमुद्गगोधूम-सर्पप-तिल यव-मिश्रणो-
दलिसहितान् ‘जातुपान्’ जातुपानामकीन् लाक्षाकृतान् ‘मणीन्’ ‘स्वस्त्ययनार्थं’
कल्याणाय ‘अवध्नीरन्’ स्वब्राह्मणादाविति ॥ ६ ॥

भा०:-इस प्रकार कर्म की समाप्ति में, निमन्त्रित ब्राह्मणादिकों को
भोजन करा कर, आप भी भोजन करे और १ व्रीहि, २ धान्य, ३ मूग, ४ गोहूम,
५ सर्पप, ६ तिल, ७ यव, इन सात शस्य (अनाज) की पुटली बना इस के

* इडा रग्मा, इत्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्विति, अघ्न्या, ये ११

यजुर्वेदोक्त गौ के नाम हैं ।

साय * जातुप नामक कई एक मणि के साथ बाहु पर, या दूसरे किसी कमर से ऊपर के ** अङ्गों में बान्धे । इस से कल्याण की वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत स्व-
स्ति हासां भवति । ७, ८ नवयज्ञे पायसश्चरुर्इन्द्राग्नः ॥ ९ ॥

‘सायं’ समुपस्थिते ‘गाः’ ‘पृषातकं’ तत् ‘प्राशयित्वा’ पाययित्वा ‘सहव-
त्साः’ वत्सैः सहिताः ताः ‘वासयेत’ तां रात्रिमिति । एतेन कर्मणा ‘आसां’
गवां ‘स्वस्ति’ सुखं ‘भवति’ । ७, ८ ‘नवयज्ञे’ नूतनशस्यनिमित्तोत्साहादिप्रका-
शनाय परमदेवाद्यर्चनं कर्त्तव्यं भवति, तत्र । ‘पायसः’ पयसा दुग्धेन सम्पादितः
‘चरुः’ पक्वव्यः । स च चरुः ‘ऐन्द्राग्नः’ इन्द्राग्निदेयताको भवेदिति नवयज्ञ-
द्रव्यदेवतानिर्देशः ॥ ९ ॥

भा०—सायंकाल में, जब गौयें चर कर बाहर से वापस आवें, उन
को यह पृषातक मिलावे और रात्रि में बच्चों को अलग २ न बान्धकर, अप-
नी २ माके निकट ही रखे । इस से गौ आदिक प्रसन्न रहेंगी ॥ ७, ८ ॥
नूतन शस्य निमित्तक उत्साह आदि प्रकाशनार्थ परम देवतार्चन यज्ञ करना
होता है । (नवाग्नेष्टि) इस में इन्द्राग्नी कहकर प्रसिद्ध दोनों देवता के नाम से
आहुति दीयी जायेगी और वह उसी नये शस्य के पायस चरु से सम्पन्न होगी ॥

तस्य मुख्याथ हविराहुतिश्च हुत्वा चतसृभिराज्याहु-
तिभि रभिजुहोति शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिः । १० स्यात्तो
पाकावृताऽन्यत् ॥ ११ ॥

‘तस्य’ नवयज्ञस्य ‘मुख्याम् आहुतिं’ इन्द्राग्निदेयताकां ‘हुत्वा’ ततः परं
“शतायुधाय शतवीर्याय शतोत्तयेभिर्मातिपाहे । शतं धो नः शरदो अग्नीजा-
दिन्द्रो नेपदतिदुरितानि विश्वा ॥ ९ ॥ ये चत्वारः पश्यते देवयाना अन्तरा
द्यावापृथिवी विपन्ति । तेषां धो अज्यानि मग्नीजिमायदास्तस्मै नो देवाः
परिदत्तेह सर्वे ॥ १० ॥ यीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुधितधो अस्तु ।

* आत्र रभी के बरने ब्रह्मण गाय “अई, (जयन्ती) बाधा करते हैं । यद्यपि ये लोग उक्त सप्त ७ वनस्प
में रक्षा बधन नहीं करने, किन्तु अस्तिन नाम के गुरुशय की नवमी की रात्रि में बानी के पूजार्थ जो कलरा
रक्षणा जाता, उस बेदी में जो बर बोधा रहता है, उस की जमने पर दशमी के दिन ब्रह्मण लग्न करने में मे
उपदेश कर ब्रह्मने २ अन्नदानों को श्रोत्र—(जयन्ती मङ्गला काली, यशस्वी वराहिनो दुर्गे धमा धमा धाधो,
मङ्गलानो नमोऽस्तु ते) पढ़ कर उन की शिरा में जकनी बन्धकर दक्षिणा देने हैं ॥

०० तिस का रव्य मन्त्रशय की नार्थ, लूट सारा होगा दे उनी को जगु करने । इमामय भी रगी का
नमः गर है । जगु यशस्वी का जगु करने ॥

तेषां मृतूनार्थं शारदानां निवात एषा मभये स्याम ॥ ११ ॥ इदत्सराय पत्न्यत्सराय संवत्सराय कृणुता दृहन्मः । तेषां वयं सुमती यज्ञियानां ज्योत् जीता अहताः स्याम ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, १, ९-१२)-‘इत्येतत्प्रभृतिभिः’ ‘वतसृभिः’ मन्त्रैः ‘आज्याहुतिभिः’ ‘अभिजुहोति’ ॥ १० ॥ अन्यत् अवशिष्टका- ‘यंजातं’ स्थालीपाकायुता’ स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव मयेवाम ॥ ११ ॥

भा०.-उक्त नूतन यज्ञ की मुख्य यह ऐन्द्राग्न आहुति देने पर “शता- सुधाय” इत्यादि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा और भी चार होम मरे ॥ १० ॥ अवशिष्ट कार्यं सब स्थाली पाक यज्ञ के विधि अनुसार करे ॥ ११ ॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

‘उच्छिष्टशेषम्’ उत्सर्गीकृतस्य हविषः शेषं ‘हविः’ ‘यावन्त’ दर्शकाः परिजना निमन्त्रिताश्च ‘उपेताः’ तन्नागताः ‘स्युः’ तान् सर्वानेवाविशेषेण ‘प्रा- शयेत्’ ॥ १२ ॥

भा०.-होम में की बची हुई शेष हवि, यज्ञ दर्शनार्थ आये परिजन, नि- मन्त्रण से आये हुए लोगों को यथा भाग खवावे ॥ १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य द्विश्वरोरवद्यति ॥ १३ त्रिभृगूणाम् ॥ १४

‘चरोः’ उपरि ‘अपां’ भागं ‘सकृत्’ एकवारम् ‘उपस्तीर्य’ प्रथमसिद्धिं प्रकृत्य ‘द्विः’ द्विवारम् ‘अवद्यति’ तं चरं मेक्षणैरेति ॥ १३ ॥ ‘भृगूणां’ भृगुगोत्रो- त्पन्नानां ‘त्रिः’ त्रिवारमवदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥ १४ ॥

भा०.-होम से बचे हुए चरु के ऊपर एक बार जल छिड़क कर मेक्षण द्वारा, दो बार खण्ड २ करे अर्थात् उस चरु को तीन भाग करे ॥ १३ ॥ भृगु- गोत्र वाले उस चरु को ४ भाग में बाँटे, यही इसमें विशेषता है ॥ १४ ॥

अपाञ्चैवोपरिष्ठात् । १५ असत्स्वादं निगिरेद्ब्रान्नः श्रेय इति । १६ एवं त्रिः ॥ १७ ॥

‘अ’ अपि ‘उपरिष्ठात्’ तस्यैवावदातस्य चरोः, ‘अपां’ प्रक्षेपः कर्त्तव्यः ॥ १५ ॥ एयंकृत्या ततः कियन्मात्रं तच्चरं “ब्रान्नः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्वया वसेन सम- शीमहि त्वा । सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वै स्योनः (स्वाहा)” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, १, १३)-‘इति’ इमं मन्त्रं पठित्वा ‘असत्स्वादं’ तच्चरोः आस्वादं सम्पक् गृहीतं न भजति यथा तथाकृत्यैव ‘निगिरेत्’ दन्तैश्चवर्णमकू- त्वैव गलाय कुपोदिति ॥ १६ ॥ ‘एवं’ मन्त्रपाठपूर्वकमसत्स्वादश्च ‘त्रिः’ त्रिवारम् निगिरणं कर्त्तव्यम् ॥ १७ ॥

भा०:-उसी प्रकार कई भागों में बटे हुए चरु पर भी एक बार जल छिड़के ॥ १५ ॥ तत्पश्चात् उस चरु में से कुछ लेकर "भद्राक्षः श्रेयः" यह मन्त्र पढ़ कर स्वाद न लेकर निगल जावे ॥ १६ ॥ इस प्रकार मन्त्र पढ़कर और स्वाद न लेकर तीनवार चरुभाग को गला के नीचे करे (निगलजावे) ॥ १७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । १८ भूय एवावदाय कामन्त्रं संस्वादयेत् । १९ आचान्तोदकाः । २० प्रत्यभिमृशेरन्मुखं शिरोऽङ्गानीत्यनुलोमममो सीति ॥ २१ ॥

'चतुर्थं' निगरणं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव परमत्राप्यसंस्वादमिति वर्तते ॥ १८ ॥ 'भूयः' पुनरपि पूर्ववत् 'अवदाय' चरुच्छेदं प्रकृत्य 'तत्र' तस्मिन् पक्षे 'कानं' यथा स्यात् तथा 'संस्वादयेत्' तं चरुभागमिति । १९ ततः 'आचान्तोदकाः' भक्षेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति । २० ततश्च "अमोसि प्राणं तहतं ब्रवीम्यना ह्यसि सर्वमनु प्रविष्टः । स मे जराशं रोगमपमृत्युं शरीरादपाम एधि ना मृया न इन्द्र (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, १, १४) - 'इति' इमं मन्त्रं पठन्नेव 'मुखं' ललाटादि चिह्नकपर्यन्तं 'शिरः' ब्रह्मरन्ध्रम् 'अङ्गानि' कर्णमूलादीनि पादाप्रान्तानि 'प्रत्यभिमृशेरन्' उदकैः सिद्धेरन्जिति ॥ २१ ॥

भा०:-चतुर्थवार में मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस बार भी स्वाद ग्रहण न करे ॥ १७ ॥ पुनः, उसी प्रकार भक्षण द्वारा चरु सब को टुकड़ा २ कर भक्षण करे, परन्तु इस बार यदि इच्छा हो, तो, स्वाद भी ग्रहण कर सकता है ॥ १८ ॥ अनन्तर, जल से आचमन करे अर्थात् मुख और हाथ पैर धोवे ॥ २० ॥ उस के पश्चात् ही "अमोसि प्राणं" मन्त्र पाठकर ललाट से डाढ़ी पर्यन्त और ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश एवं कान की जड़ से पैर तक अच्छे प्रकार धोवे ॥ २१ ॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानामग्निः प्राप्नातु प्रथम इति श्यामाकानामेतमुत्पं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् २२, २३, २४ । ३, ८ ॥

'एतया एव आवृता' अनया नवग्रीहिपक्षीकरीत्या एव श्यामाकयवानाम् अपि यवानां यज्ञः कार्यः । विशेषस्तु :- 'श्यामाकानां' श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे "अग्निः पश्चात् प्रथमः स हि वैद्यया इयिः शिवा । अरमभ्य मोयधीः कृषोत् विप्रयधर्षणिः" (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, १, १५) - 'इति' एव मन्त्री

[प्र० ३ खं० ८ सू० १८-२४, खं० ९ सू० १-३] आग्रहायणीकर्म ॥ १५१

व्यग्रहायः ; किञ्च 'यवानां' ययसम्बन्धिनि यज्ञे " एतमुत्पं मधुना संयुतं यवथं सरस्वत्या अधिवनाव चकुंधि। इन्द्र आसीत्भीरपतिशतक्रतुः कीनाशा आसन्नरुतः सुदानवः" (स्वाहा) (म० ब्रा० २, १.१६) - 'इति' एव मन्त्री वयध-हर्त्तव्यइति । २२, २३, २४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेऽतृतीयप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानसमाप्तम्॥३,८॥

भा०:-पूर्व जो कहा गया है, ये सब ही नूतन ब्रीहि, शस्य के लिये हैं, परन्तु सामा, यय, शस्य के विषय में इसी रीति से यज्ञ सम्पन्न करे। विशेषता केवल यह है कि- नूतन श्यामाक (सामा) यज्ञ में 'शतायुधाय' मन्त्र के बदले "अग्निः प्राश्नातु" प्रथम मन्त्रका पाठकरे और नूतन यय यज्ञ में "एत मुत्पं मधुना" मन्त्र का व्यवहार करे ॥ २२, २३, २४, ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेऽतृतीय प्रपाठक के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ॥३,८॥



आग्रहायण्यां बलिहरणम् १ तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम् ॥२॥

'आग्रहायणाम्' अग्रहायणी नागंशीर्षे इति पर्वायवचनम्। अग्रहायणस्य यनाग्रहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणं' कर्त्तव्यम् । १। एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेन एव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणे यद्यदुपदिष्टमिहापि तत्तदेव धोध्यमिति । २।

भा०:-अगहन की पूर्णिमा को भी बलि प्रदान करे ॥१॥ * यह बलिप्रदान, श्रावण मास के बलिहरण से कहा गया है। अर्थात् श्रावण मास की पूर्णिमा को बलिहरण विषय में जो २ कहा गया है इस अगहन मास की पूर्णिमा के बलिहरण में भी वही २ नियम प्रतिपालन करे ॥२॥

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै' (पृ० १५१) - 'इति एतं मन्त्रं' 'न जपति' आग्रहायणबलिहरणकारीति, श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्जी पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति (पृ० १५१)' तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति । ३। अपरायपि कानिचित् तद्दिनकर्त्तव्यान्वाहः-

भा०-श्रावण मास में जो बलिहरण आरम्भ हुआ है, उस में "नमः पृथिव्यै" मन्त्र का व्यवहार करने का विधि है। इस अगहन मास के बलिहरण में उस की आवश्यकता नहीं, यही इस में विशेषता है ॥ ३ ॥

* श्रावण की पूर्णिमा से प्रतिदिन जो रत्नदान होगा सो इसी बलिहरण में देय होगा। प्राचीन समय में भी इसी बार मासों में देण का मय होता था ॥

अथ पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिश्च हुत्वा दर्भान् शमीं
वीरणां फलवतीमपामार्गश्च शिरीषमेतान्याहारयित्वा तू-
ष्णीमक्षतसक्तूनामग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः स-
म्भारैः प्रदक्षिणमग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहान-
नुपरीयात् । ४ । उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ॥ ५ ॥

‘अथ’ शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिवं द्योतयति । तद्दिने पूर्वाह्णे प्रात-
राहुतिं हुत्वा एव ‘दर्भान्’ कुशवृक्षानि, ‘शमीं’ तद्दृष्टपत्रं, ‘वीरणां’
वीरणातृणं, ‘फलवतीं’ वफलां वदरीशाखां, ‘अपामार्गं’ तच्छाखां, ‘शिरीषं’
तच्छाखां, ‘एतानि’ सम्भाराणि ‘आहारयित्वा’ येन केनचित् ‘अक्षतसक्तूनां’
यवसक्तूनां भागं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव ‘अग्नीं’ कृत्वा प्रक्षिप्य ‘ब्राह्मणान्’ त-
त्रत्याम् दक्षिणादानादितोषणेन ‘स्वस्ति’ शब्दं कर्त्तव्यवाचनं वा ‘वाचयित्वा’
‘एतैः’ दर्भादिभिः ‘सम्भारैः’ सह ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘अग्न्यागारात्’
अग्निगृहात् ‘प्रभृति’ ‘गृहान्’ सर्वानेव ‘अनु’ लक्ष्य ‘धूमं’ प्रदाय ‘शातयन्’ नि-
र्वापयंश्च ‘परीयात्’ सर्वतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं
कलितम् ॥४॥ तान् ‘सम्भारान्’ ‘कृतार्थान्’ निष्पन्नप्रयोजनान् इति ‘उत्सृजेत्’
परित्यजेत् ॥ ५ ॥

भा०-और भी,—उस दिन दो पहर के पीछे प्रातःकाल की आहुति दे
कर, पीछे कुश, पीपर का पत्ता, वीरणातृण, (खस) फल सहित घैर का ढाढ़,
वीरवीरी का डाल, शिरीष की शाखा, ये सब किसी से संगवाकर अग्नि में
दिन मन्त्र पढ़े सत् होम कर, उस स्थान में उपस्थित ब्राह्मणों को दक्षिणा
दे कर प्रसन्न करे, ‘स्वस्ति’ कहवा कर, इन दर्भ आदि सम्भार, सब को लेकर
उम अग्निगृह से आरम्भ कर सम्पूर्ण घर में धूम देवे । परन्तु उस धूम को
ठण्हा भी कर देवे ॥४॥ उक्त सम्भाली हुई वस्तुओं को अर्थात् कुश आदिक
को, काम हो जाने पर, फेंक देवे ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पतइत्येतेन
द्विकेन ॥ ६ ॥ पर्केण द्वावुदकम्भौ मणिक आसिञ्चेत् ॥ ७ ॥
समन्नयायन्तीत्येतयर्च्चा प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ ८ ॥

‘जातशिलासु’ उत्पन्नशिलासु शिलायद्दृढनिर्मितासु इष्टकासु इष्टकनि-
र्मितं येषाम् ‘वास्तोष्पते’ (गे० गा० ७, २, २०, २१),—‘इति’ ‘अनेन द्विकेन’ साम-

द्वयेन 'मणिके' मृगमयं ताम्रादिमयं वा दृष्टत् जलाधारं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥
ततः तस्मिन् 'मणिके' 'पर्कण' पर्कणाममन्त्रेण (गे० गा० १, १, १) 'द्वी' 'उद-
कुम्भी' उदकपूर्णकलशी 'आसिञ्चेत्' ॥ ७ ॥ 'प्रदोषे' रजनी मुखे 'समन्यायन्ति'
(अ० आ० ३, ३, ६) 'इति' 'एतया अथा' 'पायसः चरुः' पक्तयः ॥ ८ ॥

भा०-पटपर की नार्द्धं सुदृढ (मूवमज्जयूत) ईंटों से धनी, वेदी के ऊ-
पर "वास्तोष्पते" (गे० गा०-७, २०-२१) इन दोनों साममन्त्र पढ़ कर जल
का पड़ा रखे ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् उस घड़े में 'पर्कणाम' (गे० गा० १, १, १)
पाठ करते हुए कलशे से जल ढाले ॥ ७ ॥ प्रदोष समय (रात्रि-का आरम्भ)
"समन्यायन्ति" (अ० आ-३, ३, ६), यह मन्त्र पढ़ते हुए 'पायसचरु' पकावे ॥ ८ ॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवाससेति ॥ ९ ॥ स्थालीपाका-
वृतान्यत् ॥ १० ॥ पश्चादग्नेर्वर्हिपि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य
प्रतिक्षत्रइत्येताव्याहृतीर्जपति ॥ ११ ॥

'तस्य' चरीः अंशं गृहीत्वा "प्रथमा हव्युवास सा येन रभसद्यमे । सा नः
पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरार्धं समाम्" ॥१॥ (म० ब्रा० २, २, १)'-इति' मन्त्रेण
'जुहुयात्' ॥९॥ 'अन्यत्' अवशिष्टकार्प्यं जातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकपत्र-
रीत्या एव भवेत्काम ॥१०॥ 'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमे 'वर्हिपि' आरुतकु-
शोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखी 'पाणी' हस्ती 'प्रतिष्ठाप्य' "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठानि
राष्ट्रे ॥२॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठानि गोषु ॥३॥ प्रतिप्राशे प्रतितिष्ठानि पुष्टौ ॥४॥
प्रतपङ्केषु प्रतितिष्ठान्यात्मनि ॥५॥ प्रतिद्याया पृथिव्योः प्रतितिष्ठानि पक्षे ॥६॥
(म० ब्रा० २, २, २-६)-'इति एतादयाहृतीः जपति' ॥११॥

भा०-उस चरु का कुछ अंश ले कर 'प्रथमाहव्युवाससा' यह मन्त्र पढ़
कर एक आहुति देवे ॥ ९ ॥ अपर सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक पत्र की रीति
से होंगे ॥१०॥ अग्नि के पश्चिम भाग में कुश के ऊपर, दोनों हाथ नीचे स्थापन
कर 'प्रतिक्षत्रे' आदि इन तीन व्याहृति मन्त्रों का जप करे ॥ ११ ॥

पश्चादग्नेः सस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणम्
॥१२॥ तस्मिन्नुहृतान्यास्तरणान्यास्तीर्य दक्षिणतो गृहपति
रुपविशति ॥१३॥ अनन्तरा अवरे याथाज्येष्ठम् ॥१४॥

'अग्ने' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः तृणैः' उत्तरायीकृतेः कु-
शादिभिः 'उदक्प्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्थापयता 'सस्तरं' आसनं 'आस्मारयेत्'

आस्तृतं कुर्यात् ॥१२॥ 'तस्मिन्' स्वस्तरे 'अह्मतामि' अखण्डितानि 'आस्तरणानि' तिर्ग्यकप्रक्षेपणीयतृणानि 'आस्तीर्ग्यं' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणार्धां 'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥१३॥ 'अनन्तराः' अध्यवहृता 'अनन्तराः' अध्यवहृताः 'अवरे' गृहपतितः कनिष्ठाः याथाज्येष्ठं ज्येष्ठानुक्रमेण उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्युरिति ॥ १४ ॥

भा०—अनन्तर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराय कुशा आदि से बैठने के लिये आसन बनाने में यद्यवान् होवे, यह स्थान उत्तर दिशा में गहरा होगा ॥ १२ ॥ उस के ऊपर अच्छिन्न (टूटा नहीं) आस्तरण आदि बिछा कर सब से दक्षिण ओर घर का नालिक बैठे ॥ १३ ॥ उन के दायें क्रम से ज्येष्ठानुसार भाई आदि बैठे । अर्थात् उन के दायें ओर प्रथम यह बैठे, तत्पश्चात् छोटे, इसी रीति से और भी बैठें ॥ १४ ॥

अनन्तराश्च भार्याः सजाताः । १५ समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तयेत् । १६ न्यञ्जौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापथिवि नोभवेत्येतामृचं जपति ॥ १७ ॥

'अनन्तराः' तदध्यवहृताः 'भार्या' गृहपतिवध्वादयः 'च' अपि याथाज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेयुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समानजातीयाः असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः । १५ 'समुपविष्टेषु' स्वावरादि-भार्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठानात् 'स्वस्तयेत् स्वस्तिवाचनं कुर्यात् । १६ तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति । 'न्यञ्जौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "मंस्थाप्य स्योनापथिवि नो भवानुत्तरानिवेशनी । यच्चक्षानः शर्म स प्रथमो देवान्मा भयादिति" ॥१॥ (म०ब्रा० २,२,१)—'इति एतां ऋचं जपति' ॥१॥

भा०—एवं उस से पश्चात् अपने घर की भार्या आदि भी उक्त प्रकार बड़े छोटे क्रम से बैठे ॥ १५ ॥ सब के ठीक २ बैठजाने पर, घर का नालिक स्वस्त्ययन आरम्भ करे ॥ १६ ॥ दोनों हाथ नीचे कर 'स्योनापथिवि नो भवा' इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १७ ॥

समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः । १८ एवं त्रिरभ्यात्मानृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् ॥ १९ ॥

'समाप्तायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण 'स्वावरादिभार्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः' इति यावत् 'संविशन्ति' अग्निपरिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति । १८ 'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम्

[प्र०३खं०८सू०१५-२१, खं०१०सू०१-४] आग्रहायणी कर्म अष्टकाविधिश्च ॥ १६१
, अभ्यात्म' स्वोपवेशनस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आयत्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि'
वामदेव्यादीनि सामानि 'प्रयुज्य' गीत्वा "यथान्यायं" पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं
कार्यमिति ॥ १९ ॥

भा०-पाठ समाप्त होने पर सत्र को प्रदक्षिणा कर, अग्नि और परिजन
इन के बीच हो कर अपनी जगह आ बैठे ॥ १८ ॥ इसीप्रकार तीनवार
प्रदक्षिणा कर 'वामदेव्यादि' 'स्वस्त्ययन' सामगान के अन्त में पूर्वोक्त रीति से
क्रिया शेष करे ॥ १९ ॥

अरिष्टसामसंयोगमेके। २०। उपस्पृश्य यथार्थम् ॥ २१ ॥ ३.६

'एके' आचार्यों अत्र 'अरिष्टसामसयोग' अरिष्टनामकसामन्तः। संयोगमपि
आहुः। २० "उपस्पृश्य" अथ आचम्य क्रियासमाप्तिं नत्वा 'यथार्थं' स्वप्रयोज-
नानुगतं विहरेदिति ॥ २१ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके नवन खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ६
भा०-कोई २ आचार्य इस स्वस्त्ययन में अरिष्ट नामक साम को मिलाना
चाहते हैं ॥ २० ॥ क्रिया समाप्त होने पर आचमन कर जहां चाहे, जावे, या
अपने प्रयोजनानुसार कार्य करे ॥ २१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठक के नवन खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ३, ६ ॥

अष्टका रात्रिदेवता। १। पुष्टिकर्म ॥ २ ॥

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्तव्येति
शेषः। १। "पुष्टिकर्म" पुष्टिः पोषणं फलमस्येति। पुष्टिकाम एवास्याधिकारी
तथाचास्य कार्त्तव्यत्वं स्थितम् ॥ २ ॥

भा०-अष्टका नामक एक क्रिया रात्रि में करनी पड़ती है ॥ १ ॥ जिन्हें
पुष्टि की इच्छा हो, वे ही इस यज्ञ को करें ॥ २ ॥

आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्चुदेवता वैश्वदेवीति दे-
वताविचाराः। ३ चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चि-
कीर्षेदिति कौत्सः ॥ ४ ॥

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा 'प्राजापत्या'
प्रजापतिदेवताका, 'अर्चुदेवता' अतव एव देवता यस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेव-
ता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीति शेषः। ३। 'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः'
कार्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः 'चतुरष्टकः' चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः 'इति' मन्यते

५। किञ्च 'ताः सद्योः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः 'चिकीर्षेत' कर्तुमिच्छेत ।

भा०—किन्ती का मत है कि इस कार्य की देवता अग्नि है, कोई कहता कि पितृगण के तोषणार्थ यह यज्ञ किया जाता, कोई २ कहता कि प्रजापति की तुष्टि के लिये इस का अनुष्ठान किया जाता है, कतिपय लोगों का यह मत है कि इस के द्वारा शीतऋतु के उपभोगार्थ प्रकृत रूप से सम्पादित किया जाता है । अनेक लोग कहते हैं कि इसका अनुष्ठान सब देवताओं के प्रीति के लिये है ॥३॥ कौत्स नामक आचार्य अग्रहायण प्रभृति हेमन्त ४—चार महीनों में चार 'अष्टका' करना चाहिये । और ये चार अष्टका मांसद्वारा करे ऐसा मानते हैं ॥ ४ ॥

त्र्यष्टकद्वयैर्द्वुगाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डी ॥५॥

'श्रौद्धाहमानिः' 'तथा' 'गौतम-वार्कखण्डी' इमे आचार्याः, हेमन्तः 'त्र्यष्टकः' तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यन्ते इति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य एवं गौतम और वार्कखण्डी आचार्य ये आचार्यगण—हेमन्त ऋतु में तीन ही *** अष्टका यज्ञ करना मानते हैं ॥५॥

योद्ध्वर्वाग्रहायण्यास्तामिस्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते ॥६॥

'आग्रहायण्याः' पौर्णमास्याः 'ऊर्ध्वम्' उपरि 'या' 'तामिस्राष्टमी' अन्धकारपक्षीया अष्टमी' तिथिः 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका'—'इति' 'आचक्षते' आचार्या इति यावत् । एतेन तत्राष्टम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्तव्यम्, तच्च अपूपैः साध्यमिति फलितम् ॥ ६ ॥

भा०—अग्रहायणमास की पूर्णिमा के पीछे कुन्साष्टमी को आचार्यलोग 'अपूपाष्टक' कहते हैं । अर्थात् उस तिथि में अपूप द्वारा अष्टका करे ॥६॥ *** स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुं श्रपयति ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्तया स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य' संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयात् 'श्रपयति' श्रपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

*—'द्वयदश मासाः पञ्चत्वे हेमन्त शिशिरयोः समासेन ११ ये० मा० १, १, १। इस से 'पांच' ऋतु में एक वर्ष पूरा होता है,—इस मत से हेमन्त और शिशिर दोनों ही ऋतु को हेमन्त कहते हैं और वेद में '६ शतं हिमाः', '१ शतः शनः', इत्यादि अनेक प्रयोग रहनेकी शक्त ऋतु में वर्ष की पूर्ति और हेमन्त में ही वर्षारम्भ जान पड़ता है, अग्रहायण पक्षसे वर्षका पहिला महीना जान पड़ता है, अतएव, अग्रहायण से हेमन्त ऋतु गिनना चाहिये ॥

*** चार महीनों में तीन अष्टका कर्तव्य होने से, सुतरा एक मास छूट जावेगा । कौन महीना छूटेगा, सो स्पष्ट न कहने से जिस २ मास में जिस २ प्रकार अष्टका करनी होगी सो कम से कहा जावेगा, तो जिस मास में कुछ नहीं कहा जावेगा, वही मास छूटेगा ऐसा जानना चाहिये ॥

*** पूषा—का परिचय और उस के द्वारा अष्टका कृत्य किन प्रकार करना होगा, सो सब कम में कहा जावेगा ॥

भा०-इस के पूर्व स्थालीपाक प्रकरण में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार तण्डुल आदि से 'चरु' पाक करे ॥ ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् ॥८॥

'च' अपि 'कपाले' एकस्मिन् सृत्कटाहे 'अष्टौ' 'अपूपान्' पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' भेदनादिना अस्पृशन्नेव श्रपयेत् ॥८॥

भा०-और एक घड़ी नहीं की कराही में, आठ पूआ पकावे । (एक समय में ८ पूआ आवश्यक होनेसे आठ कराही आवश्यक होंगी) पूआको इस भांति बनावे जिस से यह टूटे नहीं ॥ ८ ॥

एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः । ९ । त्रैयम्बकप्रमाणान् १०

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णमितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' 'औद्गाहमानिः' आचार्यः सत्यते इति शेषः ९ त्रैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणानेव अपूपान् श्रपयेत् इत्यस्मात्क मतमिति ।

भा०-उद्गाहमानि नामक आचार्यके मतसे पूए आदि को एक २ कराही में बनावे (अर्थात् आठों को अलग २) और पूआ बनाते समय मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ एक २ पूआ इषेली की बराबर होगा ॥ १० ॥

शृतानभिचार्योद्गुद्वास्य प्रत्यभिचारयेत् ॥११॥

'शृतान्' पक्वान् तान् 'अभिचार्य' घृतेन, 'उद्क्' उत्तरतः अग्नेः, 'उद्गास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिचारयेत्' घृतेनैव तानपूपानिति ॥११॥

भा०-पूआ आदि पक जाने पर घी का ढार दे कर अग्नि की उत्तर में सतार कर पुनः घी का ढार देवे ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाञ्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥१२॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥१३॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपानाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कर्ष्य गृहीत्वा " अष्टकायै स्वाहा " - 'इति' अनेन मन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥१२॥ 'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यं मिति समाप्तापूपपाटका ॥१३॥

भा०-पूर्वोक्त स्थालीपाक के नियमसे उस चरु और पूए आदि से कुछ २ अंश काट कर, इस काटे हुए अंश को "अष्टकायैस्वाहा"-इस मन्त्र से अग्नि

में डाले ॥ १२ ॥ स्थालीपाक प्रकरण में जो २ साधारण नियम पहिले कहे गये हैं, वे सब ही नियम यहां वर्त्तें जावेंगे ॥ १३ ॥

तैष्याऊर्ध्वमष्टम्यां गौः ॥१४॥ तां सन्धिबेलासमीपं पुर-
स्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायां जुहुयाद्यत्पशवः प्रध्यायतेति ॥१५॥

‘तैष्याः’ पीपपीर्णमास्याः ‘ऊर्ध्वम्’ परस्तात् ‘अष्टम्यां’ कृष्णपक्षीयायाम्, ‘गौः’ आलङ्घयेति शेषः ॥ १४ ॥ ‘सन्धिबेलासमीपं’ सूर्योदयकालात् किञ्चित् पूर्वमेव ‘तां’ गौं ‘अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य’ ‘उपस्थितायां’ तस्यां सन्धिबेला-याम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, “यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदये न च । वाचा सहस्रपायया मयि बध्नामि वो मनः” ॥२॥ (म० ब्रा० २, २, ८)–‘इति’ मन्त्रेण तत्रैवाग्नी ‘जुहुयात्’ घृत मिति ॥१५॥

भा०—पीप मास की पूर्णिमा के पीछे अष्टमीतिथि की गोमांसद्वारा मांसाष्टका करे ॥ १४ ॥ सन्धिबेला (रात और दिन का संयोगसमय) के कुछ पहिले अग्निके पूर्वभाग में उस गौको लाकर रखे, पीछे सन्धिबेला होने पर “यत्पशवः प्रध्यायत” इस मन्त्रसे घी की आहुति दे कर कार्यारम्भ करे ॥१५॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥१६॥

‘हुत्वा’ कार्यारम्भद्योतिका माहुतिं पूर्वोक्ताम्, ‘च’ अपि ‘तां’ गाम् “अनु-त्वा माता मन्यता मनुपितानुभ्रातानु सगर्भ्यानुसखा सयूयः” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, २, ९)–‘इति’ मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत’ संक्षपणार्थं निमन्त्रयेदिति ॥१६॥

भा०—कार्य के आरम्भ सूचक पूर्वोक्त आहुति देने पर इससमय यव मिला जल पवित्र, क्षुर, शाखा विशाखा, बर्हिः इध्म, आज्य, दो समिधा, और खुब, ये सब भी अपने पास आवश्यकतानुसार ठीक रखे “अनुत्वा” इस मन्त्र की पाठ करते हुए गौ की मारने के लिये निमन्त्रण देवे ॥ १६ ॥

यवमतीभिरद्भिः प्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति ॥१७॥

‘अष्टकायै’ अष्टकानामदेवतायाः तुष्टयर्थे ‘त्वा’ ‘जुष्टां’ प्रीति-सेवनीयां गाम् ‘प्रोक्षामि’ अहम्—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘यवमतीभिः’ अद्भिः ‘प्रोक्षेत्’ ता मालङ्घयतां गामिति ॥१७॥

भा०—“अष्टका देवता की प्रीतिके लिये प्रीति पूर्वक सेवनीय तुम्हें धोता हूँ”—यह मन्त्र पढ़ते हुए उस बज्र गौ की यव से भीगा जलसे धोवे ॥ १७ ॥

उत्मुकेन परिहरेत् परिवाजपतिः कविरिति ॥१८॥ अपः

पानाय दद्यात् ॥ १९ ॥

“परिवाजपतिः कविः (ख० ब्रा० १, १, १३, १०)”—‘इति’ मन्त्रम्पठन् ‘उत्मुकेन’ प्रव्यलिताग्निना ‘परिहरेत्’ प्रदक्षिणीकुर्यात् तां गा मिति ॥ १८ ॥ तस्यै गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

भा०—“परिवाजपति” (ख० ब्रा० १, १, १३, १०) इस मन्त्र को पढ़ कर, एक मुट्ठी खर जला कर, उस जलते हुए खर से उस गौ की प्रदक्षिणा करे ॥ १८ ॥ उस गौ को एक पात्र में जल पीने की देवे ॥ १९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्जेदात्तदेवेभ्यो हविरिति ॥२०॥

‘पीतशेष’ पानावशिष्टमुदकम् “आत्तं देवेभ्यो हविः ॥१० (न० ब्रा० २, २, १०)” ‘इति’ मन्त्रम्पठन् ‘पशोः’ तस्यैव ‘अधस्तात् अवशिञ्जेत्’ नीचैः सिञ्चनं कुर्यात् ॥२०॥

भा०—पीने से जो पानी बचे, उस में “आत्तं देवेभ्यो हविः” इस मन्त्र को पढ़ कर उस गौ के अधोभाग को सोंचे ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ॥२१॥ प्राक्शिरसमुदक-

पदीं देवदेवत्ये दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये २२, २३॥

‘अथ’ अनन्तरम् ‘एनाम्’ गाम् ‘उदक्’ अग्नेरुत्तरतः ‘उत्सृप्य’ उत्सर्पणेन नीत्वा ‘संज्ञपयन्ति’ हन्युः शासितारं श्रुत्विज इति ॥२२॥ तत्र च—‘देवदेवत्ये’ कार्यं तां ‘प्राक्शिरसम् उदक्पदीं’ किन्तु पितृदेवत्ये कार्यं ‘दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं’ संज्ञपयुरिति ॥ २२, २३ ॥

भा०—अनन्तर मारने के लिये प्रस्तुत (तैयार) श्रुत्विक्कण, उस गौको अग्नि के उत्तर ला कर काट डालें ॥ २१ ॥ यदि देवकार्यं निमित्त गौ मारा जावे, तो पशु का नस्तक पूर्वदिशा में रखे और चारो पैर उत्तर की ओर रखे और यदि पितृकार्य के लिये गो-बध हो, तो पशु का नस्तक दक्षिण दिशा में, और उस के पैर सब पश्चिम ओर रखे ॥ २२ ॥ २३ ॥

संज्ञप्तायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

‘संज्ञप्तायां’ तस्यां “यत्पशुर्मायु मकृतोरीषापह्मिराहृत । अग्निर्मां तस्मादेनसो विश्वामुञ्जत्वर्थहसः” ॥ ११ ॥ (न० ब्रा० २, २, ११)—‘इति’ मन्त्रेण ‘जुहुयात्’ आज्य मिति शेषः ॥ २४ ॥

भा०—उक्त गौ मारे जाने पर “यत्पशु” मन्त्र से आज्य होम करे ॥२४॥

पत्नी चोदकमादाय पशोः सर्वाणि स्त्रोतांसि प्रक्षालयेत् ॥२५॥

‘य’ अपि तदव ‘पत्नी’ यजमानस्य, ‘उदक्म्’ आदाय ‘पशोः’ संज्ञस्य
‘सर्वाणि स्तोत्राणि’ चक्षुरिन्द्रियादीनि ‘प्रक्षालयेत्’ ॥ २५ ॥

भा०-एवं उस समय यजमान की स्त्री जल से, उस कटे हुए शिरवाली
गौ के नेत्र आदि-इन्द्रिय अच्छे प्रकार धोये (गाँधे में नेत्र आदि सात, चार
स्तन, नाभि, कटिदेश, गुह्यदेश, ये १४ स्थान हैं) ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोम माकृत्यवपा मुद्वरन्ति २६

‘अग्रेण नाभिं’ नाभेरग्रतः नाभिसमीपे ‘पवित्रे’ ‘अन्तर्धाय’ ‘अनुलोमं’
यथा स्यात्तथा ‘माकृत्य’ क्षुरेण निम्नाभिगानि कर्त्तनं कृत्वा, ततः ‘वपा’ मे-
दसम् ‘उद्वरन्ति’ उद्वरेयुः ॥ २६ ॥

भा०-नाभि के समीप पवित्रद्वय छिपा कर लोमानुसरण क्रम से क्षुर से
निम्न-गानि घालन से काट कर उस में से वपा निकाले ॥ २६ ॥

तांश्चाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत्
। २७ । प्रश्च्युतितायां विशसथेति ब्रूयात् ॥ २८ ॥

‘शाखाविशाखयोः’ एतन्नामकपात्रयोः ‘काष्ठयोः’ पलाशनिर्मितयोः ऊ-
र्द्धाधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये ‘तां’ वपां ‘अवसज्य’
संस्थाप्य ‘अभ्युक्ष्य’ जलपातैः श्रपयेत् पचेदिति । २७ । ‘प्रश्च्युतितायां’ प्रक्षा-
रितायां तस्यां वपायां ‘विशसथ’ गां विगतचर्मां कुरुष ‘इति’ ब्रूयात् ॥ २८ ॥

भा०-और निकाली हुई वपा को, शाखा, विशाखा नामक पलाश की
लकड़ी का बनाहुआ ढक्कन के आधार पर रख कर, जल से सामान्यरूप से
धोकर, अग्नि से सिद्ध करे ॥ २७ ॥ इधर, उस गौ के नाभि के समीप से काट
कर, मेद निकाल, इस गौ के चनरा निकालने की आज्ञा करे ॥ २८ ॥

यथा न प्राग्गन्धैर्भूमिं शोणितं गच्छेत् । २९ शृता मभि-
चार्योदगुद्धास्य प्रत्यभिचारयेत् । ३० स्थालीपाकावृता वपा
मवदाय स्विष्टकृदावृता वाष्टकाय स्वाहेति जुहोति ॥ ३१ ॥

परं तत्र विशसने सातर्क्यं मिदं मवलम्ब्यम् ;—‘अग्नेः’ ‘प्राक्’ पुरतः भूमिं
‘शोणितं’ ‘यथा न गच्छेत्’ इति । २९ । ‘शृतां’ पक्कां वपाम् ‘अभिचार्य’ पृतेन,
‘उदक्’ अग्नेः उत्तरतः ‘उद्धास्य संस्थाप्य’ ‘प्रत्यभिचारयेत्’ पुनर्पृतेनैवाभिचार-
णं कुर्यात् । ३० । ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां ‘वपाम्’ स्थालीपाकरीत्या स्विष्ट-
कृद्रीत्या वा अवदानेन ‘अवदाय’ कर्त्तयित्वा, कर्त्तितमंगं गृहीत्या “अष्टकायै
स्वाहा”-इति मन्त्रेण तत्र अग्नीं ‘जुहोति’ जुहुयात् ॥ ३१ ॥

[प्र० ३ खं० १० सू० २५-३३, प्र० ४ खं० १ सू० १-३] मांसाष्टकाहोमः ॥ १६१

भा०-परन्तु चमरा छुड़ाते समय, ऐसा न हो कि अग्नि के आगे हो कर रुधिर बहचले ॥ २८ ॥ इस घषा के तैयार होने पर, उस में घी का ढार दे कर, उसे अग्नि के उत्तरभाग में उतार कर रखे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ३० ॥ अनन्तर उस आग में पकी घषा, जो ठंडे के कारण जम जायेगी, उसे 'स्थालीपाक' की रीति से, या स्विष्टकृत् की रीति से चाकू से काट कर, उस में से लेकर "अष्टकायै स्वाहा" इस मन्त्र से होम करे ॥ ३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥३२॥

'अन्यत्' अयशिष्टकार्यज्ञातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्यादिति शेषः । द्विवचनं प्रपाठकसमाप्तिसूचक मिति । ३२॥१० ॥

इतिनाभयेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेऽतृतीयप्रपाठकेऽग्नयणहस्त्वव्याख्यानसमाप्तम् ॥३१॥

अध्यायश्च समाप्तः ॥ ३ ॥

भा०-याकी सब काम 'स्थालीपाक' के नियम से होंगे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के दशम रागहका भाषानुवाद पूरा हुआ और तीसरा प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥ ३ । १० ॥

अनुप्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राची मेकशूलां प्रतीचीमितराम् ॥१॥

'अनु' पश्चात्, वषाहोमानन्तर मिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वपाश्रपण-माधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखा-विशासे 'प्रहरति' परिहरत्, प्रक्षिपेत् । क २ पूर्वोक्तन्यायात् तथैवाप्नो । तत्र च प्रहरणेऽपि नियमः, -'एकशूलां' शाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्राचीं' प्रागग्राम्, 'इतरान्' अपरां विशाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्रतीचीं' प्रत्यगग्राम्; प्रहरेदिति योज्यम् ॥ १ ॥

भा०-वषा पाककर्म समाप्त होने पर उन दोनों "वपाश्रपणी" की उनी अग्नि में इस प्रकार डाल देवे कि एकशूला पूर्वाया हो एवं श्रपर पश्चिमाया हो ॥१॥

अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्योऽन्यत्र वामाच्च सक्थुः क्लोमश्च ॥ २ ॥ वामाच्च सक्थ्यन्वष्टवयाय निदध्यात् ॥३॥

'वामात्' सक्थुः, 'क्लोमः' च, अन्यत्र, वामासक्थि क्लोम च वर्जयित्वा

* चर्चात् ऊपर नीचे भाव से छोटा फलाम काठ निर्मित, वषा पाक की सिद्धि के लिये दी पात्र । एका म वषा रग कर मिश्र की जाती और उस के ऊपर ढाफ रहता है, उस में से ऊपर काले पात्र को "शाम्पा," और "एकशूला," भी कहते हैं । इस में वषा रचित होता है और उस के ऊपर टाकने के लिये नीचे मुड़ रखें पात्र को "विशाला," कहते हैं ॥

** यह उस अग्नि में डाला जाता, इस वा-यु इस वपाश्रपणी, कहते हैं ॥

अन्येभ्यः 'सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' क्षुरेण खण्डयणहीवु-
र्वन्ति ॥ २ ॥ तदखण्डितं 'वामं सकृथि' अन्यएकया अनुपदवदयमाणायकर्मणे
निदध्यात् संस्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०—वाम सकृथि (करु) और क्लोम (पित्तकोप) छोड़ कर, मय अङ्गों
से खण्ड २ करके मांस ग्रहण करे ॥ २ ॥ वाम सकृथि समस्त ही 'अन्यएका'
कार्य में व्यवहार के लिये रक्खे ॥ ३ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ अपयत्योदनचरुञ्चमाथ्सचरुञ्चपृथङ्मे-
क्षणाभ्यां प्रदक्षिण मुदायुवन् । ४ । शृतावभिचार्योदगुद्वास्य
प्रत्यभिधारयेत् ॥ ५ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरु' मांसचरु' उभावेव चरु
'पृथङ्मेक्षणाभ्यां' पृथक्पृथक्स्थापिताभ्यां 'मेक्षणाभ्यां' 'प्रदक्षिणं' दक्षिणावर्त्तन
मेक्षणचालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्ध्ववर्त्तनीपन्निश्रयन् 'अपयति' अप-
येत् पषेदिति ॥ ४ ॥ 'शृती' ती चरु 'अभिचार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः
'उद्वास्य' 'प्रत्यभिधारयेत्' घृतेनैव ॥ ५ ॥

भा०—उसी एक अग्नि में 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' ये दोनों चरु पंकावे,
परन्तु दोनों चरु में भिन्न २ चलीने (मेक्षण) से चलावे, एक ही से नहीं ॥
॥ ४ ॥ इन दोनों चरुओं के अच्छे प्रकार पकजाने पर, घी का ढार दे अग्नि
के ऊपर भाग में उतार-लेवे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ५ ॥

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानि कृत्वा
स्थालोपाकावृतावदानानां कथंसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक् ६

मांसचरुस्थालीतः निचोदय 'रसं' मांसयूपं 'कंसे' कांस्यपात्रे 'अवासिच्य'
पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तर-
निर्मितकुड्ये 'अवदानानि' यूपहीनमांसखण्डानि 'कृत्या' स्थापयित्वा 'च' अपि
'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृत्यागार्थं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापितयूपाधारातिरिक्तकांस्यपात्रे
'स्थालोपाकरीत्या' 'अवदानानां' मांसानां किञ्चिदंशम् 'अवद्यति' सङ्कुरयं गृह्णाति ॥ ६ ॥

भा०—मांस के यूप की, एक कांसे के वर्त्तन में ढार रक्खे मांस आदिक
की एक पत्थर की कुण्डी में रक्खे और पुनः उस मांस में से थोड़ा स्थालीपाक के
नियम से काट लेवे, एवं उसे स्विष्टकृत यागार्थ दूसरे कांस्यपात्र में रख छोड़े ॥ ६ ॥

चरोरुद्धृत्य विल्वमात्रं भवदानैः सह यूपेण सन्नयेत् ॥७॥

श्रोदनचरुस्थालीतः 'विल्वमात्रं' विल्वप्रमाणां 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अ-
वदानैः' हस्तशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः मांसखण्डैः 'सह' 'यूपेण' कांस्यपा-
त्रस्थेन मांसरसेन 'सन्नयेत्' एकीकुर्यात् तत्रैव यूपपात्रे यूपमध्ये एव स्थापयेदिति॥

भा०—श्रोदन की हांडी से बेल की बराबर चरु ले कर (उम पत्थर की
कुण्डी में रक्खा) मांस खण्ड के साथ (उम कांसेके पात्र में रखे हुए) यूप
को मिलावे । अर्थात् उम यूप के पात्र में यूप के बीच रखे ॥ ७ ॥

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नाव-
ग्निरिति ॥ ८ ॥

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चप्रथमया' अष्टानां सृषां
समाहारोऽष्टर्चम् (न० ब्रा० २, १२-१८), तत्र या प्रथमा ऋक् तया "अग्नाव-
ग्निरति प्रविष्ट अग्नीणां पुत्रो अधिराज एयः । स नः स्योनः हुयजा यजा
च यथा देवानां जनिमानि वेद" ॥ १२ ॥ (न० ब्रा० २, २, १२)—'इति' 'अनया
जुहुयात्' गृहीतं तत् ॥ ८ ॥

भा०—पूर्वोक्त रीति से चार चार ग्रहण किया हुआ आज्य ले कर 'अग्ना-
यग्निः' आदि आठ मन्त्रों में से "अग्नावग्निः" मन्त्र पढ़ कर हवन करे ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्रं भवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोतु-
त्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येव मेवावरेचतुर्थोपञ्चमीभ्यां
पष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेष भवदायसौविष्टकृतमष्टम्यां जुहुयात् ॥९॥

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात्) यूपपात्रे नीतात् विल्वप्रमाणात् श्रोदनचरोः
'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'भवदाय' कर्त्तृपित्वा 'द्वितीयातृतीयाभ्याम्'
"अलूबलाः सम्प्रदन्ति प्रावाणो हविष्कृयवन्तः परिवत्सरीणाम् । एकाष्टके हुप्र-
जसः सुवीरा न्योग् जीवेम बलिहृती वयं ते ॥ १३ ॥ इडायास्पदं घृतवत्सरी-
सृषं जातवेदः प्रतिहव्या शुभाय । ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेपाथं सप्तानां
मयि रन्ति रस्तु" (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (न० ब्रा० २, २, १३-१४)—इत्येताभ्यां
सृग्भ्यां 'जुहोति' जुहुयात् । तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् "इडायास्पदम्"
इत्येतस्याम् एव अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुज्यात् । 'अवरे' अपरे
द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थोपञ्चमीभ्याम्' "एयैव सा या पूर्वो व्योच्छत् से यमस्व-
न्तश्चरति प्रविष्टा । वमूजिंशाय प्रथमा जनित्री विश्वे ह्यस्यां महिमानो अन्तः

॥ १५ ॥ एषैव सा या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरमद्विश्वरूपा । सम्बत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली” (स्वाहा) ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, २, १५-१६) इत्येताभ्याम् अग्न्यां पृथ्वीमसमीभ्यां “ यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रौ धेनु निवायतीम् । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा सुतराश्चंसाम् ॥ १७ ॥ सम्बत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रिं यजामहे । प्रजा मज्यां नः कुर्व रायस्पोषेण सश्चंसृज ” (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, २, १७-१८) इत्येताभ्यां जुहुयादिति । ‘सौ-विष्टकृतम्’ स्विष्टकृदर्थं ‘शपम्’ इत्येताभ्यां सृग्भ्यां ‘च’ एव मेव ” उत्तरस्यां स्वाहाकार ”—इत्येतच्चिमेनैव स्थालीपाकरीत्यायद्गृहीतम्, तत् ‘अवदाय’ गृहीत्वा अष्टम्या, “ अन्विषको अनुमति र्घ्नं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्य-वाहनः स नोऽदाहाद्वाशुपे मयः १९ । (म० ब्रा० २, २, १९) इत्यनयर्चा ‘जुहुयात्’ ९

भा०—पूर्वोक्त बिल्व की यरावर जो ओदनघृत मांस के साथ मिलाकर चूप में रखागया है, उस में से एक तिहाई लेकर द्वितीय और तृतीय मन्त्र से एक आहुति देवे, उस के तृतीय आहुति के अन्तमें ‘स्वाहा’ शब्दका प्रयोग करे । अपर दो तिहाई भी चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र से, एवं छठा और सातवां मन्त्र से, इसी नियम से अर्थात् शेष मन्त्र के अन्त में ‘स्वाहा’ जोड़कर यथा-क्रम दो आहुति देवे । सब के अन्त में अष्टम मन्त्र पढ़कर स्विष्टकृत यागके लिये पूर्वगृहीत (अलग कांसेके पात्रमें रक्खा) मांसपण्ड आदि होम करे ॥९॥

यद्यवा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीता-
पिवा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोघ्रास माहरेदपि वार-
ण्ये कक्ष मुपाधाय ब्रूयादेपा मेऽष्टकेति—न त्वेव न कुर्वीत
न त्वेव न कुर्वीत । १० ॥ १ ॥

‘यदि’ ‘उ’ अपि ‘वै’ निश्चयेन ‘अल्पसम्भारतमः’ अत्याहपायोक्तनः पुरुषः स्यात्, ‘अपि’ तथापि ‘पशुना’ सप्तानां ग्राम्पाशां पशूना मन्यतमेन येन के-नापि ‘कुर्वीत’ ‘एव’ सम्पादयतीति एतामष्टकां । ‘अपि वा पशुभावेऽपि ‘स्थालीपाकं’ ‘कुर्वीत’ एव । अपि वा’ स्थालीपाककरणसामर्थ्याभावेऽपि ‘गो-घ्रासम् आहरेत्’—एतेनापि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । अपि वा ‘अरण्ये’ ‘कक्षम् उपाधाय’ कक्षं दर्शयित्वा, कक्षं बाहुभूतं पति यावत्, एपा न अष्टका’—इति ‘ब्रूयात्’ एतेन पि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । ‘तु’ प्रत्युत गोपश्वलाभे मांसा-ष्टकां ‘न कुर्वीत’—इति ‘न एव’ । द्विर्यजनं प्रपाठकमग्निसिद्धोत्तकमिति समाप्ता मांसाष्टका । १० ॥ १ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रेणतुयंप्रपाठकेप्रथमपण्डस्पष्टपारत्याननमाप्तम् ॥१॥

भा०—यद्यपि विशेष सामग्री न कर सके, तथापि पशुद्वारा ही मांसाष्टका करे। यदि पशुद्वारा न कर सके तो स्थालीपाक द्वारा करे। दोनों के अभाव में गौकों 'प्रास देने से भी हो सकता है। उस के करने का भी सामर्थ्य न हो, तो घन में जाकर दोनों बाहू उठा कर कहे कि—'यही हमारा मांसाष्टका है' परन्तु 'मांसाष्टका' न करे ऐसा किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठके प्रथमखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।१।



**श्वस्ततोन्वष्टक्य मपरश्वो वा । १ । दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे
परिवारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् ॥ २ ॥**

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम् । 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः', तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥१॥ स्वायासभूमौ 'दक्षिणपूर्वे' दक्षिण-पूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोणे, 'अष्टमदेशे' स्वायासस्थानाष्टमे भागे, 'तथा-यतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम्, 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारा-दिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्तं कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥२॥

भा०—अष्टका कार्य के दूसरे दिन, या उस के तीसरे दिन, 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥ रहने के घर से अग्रिकोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण-पूर्वदिशा में विस्तृत, इस अग्रिकोणाभिमुख स्थापित ब्रह्मादि द्वारा कार्य सिद्ध करने के लिये रुकावट न हो, इस प्रकार उत्तम एक मण्डप बनावे ॥२॥

**चतुरवराहर्ध्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परि
वृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति ॥३॥**

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवराहर्ध्यान्' अपराद्धे विदितान् 'चतुःप्रक्रमान्' अन्पूनान् द्वादशपदभूमिं विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमन-सार्गः भवेत्, 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणं' पूर्वार्कं 'कृत्वा' 'अग्निं प्रणयन्ति' ॥३॥

भा०—उस मण्डप में ऊपर की ओर कमसे कम १२ बारह पग भूमि छोड़ कर, तत्पश्चात् जाने आने का रास्ता छोड़, नीचे के आधे भाग में 'लक्षण' कर उसमें अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

**पश्चादग्नेरुलूखलं दृश्यं हयित्वा सकृत्संगृहीतं ब्रीहिमुष्टि
मवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ॥४॥**

‘अग्नेः पश्चात्’ उलूखलं दृढयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र ‘सकृत्’ एकवारैव ‘संगृहीतं’ ब्रीहिमुष्टिम् कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्येत ‘सव्योत्तराभ्याम्’ उभाभ्यामेव ‘पाणिभ्यां’ मुसलं ग्रहीत्वा ‘अवहन्ति’ अवहन्यात् ॥४॥

भा०—अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल स्थापन कर, उस में एकही बार कईएक मुट्ठी धान्य लेकर, दोनों हाथ से मूसल पकड़ धान्य कूटे ॥४॥

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥५॥

तेनावघातेन ‘यदा’ ते धान्यसंचाताः ‘वितुषाः’ विगततुषाः ‘स्युः’ तदा ‘सकृदेव’ एकवारैव तान् अवहतधान्यसमूहान् ‘सुफलीकृतान्’ शूर्पादिना तुषान् पृथक्कृत्य तण्डुलरूपान् ‘कुर्वीत’ ॥५॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूसी न रहे, तब उसे सूपसे फटक कर, उस भूसी आदिको ‘उड़ादेवे’ (यों तण्डुल तैयार करे) ॥५॥

अथामुष्माच्च सक्थनो मांसपेशीमवकृत्य नवायाथ्सून्यामणुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिधाराः पिण्डा भविष्यन्तीति ॥६॥

‘अथ’ अपरत्र ‘च’ ‘अमुष्मात्’ अष्टकायै हतायाः गोः ‘सक्थः’ रक्षितवाससक्थिभागात् ‘मांसपेशीम्’ ‘अवकृत्य’ कर्त्तनेन ग्रहीत्वा ‘नवायां’ ‘सून्यां’ व्यञ्जनकर्त्तव्यां तथा ‘अणुशः’ छेदयेत् ‘यथा’ कर्त्तिताः ते ‘मांसाभिधाराः’ घृतनिश्रिताः सन्तः ‘पिण्डाः’ पिण्डाकाराः भवेयुर्नाम ॥ ६ ॥

भा०—इधर, उस पूर्व-रक्षित घाम-ऊरु से मांस-पेशी आदि काट कर नये बर्तन में खण्ड २ कर काटे, इस प्रकार खण्ड २ करे, जिस में घी के ढार देते वह पिण्डाकार बन जाये ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ अपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ् मेक्षणाभ्यां प्रसव्य मुदायुवन् ॥ ७ ॥

‘तस्मिन्नेव’ एकस्मिन् ‘अग्नौ’ ‘ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च’ उभावेव च ‘पृथङ्’ मेक्षणाभ्यां ‘पृथक् पृथक्’ स्थापिताभ्यां ‘मेक्षणाभ्याम्’ ‘प्रसव्यं’ धानायर्त्तन मेक्षण-चालनं यथा स्यात् तथा ‘उदायुवन्’ ऊर्ध्व्यनीपन्मिश्रयन् ‘अपयेत्’ पचेदिति ॥७॥

भा०—एक ही अग्नि पर ‘ओदनचरु’ और ‘मांसचरु’ को भिन्न २ रक्तेहूए मेक्षणद्वारा घाँड़े और से चलाये और ऊपर को चलीना से उठा २ कर धर देसता हुआ पकाये ॥ ७ ॥

शूतावभिचार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिचारयेत् ॥ ८ ॥

‘शूता’ तौ चरु ‘अभिचार्य’ घृतेन, ‘दक्षिणा’ अग्नेर्दक्षिणतः ‘उद्वास्य’ सं-
स्थाप्य ‘न प्रत्यभिचारयेत्’ अष्टकाया मिवात्र प्रत्यभिचारणं न कुर्वीतेति ॥८॥

भा०—इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने पर, घी का ढार दे, अग्नि
के दक्षिणभाग में उतारे, परन्तु उस में पूर्ववत् पुनः घी का ढार न देवे ॥ ८ ॥

दक्षिणाद्धं परिवृतस्य तिस्रः कर्पूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः-
प्रादेशयामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

‘परिवृतस्य’ तस्य मण्डपस्य ‘दक्षिणाद्धं’ दक्षिणेश्चे ‘तिस्रः कर्पूः’ त्रीन्
गत्तान् ‘खानयेत्’; तत्र कर्पयः ‘पूर्वोपक्रमाः’ पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः, ‘प्रादे-
शयामाः’ प्रादेशपरिमितदीर्घाः, ‘चतुरङ्गुलप्रशस्ताः’, ‘तथा अवखाताः’ चतुर-
ङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति ॥ ९ ॥

भा०—उस मण्डप के दक्षिण भागमें तीन गड़ा खुदवावे। इन गड़ों की लम्बाई
प्रादेशमात्र, चौड़ाई ४ अंगुल, चार ही ‘अंगुल’ गहराई भी होगी ॥ ९ ॥

पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्त्यप-
रेण कर्पूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् । १०, ११ ॥

‘पूर्वस्याः कर्ष्वाः’ प्रथमस्य गत्तस्य ‘पुरस्तात्’ ‘लक्षणं’ पूर्वोक्तरूपं ‘कृत्या’
तत्र ‘अग्निं’ ‘प्रणयन्ति’ प्रणमेयुरिति । किञ्च, ‘अपरेण कर्पूः’ कर्पूणाम् अप-
रपार्श्वेऽदूरे एव अग्निं ‘पर्याहृत्य’ परित आहृत्य ‘लक्षणे’ पूर्वोक्ते ‘निध्यात्’
स्थापयेत् । १०, ११ ॥

भा०—पहिला गड़हे के सामने लक्षण पूयंक अग्नि प्रणयन करे और इन दो
‘लक्षणों’ से अग्नि लावे, और उसे गड़हों के निकट दूसरे ढगल में रखे ॥१०, ११॥
सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिं स्तृणोति कर्पूश्च पूर्वोपक्रमाः ॥ १२, १३ ॥

‘आच्छिन्नं’ द्वैपच्छिन्नं किञ्चिन्मूलच्छिन्नं ‘दर्भमुष्टिम्’ ‘सकृत्’ एकवारं
‘स्तृणोति’ स्तृणुयात्, अग्नेश्चर्दितुः । ‘च’ अपि ‘पूर्वोपक्रमाः’ कर्पूः स्तृणुयादेव ॥१२॥ १३॥

भा०—कुछ जड़ काटी हुई कुग मुट्टी एक ही बार में अग्नि के चारों ओर
बिछादेवे और पूयादि क्रमसे उस गड़हे में भी वही कुगमुट्टी बिछावे ॥१२, ॥१३॥

पश्चात् कर्पूणां स्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्नेः कुशैर्द-
क्षिणाप्रवणम् । १४ वृषीञ्चोपदध्यात्तत्र ॥ १५ ॥

‘कर्पूणां’ गत्तानां ‘पश्चात्’ ‘दक्षिणाग्नेः कुशैः’ ‘दक्षिणाप्रवणम्’ ‘स्वस्तरम्’

‘आस्तारयेत्’ । १४ ‘तत्र’ कर्पूणां पद्यादेव ‘वृषीं’ काष्ठासनं ‘घ’ ‘उपदध्यात्’
स्थापयेदिति ॥ १५ ॥

भा०-इन तीनों गड़हेके पश्चिम भागमें दक्षिणाय कई एक कुण्ड से दक्षिणा
प्रयत्नस्वरूप स्वस्तरातरण करे १४ । उसी स्थान में पटा भी रखे ॥ १५ ॥

अस्माआहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ
मेक्षणे कथं संदर्बो मुदक मिति ॥ १६ ॥

‘अस्मै’ अस्स यजमानस्य ‘सव्यं बाहुम्’ अनु लक्ष्मीकृत्य वामभागे इति या-
वत् ‘चरुस्थाल्यौ’ मांसीदनयोः ‘मेक्षणे’ अन्नाद्यावत्तनसाधने ‘कंसम्’ अन्नद्या-
धारभूतं कांस्यपात्रम् ‘दर्बोम्’ परिवेशनसाधनम् ‘उदकम्’ च ‘एकैकशः’ क्रमात्
‘आहरन्ति’ आहृत्य स्थापयेयुः ॥ १६ ॥

भा०-इस यजमान को बाईं ओर मांस और चरुकी दो हांडी एवं दोनों
के बलौना और जल ले रखे ॥ १६ ॥

पत्नी बर्हिपि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि तस्याञ्ज-
वाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भपिञ्जलीरञ्जति सव्यन्तरास्तैलञ्जो-
पकल्पयेत् क्षौमदशाञ्ज ॥ १७-२० ॥

‘पत्नी’ यजमानस्य, ‘बर्हिपि’ कुशोपरि ‘शिलां’ पेयशाधारभूतां ‘निधाय’
संस्थाप्य, तत्र ‘स्थगरं’ चन्दनादिकं गन्धद्रव्यं ‘पिनष्टि’ पेयसं कुर्यात् । किञ्च
‘तस्याम्’ एव शिलायाम् ‘अञ्जनं’ सौवीरं ‘निघृष्य’ घर्षयित्वा तेन ‘तिस्रः दर्भ-
पिञ्जलीः’ ‘स-व्यन्तराः’ व्यन्तरः पुनः पुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा ‘अञ्जति’
अञ्जेत् । ‘घ’ अपि ‘तैलम्’ ‘उपकल्पयेत्’ करतलमर्हनादिना पेयणेनैव वा तिला-
नाम् । ‘क्षौमदशां’ क्षुमनिर्मित वसनस्य ‘दशां’ प्रान्तस्थितदशासूत्रम् ‘घ’ अपि
‘उपकल्पयेत्’ क्षौमवसनप्रान्ततो निष्कास्य रसेत् । १७-२० ॥

भा०-यजमान की स्त्री ब्रिह्माण्ड हुए कुण्ड के ऊपर शिला (पत्थर) रखे,
उस पर चन्दनादि पीसे । एवं उस में ‘अञ्जन’ घिस कर, उस अञ्जन से तीन
दर्भपिंजली छोड़ी २ दूर पर रंगे । उसी शिला पर तेल भी सम्पादन करे एवं
रेवनी कपड़े के किनारे से सूत निकाल कर रखे ॥ १७, १८, १९, २० ॥

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्मुखानुपवेश्य
दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वा-
ऽस्मावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयाथश्च त्वमनु तस्मै
ते स्वधेति ॥ २१ ॥

‘शुची देशे’ पवित्रे स्थाने (कर्पूणां ‘दक्षिणत एव, यथा च तेयामग्रत एव कर्पूपिषडाः स्युः) ‘अनिन्द्यान्’ पाङ्क्त्यान् ‘अयुग्मान्’ त्रीन् ‘ब्राह्मणान्’ ‘उदङ्मुखान्’ ‘उपवेश्य’ तेभ्यो ‘दर्भान्’ आसनार्थं ‘प्रदाय’ ‘पितुः’ स्वस्य ‘नाम’ ‘गृहीत्वा’ “असावेतत्ते”—इत्यादिकमन्त्रेण ‘उदकपूर्वे’ उदकदानपूर्वम्, ‘तिलोदकम्’ तिलैर्मिश्रित मुदकं ‘ददाति’ दद्यात् ॥ २१ ॥

भा०—उन गड़हे के दक्षिणभाग में कुशासन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुंह धिठला कर अपने पिता का नाम धर, उन में से एक ब्राह्मणके हाथ में कुछ जल देकर, तत्पश्चात् “असावेतत्ते”—इत्यादि मन्त्र पढ़ कर तिल निला जलदान देवे ॥ २१ ॥

अथ उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ २२ ॥

‘इतरयोः’ स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिव्राह्मणयोः अपि ‘एव मेव’ उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् ‘अथ उपस्पृश्य’ जलस्पर्शनं कृत्वा । एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त ननु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जलस्पर्शनं हस्तधीतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त ननु तिलोदकदानञ्च प्रकृत्य ततः पुनरपि जलस्पर्शं प्रकृत्य तृतीयब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त ननु तिलोदकदानञ्च कुर्यादिति ॥ २२ ॥

भा०—पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को भी इसी प्रकार जल दे कर तिल जल दान करे । परन्तु एक को देने पर, दूसरे को देने के पहिले, हाथ धो लिया करे ॥ २२ ॥

तथा गन्धान् ॥ २३ ॥ अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रणं होप्यतः ॥ २४ ॥

‘गन्धान्’ अपि तेभ्यः ‘तथा’ एव दद्यात् । २३ । ‘होप्यतः’ होमं करिष्यती यजमानस्य “अग्नौ करिष्यामि” इति उक्त्या ‘आमन्त्रणं’ कर्तव्यमिति ॥ २४ ॥

भा०—गन्धादि भी उसी प्रकार उनको देवे ॥ २३ ॥ होम करने के पहिले यजमान उन तीनों ब्राह्मणों को पूछे, कि—अग्निमें पितृगण की अर्चना कहां ? ॥ २४ ॥

कुर्वित्युक्ते कथंसे चरु समवक्षाय मैक्षणेनीपघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वांश्च स्वाहाग्नये कव्यवाहनायेत्युत्तराम् । २५ ॥ २ ॥

ते आमन्त्रितब्राह्मणैः “कुर्व” — ‘इति’ ‘उक्ते’ होमकरणे प्रवृत्तो यजमान,

‘कांसे’ कांस्यपात्रे ‘चरु’ ओदनयुक्तं मांसचरुञ्च ‘समवदाय’ एकीकृत्य ‘भेक्षणेन’ तदीयं किञ्चिद् गृहीत्वा ‘उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात् । तत्र ‘पूर्वाम्’ आहुतिं “स्वाहा सोमाय पितृभते”—इति, ‘उत्तराम्’ आहुतिं “स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय”—इति । २५ ॥ २ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ४२

भा०—ये तीनों ब्राह्मण (जिनसे पूछा गया) एक वाक्य से ‘करो’ ऐसा कहें । इस पर यजमान कांसे के घर्त्तन में मांसचरु, और ओदनचरु, दोनों चरु एकत्र ले कर उस में से थोड़ासा भेक्षण द्वारा लेकर उपघात होम * करे । उन में से “स्वाहा सोमाय पितृभते” इस मन्त्र से प्रथम आहुति देवे, और “स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय” इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥ २५. २ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके द्वितीय खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।२



अत ऊर्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम् ॥ १ ॥

‘अतः ऊर्ध्वम्’ इत आरभ्य अन्वष्टक्यसमाप्तिं यावत् । ‘प्राचीनावीतिना’ दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, ‘वाग्यतेन’ नियतवाग् भूत्वा ‘कृत्यम्’ एतदन्वष्टक्यं नाम कार्यं मिति ॥ १ ॥

भा०—इसके पश्चात् ‘अन्वष्टका’ कार्य की समाप्ति पर्यन्त जो २ क्रिया करनी पड़ेगी, उस में ‘प्राचीनावीति’ (प्र० १ ख० १ सू० ३, ४) होकर करे और उस समय प्रयोजन से अधिक वाक्य व्यवहार न करे ॥ १ ॥

सव्येन पाणिना दर्भपिञ्जलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखा मुल्लिखेदपहता असुरा इति ॥ २ ॥

‘सव्येन’ वामेन ‘पाणिना’ ‘दर्भपिञ्जली’ स्वस्तरात् ‘गृहीत्वा’ दक्षिणे पाणी “अपहता असुरा रक्षांश्चि वेदिपदः” ॥३५॥ (म०. ब्रा० २, ३, ३) —इति मन्त्रेण ‘दक्षिणाग्रां लेखाम्’ तथैव पिञ्जल्या ‘उल्लिखेत्’ तासु कर्पूष्विति ॥ २ ॥

भा०—वायें हाथ में ‘स्वस्तर’ से एक ‘दर्भ पिञ्जली’ लेकर दहिने हाथ में लेते हुए, उस के द्वारा “अपहता असुरा” इस मन्त्र से उन तीन कर्पू से क्रम से दक्षिण मुंह रेखापात करे ॥ २ ॥

सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणार्द्धे कर्पूणां नि-

दध्याद्ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ॥ ३ ॥

‘सव्येन एव पाणिना’ ‘उत्सुकं ज्वलदग्निं’ ‘गृहीत्वा’ आनीय दक्षिणे पाणौ ‘कर्पूणां’ तासां मध्ये ‘दक्षिणाहुँ’ (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) “ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः मन्तः स्वधया चरन्ति । परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निं णाल्लोकात् प्रशुदत्त्वस्मात्” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ४)—इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्थ सुत्सुकं ‘निदध्यात्’ स्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०:—वास हाथ में जलती आग लेकर दहिने हाथ में रख, उस कर्पू आदि के मध्य में रेखा पात के अगले भाग में “ये रूपाणि” यह मन्त्र पढ़ कर स्थापन करे ॥ ३ ॥

अथ पितृनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति ॥ ४ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् । तत्रैव “एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पू-
र्यैशेभिः । दत्तात्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्वदीरं नियच्छत” ॥५॥ (म०
ग० २, ३, ५) —‘इति’ ‘पितृन्’ पितृपितामहप्रपितामहान् यथाक्रमेण ‘आवा-
हयति’ आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

भा०:—अनन्तर, उन्हीं तीन कर्पू से एक ही समय पिता, पितामह, और
प्रपितामह, इनतीन व्यक्तियोंको “एत पितरः” मन्त्र पाठानुसार आवाहन करे।४

अथोदपात्रान् कर्पूषु निदध्यात् ॥ ५ ॥

‘अथ’ आवाहनानन्तरम्, ‘कर्पूषु’ ‘उदपात्रान्’ त्रीन् एकैकक्रमेण ‘निद-
ध्यात्’ स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

भा०:—इस के अनन्तर, उन कर्पू आदि में एक २ जलपात्र रखे ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनीदपात्रं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां
द्रर्मेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिक्ष्व ये चात्र
त्वा मनु याथश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥६॥

‘सव्येन एव पाणिना’ ‘उदपात्रं’ इतः पूर्वमेव स्थापित उदकपात्रं ‘गृही-
त्वा’ तदुदकपात्रस्थं जलम् ‘अवसलवि’ दक्षिणहस्तगृह्णाद्गुप्तमूलेन पितृतीर्थेन
‘पितुर्नाम गृहीत्वा’ स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं “असाववनेनिक्ष्व” —इति मन्त्र
पठन् ‘पूर्वस्यां कर्ष्वां’ पातिता ये दर्भाः, तेषु ‘द्रर्मेषु’ ‘निनयेत्’ आहूतं पि-
तरं प्रापयेदिति ॥ ६ ॥

भा०:—बायें हाथसे कर्पू के पास रखे हुए जलपात्रको लेकर दहिने हाथ

के अंगुठे की जड़ से जल ढार कर, उस जल को पिता का नाम लेकर "असौ अवने निधव"-इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहिले से रखे हुए कर्पू के ऊपर दर्भ में आहूत अपने पिता को-प्राप्त करावे; इसी को 'निनयन' कहते हैं ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ७ ॥

'इतरयोः' पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् 'एवमेव' कार्यम् अपरयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति । तत्र च प्रतिवारम् अप उपस्पृशनं कर्त्तव्यमिति ॥१॥

भा०:-पितामह और प्रपितामह के उद्देश से भी इसी प्रकार 'निनयन' करे; परन्तु प्रतिवार जल स्पर्श करे। अर्थात् पितृ निनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह 'निनयन' करे, फिर हाथ धोकर, प्रपितामह के लिये निनयन करे ॥१॥

सव्येनैव पाणिनादर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्र भवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेप ते पिण्डो ये चात्र त्वा मनु याथंश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ८ । ९ ॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृष्वेव कर्पूषु पिण्डदानञ्च कार्यं मिति कलितार्थः । अत्र मन्त्रे "असावेप ते पिण्डः"-इत्येव विशेषः । पूर्वस्थापितां 'दर्वीम्' । 'सन्नीतात्' पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुर्मांसचरुश्च सन्नीतः, तस्मात् । 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांश मिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

भा०-पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु, दर्वी द्वारा काटकर तीन भाग करे और एक २ कर क्रम से (धीरे २ में हाथ धोले) कुश के ऊपर अपने पिता का नाम ले कर "असावेप ते पिण्डः"-इस मन्त्र से यथाक्रम तीन पिण्ड दान करे ॥ ८ ॥ ९ ॥

यदि नामानि न विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीपदुभ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात् स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसदुभ्य इति द्वितीयं स्वधा पितृभ्यो दिविपदुभ्य इति तृतीयम् ॥१०॥

'यदि' 'नामानि' पित्रादीनाम्, 'न विद्यात्' ? तर्हि 'प्रथमं पिण्डं' "स्वधा०"-इति मन्त्रेण 'निदध्यात्' तत्र कर्षूंगध्ये पूर्ववदित्येयः- 'द्वितीयं' पिण्डं "स्वधा०"-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येयः- 'तृतीयं' पिण्डं "स्वधा०"-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येय ॥१०॥

भा०-यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो, पहिला पिण्ड पृथिवी स्थायी

पितृगण के लिये, द्वितीय पिण्ड अन्तरिक्ष स्थायी पितृगण के निमित्त एवं तृतीय पिण्ड द्युनोकस्थ पितृगण के निमित्त, उन्हीं कर्पूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार स्थापित करे ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्वमित्यपर्यावृत्त्य ॥ ११ ॥ पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिपतेति ॥ १२ ॥

पिण्डान् ग्रीनेव तिसृषु कर्पूषु यथोपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्त्य' पर्यावर्त्तनं वर्त्तयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ६) 'इति' मन्त्रं 'जपति' जपेदिति ॥ ११ ॥ 'उच्छ्वासात्' नामिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्तमानः' तिस्रः कर्पूः अभिव्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुलम्फेनेति भाव) 'आवर्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः "अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिपतेति" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ७) 'इति' इमं मन्त्रं जपेत् अभिपर्यावर्त्तनञ्चैतद्वासत एव पैत्रे सद्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥ १२ ॥

भा०—उन्हीं तीन गड़हों में पूर्वोक्त रीति से स्थापन करने के पीछे यजमान एक स्थान में बैठ कर "अत्र पितरः" यह मन्त्र पढ़े ॥ ११ ॥ एक निःश्वास के काल की बराबर वाईं ओर से गड़हे आदि की परिक्रमा कर आवे और उसी समय "अमी मदन्त" मन्त्र का पाठ करे ॥ १२ ॥

सद्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्त आञ्जनं ये चात्र त्वा मनु याथंश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ १३ । १४ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्, तथैव 'दर्भपिञ्जली' पत्रया सीवी-राञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमनोग्ग उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति । तदत्र मन्त्रे "असावेतत्त आञ्जनम्"—इत्येव विशेषः । १३, १४ ॥

भा०—वांघे हाथ में, उस अञ्जन से रंगा—कुग की तीन पिंजली ले कर दहिने हाथ के अंगुठे की जड़से पूर्व आदि तीन गड़हा में स्थित तीन पिण्ड के ऊपर एक २ क्रम से "असावेतत् त आञ्जनम्—मन्त्र पढ़ कर, प्रदान करे । और प्रथम और द्वितीय पिण्ड पर पिञ्जली देनेके पीछे एक २ बार हाथ धोवे ॥ १३, १४ ॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५ । १६ ॥

‘तथा’ पिङ्गुलीदानोक्तप्रकारेणैव ‘तैल’ पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण ता-
स्वेव कर्पूयु दद्यात् । किञ्च ‘तथा’ तेनैव प्रकारेण ‘सुरभि पत्न्या’ पिष्टं स्थग-
तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्पूयु दद्यात् । परं मुभयत्रैव “असावेतत्ते तैलम्”—इति,
“असावेतत्ते सुरभि”—इति चोहनं कर्त्तव्यं मेव ॥ १५ । १६ ॥

भा०—इदन्तरं इह पिङ्गुली दानके अनुसारं इह मन्त्रं से उक्तं २ के ऊपर
तैल एवं सुगन्धि (चन्दनादि) प्रदान करे । विशेषता—मन्त्र में यह होगी कि
‘आञ्जन’ शब्द के बदले ‘तैल’ और ‘सुरभि’ शब्द व्यवहृत होंगे ॥ १५। १६ ॥

अथ निन्हुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणी कृत्वा
-नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूपायेति मध्य-
मायाथ्सव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो
रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै
नमो वः पितरो मन्यवे इत्यथाञ्जलिः कृतो जपति नमो वः
पितरः पितरो नमो व इति ॥ १७—२१ ॥

‘अथ’ सुरभिदानानन्तरं ‘निन्हुते’ निहूयनं नमस्करणं कार्पमिति । तत्र
‘पूर्वस्याम्’ ‘उत्तमायां’ च ‘कर्ष्वां’ ‘दक्षिणोत्तानौ’ ‘पाणी’ कृत्वा ‘मध्यमायां’
तु ‘सव्योत्तानौ’ पाणी कृत्वा ततो तिसृष्वेव कर्पूष्वेकदैव ‘अञ्जलिः कृतः’ जपति
जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् “नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः
शूपाय । नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय । नमो वः पितरः स्व-
धायै नमो वः पितरो मन्यवे । १७ । नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ १९ ॥
(म० ब्रा० २, ३, ८—१९)—इत्यादिकानिति ॥ १८—२१ ॥

भा०—अनन्तरं पहिला पिण्ड पर दक्षिणोत्तान दोनों हाथ (दक्षिण कर-
तल ऊपर की [चिन्त] रहे एवं उसके ऊपर बायां करतल नीचे की हो)
तत् पश्चात् मध्यम पिण्ड पर वामोत्तान दोनों हाथ (बायां करतल ऊर्ध्वं मुख
और उसके ऊपर दक्षिण करतल अधो मुख) पर अनन्तर गेय पिण्ड पर, पुनः
दक्षिणोत्तान दोनों हाथ पर मय के अन्त में ममस्त पिण्ड लक्ष्य कर अञ्जलि
पूर्यक “नमो वः” इत्यादि चार नमस्कार करे ॥ १७—२१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति । २२ । पिण्डा-
नवेक्षते सदो वः पितरो देप्तेति ॥ २३ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते' अत्रेक्षेत; "गृहाब्जः पितरो दत्तः" ॥ १२ ॥
(म० ब्रा० २, ३, १२)—'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥ "ततः सद्यो वः पितरो
देष्मन्" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १३)—'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव 'अवे-
क्षतेति ॥ २३ ॥

भा०—अनन्तर "गृहाब्जः" इस मन्त्र को पढ़कर गृहिणी को देखे ॥ २२ ॥
इसके अनन्तर 'सद्यो वः पितरो' मन्त्र का पाठकर पिण्ड आदि देवे ॥ २३ ॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां
कपर्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्ते वासो ये
चात्र त्वा मनु या० ३३ च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृ-
श्यैव मेवेतरयोः । २४, २५ ॥

पत्न्या सम्पादिता सौमदशा, त एव एकैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा' पूर्वा-
दिषु कर्षूष क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु "एतद्वाः पि-
तरो वासः" ॥ १४ ॥—इत्येव विशेषः । अत्रापि द्वितीयतृतीययोरप उपस्पृश-
नं कार्यं मेव ॥ २४, २५ ॥

भा०—पत्नी कर्तृक सम्पादित उक्त रेशमी कपड़े के किनारे से एक २ सूत
लेकर पूर्वादि गड़हे क्रम से पिता आदि के नाम ले २ कर "यह तुम्हारा वास
है" इत्यादि मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर प्रदान करे ॥ २४, २५ ॥

सव्येनैव पाणिनादपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् प-
रिपिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति । २६ । मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्रा-
श्रीयादाधत्त पितरो गर्भ मिति ॥ २७ ॥

'उदपात्रं' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा' 'अवसलवि'
पितृतीर्थेन "ऊर्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिक्षुतं स्वधास्य तर्पयत मे
पितृन्" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १५)—'इति' मन्त्रेण 'पिण्डान्' श्रीन् एकदैव
'परिपिञ्चेत् ॥ २६ ॥ 'पुत्रकामा पत्नी' "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रगम्।
यपेह पुरुषः स्यात् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यमं
पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्रीयात् ॥ २७ ॥

भा०—पूर्व स्थापित उक्त जल पात्र को यार्ये हाथ में लेकर पहिले की
नाई 'पितृतीर्थ' मार्ग से अंगुठे से एक ही बार में तीन पिण्ड पर "ऊर्जो
वहन्ती" मन्त्र से परिपिञ्चन करे ॥ २६ ॥ पुत्र की कामना वाली पत्नी "आधत्त"
इस मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सव्य, या छोड़ा भक्षण करे ॥ २७ ॥

यो वा तेषां ब्राह्मणानां मुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥ २८ ॥
 अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुकं मद्भिर्भ्युक्ष्य
 द्वन्द्वपात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

‘उच्छिष्टभाक्’ दौहित्रः अद्वासमन्वितश्च । प्राशीयादित्येव । २८ “अभून्नो
 दूतो हविषो जातवेदा अवाह्यद्वयानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्यः स्व-
 धया ते अतन् प्रजानजग्ने पनरेहि योनिम्” ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १७)
 ‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘उल्मुकं’ कर्पूदक्षिणाह्ने स्थापितम् ‘अद्भिः’ ‘अभ्युक्ष्य’ तदी-
 येनैव भस्मना ‘द्वन्द्वं’ यथा स्यात् तथा ‘पात्राणि’ चरुस्थाल्यादीनि ‘प्रक्षाल्य’
 ‘प्रत्यतिहारयेत्’, आनयेत् शिष्यादिनेति ॥ २९ ॥

भा०—उन ब्राह्मणों के जो कोई, उच्छिष्ट भाक् हों (यथा मुआ. खाने
 वाला) वे भी इन २ पिण्डों को समस्त, या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥
 “अभून्तो” इस मन्त्र को पढ़कर गड़हे आदि के दक्षिणाह्ने में रखा इंगोटा पर
 जल छिड़के एवं उस भस्म पर चरुस्थाली पात्र आदि धोकर लावे ॥ २९ ॥

अप्सु पिण्डान्त्सादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भो-
 जयेद् गवे वा दद्याद् ॥ ३०-३३ ॥ वृद्धिपूर्तेषु युग्मानांशयेत्
 प्रदक्षिणमुपचारः ॥ ३४, ३५ ॥ यवैस्तिथार्थः ॥ ३६ ॥ ३ ॥

तान् त्रीनेषु ‘पिण्डान्’ मुक्तशेषान् वा पिबह्णांशान् ‘अप्सु’ नद्यादिषु ‘सादयेत्’
 निक्षिपेत् । ‘वा’ अथवा ‘प्रणीते वाग्नौ’ तत्रैव सादयेदित्येव, ‘वा’ अथवा ‘ब्राह्मणं’
 यं क नपि क्षुधातुरं ‘भोजयेत्’ । ‘वा’ अथवा ‘गवे’ यस्येकस्ये चिद् दद्यादिति समाप्त
 मन्वएकम् । ३०-३३ । आहुप्रसङ्गात् वृद्ध्यादिषु विशेष उपदिशति—वृद्धिः
 शरीरवृद्ध्यनुसारतः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्वोक्तं वापीकूपतडागादयः
 तेष्वपि कर्तव्येषु तत्तत्कर्माणः प्रागेव अन्वएक्यवत् पित्रर्चनं कर्तव्यमिति ।
 विशेषतस्तु तेषु ‘युग्मान्’ ब्राह्मणान् ‘आगयेत्’ इह तु ‘अयुग्मान्—इत्युक्तम्
 (म० ४ तं २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे ‘प्रचयम्’ इत्युक्तम् (म० ४ तं २ सू० २२)
 वृद्ध्यादिषु तु ‘प्रदक्षिणम्’ यथा स्यात् तथा ‘उपचारः’ कर्तव्यः इति । ३४, ३५
 अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते । तिलैः यः अर्घः प्रयोजनं भवेत्, यद्यैः अपि स
 एवार्घः सिद्धेदिति । ३६ ॥ ३॥

इति साधवेदीये गोभिलग्रन्थसूत्रे चतुर्थप्रपाठके तृतीयसहस्रिकास्यानं समाप्तम् ॥ ३॥

[प्र०४खं३मू०२८-३६, खं०४मू०१-८] अन्वष्टक्यश्राद्धं पिण्डपितृयज्ञश्च ॥ १८३

भा०:—उन सब पिण्डों को जल में फेंक देवे, या उसी अग्नि में डाले या किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन करावे, या किसी गौ को खिलावे । वृद्धि * और पूर्त्ते**के उपलक्ष्यमें पितृलोक की अर्चना समय भी पूर्वोक्त अनुष्ठान सब करना चाहिये । विशेषतः—अन्वष्टका कार्यमें अयुग्म (१,३, आदि) ब्राह्मण की व्यवस्था है, यहां जोड़ा (२, ४ आदि) ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्टका कार्य में वामावर्त्त में चरु पाक करने का नियम है, यहां दक्षिणा वर्त्त में चरु पाक करे ३५३५ तिल से जो २ कार्य कहे गये हैं, सब से भी वह २ कार्य होंगे ॥ ३६ ॥ गोभिलगृह्यमूत्र के चतुर्थप्रपाठक के तृतीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३६॥



अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥ १ ॥

‘पिण्डपितृयज्ञः’ पिण्डं शरीरं, भस्मीभूतं तदुपलक्ष्य यत् पितृपुरुषस्यार्चनम्, तदेव कर्त्तुं पिण्डपितृयज्ञइत्युच्यते । स च यज्ञो ऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अन्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनेव ‘व्याख्यातम्’ । तत्र स्थालीपाकनिघ्नो यथा विहितः, जत्रापि तथेवेत्यतिदेशः । १ ।

भा०:—अन्वष्टका कार्य में स्थाली पाक की भी व्यवस्था किपी है, पिण्ड पितृ यज्ञ में भी उसी प्रकार जानना ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥२॥ इतरदन्वाहार्यं मासीनम् । ३॥ दक्षिणाग्नौ हविषः संस्कृण्वन्ततश्चैवातिप्रणयः ४, ५॥

‘तत्’ पिण्डपितृयज्ञं कर्त्तुं ‘श्राद्धम्’—इत्याचक्षते, ‘अमावास्यायाम्’ पित्रादि-मरणानन्तरं प्रथमाया मेव वर्षमप्ये यस्यां कस्याश्चिद्वा कर्त्तव्यम् । २ । ‘इतरत्’ अपरं नपि श्राद्धम्, ‘मासीनम्’ मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् ‘अन्वाहार्यम्’ प्रथमं मनु प्रथमं निव व्यवहार्यम् । ३ । आहिताग्नेरिति ॥ ४, ५ ॥

भा०:—उस पिण्ड पितृयज्ञ—श्राद्ध को पिता आदि के विशेष होने पर, प्रथम अमावास्या को करे ॥२॥ होने से वर्षकी जिसकिसी अमावास्या को करे, अपर ११ अमावास्या को भी ११ श्राद्ध इसी प्रकार करे ॥३॥ आहिताग्नि यजमान-गण, इस श्राद्ध के हवि को, दक्षिणाग्नि में संस्कृत करें और उसी में पूर्वोक्त अति प्रणय करें ॥ ४, ५ ॥

शालाग्रावनाहिताग्नेः ॥ ६ ॥ एका कर्पूः ॥ ७ ॥ तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

अनाहिताग्निः 'शालाग्नौ' गृह्याग्नौ एव । ६ । नान्वन्वष्टक्यवत् कर्पूत्रय-
मिति भावः । ७ । 'तस्याः' कर्षाः । नान्वन्वष्टक्यवत् पूर्वत इति भावः ॥ ८ ॥

भा०—अनाहिताग्नि के गृह्यअग्नि में वह सम्पन्न होगा । ६। इस स्थान में
अन्वष्टका कार्यकी नाई तीन कर्पू न होंगे, १७।वरण एक ही कर्पू होगा उस कर्पू
के दक्षिण ओर में अग्निस्थान होगा; अन्वष्टका की नाई कर्पू के पूर्व भाग में होगा । ८।

नात्रोत्सुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि
न निह्वन मुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् । ९-१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उत्सुकनिधानं' 'स्वस्तरः', 'अञ्जनाभ्य-
ञ्जने', 'सुरभि' 'निह्वन' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्तः' एवासी यज्ञः,
'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशसूत्रमिति समाप्ता
प्रासङ्गिकी कथा । ९-१५

भा०—इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य की नाई "उत्सुक निधान,"
"स्वस्तर," "अञ्जनाभ्यञ्जन," "सुरभिदान," और "निह्वन" न करे सुतरां यह
उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इस में पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य की नाई
सूत न देकर घस्र डाले ॥ ९-१५ ॥

माध्या ऊर्ध्व मण्डभ्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघनासीयपीरंगास्याः परस्तात् कृष्णाष्टभ्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकास्या
कर्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्षद्वयः ॥ १६ ॥

भा०—माघी पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी, । तिथिको "शाकाष्टका" नामक
तृतीय अष्टका करने और उस में भी पूर्ववत् स्थालीपाक करना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृ-
तान्यच्छाकं व्यञ्जन मन्वाहार्यम् ॥ १७-२० ॥

सर्वं पूर्ववत्, विशेषतस्त्विह 'शाक' नाम 'दण्डान्नं' भोजनोपकरणम् 'अन्वा-
हार्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७-२० ॥

भा०—उस स्थालीपाक का कुछ अंश "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्र से होनकरे;
और अन्यान्य कार्य भी स्थाली पाक की नाई होंगे । विशेषत इत में शाक
व्यञ्जन खाना चाहिये ॥ १७-२० ॥

अथ पितृदेवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य-
इति वपां जुहुयाद्देवदेवत्येषु जातवेदो वपयागच्छ देवानि-

त्यनाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थाली-
पाकावृतान्यत् ॥ २१-२४ ॥

‘अथ’ अष्टकाविधानसमनन्तरम् । सर्वत्रैव ‘पितृदेवत्येषु पशुषु’ “वह वषां
जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्य निहितान् पराचः । मेदमः कुल्पा अभितान्त् स्रवन्तु
सत्या एषा माशियः सन्तु कामात्” (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १८)
इति मन्त्रेण,—‘देवदेवत्येषु’ पशुषु “जातवेदो वषसा गच्छ देवाऽऽस्त्वंऽहि होता
प्रथमो यभूष । सत्या वषा प्रवृहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिदं करोमि” १९॥
(म० ब्रा० २, ३, १९) इति मन्त्रेण,—‘अनाज्ञातेषु’ यत्र सन्नप्यमानपशौ देवता
‘आ’ सम्यक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदेवत्येषु बहुदेवत्येषु वा पशुषु ‘तथा-
देशं’ तत्र तत्रव यथा विहितं तथा विहितानुरूपेणैव मन्त्रेण ‘वषां जुहुयात्’ ।
अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति—‘वषा’ “अष्टकायै स्वाहा”—‘इति’ म-
न्त्रेण ‘जुहोति’ ‘अष्टकाकर्मणि’ अष्टकापशोश्च बहुदेवतात्वात् विवदमानदेवता-
त्वाद्वा अनाज्ञातदेवदेवत्यत्वं । वषाहोमे ‘अन्यत्’ सर्व ‘स्थालीपाकावृता’
स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१-२४ ॥

भा०—जिस स्थान में पितृगण के निमित्त पशु हनन करे, उस स्थान में
“वह वषा” इस मन्त्र से वषाहोम करे । जिस किसी स्थान में किन्हीं देवता
के निमित्त पशुहनन करे, वहाँ “जात वेदो वषसा” इस मन्त्र से वषा होम
करे । जहाँ कर्त्तव्य कार्य के देवता निश्चय में सन्देह हो (कि यहाँ कौन देवता
होनी चाहिये) ऐसे स्थान के लिये विशेष मन्त्र कहा जाता है । ऐसे स्थानों
में जो मन्त्र कहा जावे उसी मन्त्र से वषा होम करे । जिस प्रकार अष्टका
कार्य में “अष्टकायै स्वाहा” यही मन्त्र वषा होम में व्यवहृत होगा । अन्यान्य
सब कार्य स्थाली-पाक के नियम से होंगे ॥ २१-२४ ॥

ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयाद्यत्कु-
सीद मिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

‘ऋणे प्रज्ञायमाने’ स्वल्प सृणम्, ऋण मिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र,
यह्यणे जाते इति यावत् । ‘गोलकानां’ पलाशानां (?) ‘मध्यमपर्णेन’ “यत्
कुसीद सप्रदत्तं भयेहयेन यमस्य निधिना चराणि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि
जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि” ॥ २०॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) ‘इति’ मन्त्रेण जुहुयात् २५
‘अथ’ अनन्तरम् । ‘अतः’ आरम्भ-हलाभियोगः-हलप्रयोगवर्षदिश्यते इतिशेषः २६

भा०—जब यह जाने कि ऋण (कर्ज) बहुत हो गया, तो “यत् कुसीदम्”

इस मन्त्र का पाठ करके ऋण संख्यानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम गोलक पत्र होमकरे ॥२५॥ अब इसके आगे हलप्रयोग का विधिकहा जाता है ॥ २६ ॥

पुण्येनक्षत्रे स्थालीपाकथंश्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुदभ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय । २७ । सीतामाशामरडामनघाञ्च यजेत ॥ २८ ॥

स्पष्टम् । २७ । सीतादीनि चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत् ॥ २८ ॥

भा०-पुण्य नक्षत्र में अर्थात् खेती के लिये उपयुक्त काल में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहिले स्थालीपाक कर वक्ष्यमाण देवता आदि को आहुति देवे; "इन्द्राय स्वाहा" मन्त्र से देवराट् इन्द्र को, * 'मरुदभ्यः स्वाहा,' मन्त्र से मरुद् गण *** को, 'पर्जन्याय स्वाहा' मन्त्र से पर्जन्य देव को *** अशन्ये स्वाहा' मन्त्रसे अशनि देवता को****और 'भगाय स्वाहा' मन्त्रसे, भग देवता को ॥२७॥ सीता, * (हल का काल) आश, अरहा, अनघा की पूजा करे २८****

एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवपणप्रलवनपर्य्य यणेपु । २९ । आसुराजञ्जोत्करेपु यजेत ॥ ३० ॥

यदा 'सीतायज्ञः' सीतायाः लाङ्गलपट्टतेजालनम्, 'खलमञ्चः' खले शस्यादीनां मर्दनम्, 'प्रवपणम्' शस्यबीजानाम्, 'प्रलवनम्' पक्वानां शस्यानां छेदनम्, 'पर्य्यणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम् ; अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः । २९ । 'उत्करेपु' सूयिकारथानेषु 'आसुराजञ्च' 'यजेत' तत्तत्साद्य दानेन तोषयेत् ॥ ३० ॥

भा०-जिस समय हल चलावे, जिस समय खलिहान में दौनी करे, जिस समय रेत में बीज बोये, जिस समय पके शस्य (गन्ना) काटे जायें, एवं जिस समय प्रस्तुत (तैयार) अनाज घर में लावे; इन समयों में पूर्वोक्त इन्द्रादि देवता को स्मरण करे ॥२९॥ पीछे शस्य आदि घर में रखने पर चहे के दियल में भी भूस की तुष्टि के लिये कुछ अनाज देवे ॥ ३० ॥

* जो वृष (मेष) के साथ युद्ध करे, बहुत बन् फेंके, उस अश्व के (लवण जलाधार के) शरीर को सफ़र करने एवं राधा (सब कर्मों का) पाठ, जिस के प्रभाव से सब किन्ना मिट्ट होता है (ऐश्वरीय वन विरोध)

** जो देवगण वृषाश्व के साथ युद्ध काल में बन्द बी सहायता करने हैं और बाधे वृष देह को सग्न २ होने पर वह पृथिवी पर सब के साथ मिलन है (बाधु मरुद्) ॥

*** जो वेर में वृषसुर नाम से परिचित है (मेष) ॥

**** वज्र—। वज्रगुण. मयाभिनेन साध की अशनि कहते, जिस के प्रकाशमान ज्योति को धिस्त, कहते हैं ॥

***** भग गण्ड ऐश्वर्य नाचक और वृष ही सब प्रकार के ऐश्वर्य की जड़ हैं अतएव जिस देवता को अनुमद म वृषि सुख हो, उ हा को भग, देवता करने (मर्त्य) ॥

* माना प्रभुन चाण्डा रोनी के यन्त्र दंत हैं ।

[प्र० सं० ४ सू० २७-३३, सं० ५ सू० १-५] वषार्णयोर्होमोहलाभियोगश्च । १२३

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा
तप्यमानेति ॥ ३१, ३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपा-
कावृतान्यत् । ३३ ॥ ४ ॥

इन्द्राणीदेवतातोषणाय 'स्थालीपाकः' पक्तव्यः । पक्तस्य च 'तस्य' स्था-
लीपाकस्य अग्नौ गृहीत्या "एकाष्टका तपसा तप्यमाना अजान गर्भं महिमानं
मिन्द्रम् । तेन देवा असहन्त शत्रून् इन्ता सुराणां नभयच्छयीभिः" ॥ ३१ ॥
(स० ब्रा० २, ३, २१) - 'इति' मन्त्रेण जुहुयात् ॥ ३१, ३२ । 'अन्यत्' सर्वं पद-
आनुपदिष्टं ततः, 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम्, न तत्र कश्चि-
दपि विशेष इति भावः । द्विरुक्तं सखडसमाप्तिन्वचक मिति हलाभियोगः ॥ ३३ ॥ ४ ॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ४ ॥
भा०-अनन्तर इन्द्राणी * देवता के परितोष के लिये स्थालीपाक करे और
परिपक्व स्थालीपाक में से चोड़ा लेकर " एकाष्टका तपसा " - मन्त्र से आहुति
देवे ॥ ३१ । ३२ ॥ अन्यान्य सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक की रीति से सम्पन्न करे ॥ ३३ ॥
गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थप्रपाठक के चतुर्थखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ४, ४ ॥



काम्येष्वत ऊर्ध्वम्पूर्वेषु चैके ॥ १, २ ॥

'अत ऊर्ध्वं' यत् किञ्चिद्वदयमाण तत्सर्वं तत्र 'काम्येषु' वेदितव्यम् ।
'एके' प्रधानाः, गोभिलादयः पुनराचार्याः वदयमाणं नपि किञ्चित् विरूपाक्ष-
जपादिकम् 'पूर्वेषु' नित्यनैमित्तिकेषु 'च' स्वीकुर्यन्ति ॥ १, २ ॥

भा०-इस के पीछे जो कुछ कहा जायेगा, सो सब काम्य ** कर्म विषय
में जानना, प्रधान आचार्य्य गण के मत में वदयमाया विरूपाक्ष जप आदि
कई एक कार्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य में भी व्यवहृत होंगे ॥ १, २ ॥

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्जौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदम्भूमेर्भजा-
मह इति ॥ ३ ॥ वस्वन्तश्चरात्रौ धन मिति दिवा ॥ ४ ॥ इमश्च
स्तोम मिति त्वचेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

* इन्द्र की अर्थात् अन्तर्वन का सहचारिणी, अर्थात् शची त्रिया मत् ॥

** कर्म तीन प्रकार का होता—नित्य, नैमित्तिक, और काम्य, । जो करना ही होगा, न करने से पाप
हो उसे नित्य, कर्म कहते । जो किसी निमित्त में करना पड़े, न करने से वह निमित्त निर्दोष न होवे, वह
नैमित्तिक, है । किसी कामना की निमित्त जो किया जावे, उस को काम्यकर्म कहते, काम्य कर्म बरे न
करे कर्ता की इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् काम्य कर्म न करने में कोई पाप नहीं होता ॥

‘अग्नेः पश्चाद्’ ‘भूमौ’ ‘पाणी’ स्वकीयौ ‘न्यक्षौ’ आत्माभिमुखौ वक्रौ
 ‘प्रतिष्ठाप्य’ “इदम्भूमेर्भजामहे इदंभद्रं सुमङ्गलम् । परा सपत्नान् बाधस्वा-
 न्येषां विन्दते वसु ॥ (अन्येषां विन्दते धनम्)” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १)
 ‘इति’ मन्त्रं जपेदिति भूमिजपः ॥ ३ ॥ ‘रात्रौ’ भूमिजपं चेत् ‘यस्वन्तं’ वसुपदान्तं
 मन्त्रं जपेत् ‘दिवा’ अहनि चेत् ‘धनम्’-इत्यन्तं जपेदित्येव ॥ ४ ॥ “कृत्वाग्न्य-
 भिमुखौ हस्तौ स्वस्थानस्थौ सुसंहितौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात् परिसमू-
 हनम्”-इति कर्मप्रदीपः । तिसृणां सूचां समाहारः तृचः तेन । एष च
 तृचः ७० आ० ४, १, ७, १-२-३ । “इमं स्तोमं महते जातवेदसे रथनिब
 सम्महेना मनीषया । मद्रा हि नः प्रमतिरस्य सथंसद्यग्ने सख्ये सारिषामा वयं
 तव ॥ १ ॥ भरानेध्न कृणवामा हवींथं पि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम् ।
 जीवातवे प्रतराथं साधय धियोऽग्ने सख्ये सारिषामा वयं तव ॥ ३ ॥ शकेम
 त्वा समिधं साधया धियस्तवे देवा हविरदयन्त्या हुतम् । त्वमादित्याथं आ-
 वह ताथं स्यमस्यग्ने सख्ये सारिषामा वयं तव” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ४, २-४) ५

भा०-अग्नि के पश्चिम भाग में, अपना दोनों हाथ, अपने सम्मुख वक्र-
 भाव से रखे “इदं भूमेर्भजामहे” यह मन्त्र जप करे । इसी की ‘भूमिजप’ कहते
 ॥ ३ ॥ रात्रि काल में इस मन्त्र के अन्त में ‘वसु’ इस पद का प्रयोग करे और
 दिन में, प्रयोग काल में उस के अन्त्यपद ‘धनम्’ पढ़े ॥ ४ ॥ “इमं स्तोमं”
 प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूहन करे (ये तीनों मन्त्र ७० आ० ४, १, ७,
 १-२-३, और म० ब्रा० के २, ४, २-४ मन्त्र हैं) ॥ ५ ॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाङ्काम्येषु च प्रपदस्तपश्चतेजश्चेति ७

नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वत्रैव ‘होमानां’ ‘पुरस्तात्’ वैरूपाक्षः “विरूपा-
 क्षोऽसि दन्ताक्षिस्तस्य ते शम्यापर्णो गृहा अन्तरिक्षे धिमितं हिरण्यं
 तद्देवानां हृदयान्ययस्मये कुम्भे अन्तः सविहितानि तानि यत्नभृच्च यत्न-
 साच्च रक्षतोऽग्रमनी अनिमिपतः सत्यं यत्ते द्वादश पुत्रास्ते त्वा सम्घत्सरे
 सम्घत्सरे कामप्रेण यत्तेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मण्यमुपयन्ति त्व देवेषु ब्राह्मणो
 ऽस्यहं अनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मण मुपधावत्युप त्वा धायामि जपन्तं मामा
 प्रतिजापी जुहुन्तं मामा प्रतिहीयीः कुर्वन्तं मामाप्रतिकार्योस्त्यां प्रपद्ये त्वया
 प्रभूत इदं कर्म करिष्यामि तन्मे राध्यतां तन्मे समृध्यतां तन्म उपपद्यतां स
 मुद्रो मा विश्वयथा ब्रह्मानुजानातु तयो मा विश्वयेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानातु
 श्वाग्रो मा प्रयेता मैत्रावरुणो ऽनुजानातु तस्मै विरूपाक्षाय दत्ताक्ष्ये समुद्राय

[प्र० ४ खं० ५ सू० ६-१२] होमपूर्वकृत्यानि भोजननियमश्च ॥ १८९

विश्वव्यचसे तुषाय विश्ववेदसे श्वात्राय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः" ॥६॥ (म० ब्रा० २, ४, ५) -इति मन्त्रः पठितव्यः । 'काम्येषु' कर्मसु 'प्रपदश्च' "तपश्च तेजश्च श्रद्धा च ह्रीश्च सत्यज्ञाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्मश्च सत्यज्ञ वाक्च मनश्चात्मा च ब्रह्म च तानि प्रपद्ये तानि मा भवन्तु भू भुवः स्वरोम्म-हान्त मात्मनं प्रपद्ये" ॥५॥ (म० ब्रा० २, ४, ५) -इति प्रपदमन्त्रोऽपि पठितव्यः ॥६, ७॥

भा०-नित्य, नैमित्तिक और काम्य, इन तीन प्रकार के कर्मों में जो कोई होम हो, होम के पहिले "वैरूपाक्षोसि" यह मन्त्र पढ़े । सब काम्य कर्मों में "तपश्च" मन्त्र का भी पाठ करे ॥ ६ । ७ ॥

जपित्वा प्राणायाम मायम्यार्थमना वैरूपाक्ष मारभ्योच्छ्वसेत्

काम्येषु प्रपदवैरूपाक्षपोरुमयोरेथ जपो विहितः । तत्र प्रपदजपानन्तरं प्राणायामः कर्तव्यः । "पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः" -इति सन्ध्यासूत्रोक्त एवात्र यावत् । तत्र पूरककुम्भकयोः प्रपदमन्त्रार्थमननं कर्तव्यम्, रेचकारम्भत एव वैरूपाक्षमन्त्रं जपदिति । ८ । अथ भोजननियमः ।-

भा०-काम्य कर्मों में 'प्रपद' मन्त्र और 'वैरूपाक्ष' मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उन में प्रपद मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं [स प्राणायाम काल में 'पूरक' और 'कुम्भक' प्रपद मन्त्र के अर्थ का विचार कर 'रेचक' प्रणायामानुसार वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे ॥८॥

काम्येषु तिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि । ९, १० ।

'काम्येषु' कर्मसु कर्तव्येषु 'तिरात्राभोजनं' कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्तव्यम् । 'वा' असमर्थयेत् तेषु दिवसेषु 'त्रीणि' एव 'भक्तानि' भोजनानि कर्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं नैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम् ; न तु यथानियमं वारद्वयम् ॥९, १०॥

भा०-काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन माध्याह्न और दो रात्रि का भोजन छोड़ देवे, यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम से कम, एक भोजन छोड़ देवे । अर्थात् दिनरात में केवल एक बार भोजन करे ॥९, १०॥

नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु । ११ । उपोष्य तु य-जनीयप्रयोगेषु ॥ १२ ॥

कश्चित् काम अभिलष्य यत् कर्म द्विवार मनेकवारं वा क्रियते, तदेष नित्यप्रयुक्त नित्युच्यते ; तादृशानान्तु कर्मणां 'प्रथमप्रयोगेषु' एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥ यानि कर्माणि बहुदिनं

यावत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते, तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य' प्रातराशादिकं सत्पाहारं मेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

भा०-जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक बार करना पड़े, ऐसे कार्य में एक ही बार, प्रथम बार, पूर्वोक्त पहिला तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रतिवारकार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन न करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो सब कर्म कई एक दिन वा बहुत समय में समाप्त हो, ऐसे सब कर्मों में प्रतिदिन प्रातराशादि षोडश * खा कर प्रवृत्त हो ॥ १२ ॥

- उपरिष्टाद् दैक्ष्यसन्निपातिकम् ॥ १३ ॥

'सन्निपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, 'उपरिष्टाद्द्वैतं' निमित्त घटनात् पर मेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्यमिति भोजननियमः ॥ १३ ॥ अथ ब्रह्मवर्चसकामकर्म-

भा०-निमित्त घटना के पीछे नैमित्तिक कर्म समूह की दीक्षा कर्तव्य है, वही वेसे कार्यों के लिये निर्दिष्ट काल है, उस के पूर्व अभोजन, (नहीं खाना) या एक भोजन, या 'उपवास, यथासम्भव व्यवस्थित होंगे ॥ १३ ॥

अरण्ये प्रपदं प्रयुज्जीत दर्भेण्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्चसकामः । १४ । उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः ॥ १५ ॥

यः कथं 'ब्रह्मवर्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' मन्त्र 'प्रपदं' (तपश्च य० १८८)-इति मन्त्रं 'प्रयुज्जीत' । १४ । यः कथं पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु' दर्भेषु आसीनः त मेव प्रपदमन्त्रं प्रयुज्जीत ॥ १५ ॥ अथ ब्रह्मवर्चस-पुत्रपशुकामकर्म ।

भा०-जो कोई 'ब्रह्मवर्चस' की इच्छा करे, वह वन में जा कर पूर्वाप्रत्यक्ष हुए कुश पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्र द्वारा पठित मन्त्रों से साधना करे ॥ १४ ॥ और जो कोई पुत्र, या पशु की इच्छा करे, वह वन में जा कर उत्तरापक्ष कुश पर बैठ कर इस "प्रपद" मन्त्र से साधना करे ॥ १५ ॥

उभयेषूभयकामः । १६ । पशुस्वस्त्ययनकामो ब्रीहियवहीमं प्रयुज्जीत सहस्रवाहुर्गौपत्य इति ॥ १७ ॥

'उभयकामः' प्रथमसूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्चसं द्वितीयसूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स एतत् अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषु' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु

[प्र० ४ खं० ५ मू० १३-२३] ग्रहवर्चसादिकाम्यकर्माणि ॥ १९१

उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, त मेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥१६॥ पशूनां गृहपालितामां गवादीनां स्वस्त्ययनं कामयेत चेत् "सहस्रयाहु गौपत्यः स पशूनभिरक्षतु । मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्देधातु मयि प्रजां प्रजापतिः" (स्याहा) ॥ ७५ ॥ (न० ब्रा० २, ४, ५) - 'इति' मन्त्रेण 'व्रीहियवहोम' व्रीहिणा यवेन च आहुतिमग्नौ 'प्रयुञ्जीत' ॥ १७ ॥

भा०-प्रथम सूत्रोक्त 'ग्रहवर्चस' एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह यन में जा कर, पूर्वोक्त कुश यिला कर उस पर उत्तराय कुश रखे, उस पर बैठ 'प्रपद' मन्त्र से साधना करे ॥ १६ ॥ जो पालतू गौ भेड़आदि की भलाई चाहे, वह "सहस्र याहुः" मन्त्र से धान्य और यव का होम करे ॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्या-
त्मनि प्रसाद मिच्छेत्तस्मा एकभूयात्स्यात्मनाद्युग्मानि कु-
र्यात् ॥ १८, १९ ॥ वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ॥ २० ॥

अथ प्रसादकामकर्म ।- 'यस्य' कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा 'प्र-
सादम्' प्रसन्नताम् 'इच्छेत्', 'तस्मै' "कौतोमतश्च संवननश्च सुभागं, करणं, नम
माकुली नाम ते मातायाहं पुरुषामयः । यज्ञी कामस्य विच्छिन्नं तस्मै सन्धि
होयधे" ॥ ८ ॥ (न० ब्रा० २, ४, ८) महावृक्षफलानि गुवाकानि आत्राणि वा
'परिजप्य' 'प्रयच्छेत्' । तानि च फलानि 'एकभूयांसि' एकस्मिन्नेव गुच्छे बहूनि
विद्यन्ते चेत्, तर्हि 'दानात् पूर्वमेव 'आत्मनः' आत्मना स्वयमेव 'अयुग्मानि'
विच्छिन्नानि 'कुर्यात्' ॥ १८, १९ ॥ अथ पार्थिवं कर्म ।- (न० ब्रा० २, ४, ९-१३)
अधिकृतो वेदितव्यः ॥ २० ॥

भा०-जिस किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ करने की इच्छा हो, तो उस
व्यक्ति को "कौतोम" मन्त्र से पठित कई एक * महावृक्षफल प्रदान करे,
इन फलों को गुच्छा से स्वयं एक २ कर तोड़ लेवे ॥ १८, १९ ॥ "वृक्ष इव"
इत्यादि पांच मन्त्र हैं, उन का व्यवहार, यथाक्रम से कहा जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ॥ २१ ॥ अर्द्धमास मभुक्त्वा
ऽशक्तौ वा पेया मन्यतरं कालम् ॥ २२, २३ ॥

'तस्मिन्' अधिकृते पञ्चर्चं, तेनैव पञ्चर्चन समुदितेन 'प्रथमम्' एकं 'कर्म'

‘पार्थिवं’ क्षेत्राद्यर्थे कुर्यतेति । २१। तच्च पार्थिवं कर्म ‘अर्द्धमास मभुक्त्वा’ एव कार्यम् । अभोजनेऽसमर्थश्चेत् ‘अन्यतरं कालं’ दिवा रात्रौ वा एकवारं मेघ ‘पेयां’ मण्ड-दुग्धादिकं पिबेदिति ॥ २२, २३ ॥

भा०-उन्हीं पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म अर्थात् खेत आदि की उत्खरता (खेत को ऐसा करे कि जिस से उस में सब प्रकार के शस्य अच्छेप्रकार उत्पन्न हों) आदि सिद्धि के लिये एक क्रियाका अनुष्ठान किया जाता है ॥ २१ ॥ यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रह कर करे, यदि बिना खाये न रहा जावे, तो एक समयकेवल पेय (दुग्ध, आदि) पानकरे २२, २३

यत्रात्मानं परिपश्येत् ॥२४॥ एतद्व्रत मर्द्धमासव्रतेषु ॥२५॥

‘यत्र’ पेयायाम् ‘आत्मानं’ आत्मच्छायां दर्पणादाविष ‘परिपश्येत्’ तादृशीमेव तरलां पेयां पिबेदिति ॥२४॥ ‘एतत्’ पार्थिवं कर्म ‘व्रतम्’ उच्यते, तच्च ‘अर्द्धमासव्रतेषु’ गण्यते । तथाच शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धान्तिः ।

भा०-जिस ‘पेय’ वस्तु में अपना मुंह दीख पड़े, इसप्रकार तरलवस्तु पीवे ॥ २४ ॥ यह पार्थिवकर्म एक व्रत विशेष है, यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है । इस से यह व्रत शुक्ल पक्ष की परिधा से आरम्भ कर पूर्णिमाकी पूराकरे

पौर्णमास्यां रात्रावविदासिनि हृदे नाभिमात्रं मवगाह्याक्षततण्डुलानृगन्तेष्वारस्येन जुहुयात् स्वाहेत्युदके ॥२६॥

‘पौर्णमास्यां रात्रौ’ ‘अविदासिनि’ हृदे निदापेऽपि यस्य विदासः शोषी न, तादृशे जलाशये ‘नाभिमात्रं मवगाह्य’ ‘अक्षततण्डुलान्’ आस्ये कृत्वा तेनैव ‘आस्येन’ अधिकृतानां पद्मानामेकैकेनयां ‘उदके’ तत्रैव ‘जुहुयात्’; ‘नृगन्तेषु’ तासां पद्मानां मृचा मन्तेषु च ‘स्वाहा-इति’ ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥ अथ भोगादिकामकर्माणि ।—

भा०-पूर्णिमा की रात में अविदासी जलाशय में (जिस का जल घ्रीष्म श्रुत में भी न सूखे) नाभि मात्र जलमें घेठ, स्नान कर, मुंहमें अक्षत तण्डुल ले कर उन्हीं पांच मन्त्रों से, उसी जल में एक २ कर पांच आहुति देवे एवं इन पांच मन्त्रों में से, प्रत्येक के अन्त में “स्वाहा” शब्द का भी प्रयोग करता जाये

अथापरम् ॥२७॥ प्रथमयाऽऽदित्य मुपतिष्ठेत भोगकामोऽयं पतिचक्षुर्विपये सिद्धत्यर्थः ॥२८॥

पद्मानां अधिकृतानां मृचां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम २७, २८; ‘अथ’ अनन्तरम्, तामामेययां समुदितानां व्यवहारेण ‘अपरम्’

[प्र० ४ खं० ५ सू० २४-३१] पार्थिवं कर्मभोगादिकामकर्माणि च ॥ १९३

द्वितीयं कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥ 'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' "वृक्ष इव पक्ष्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुज्यते । यस्त्वेवं वेद तस्मै मे भोगान् भुञ्जान्तान् वृहन्" ॥९॥ (म० ब्रा० २, ४, ९)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपतिष्ठेत' । कोपतिष्ठेत ? इत्याह,-'अर्थपतिचक्षुषिषये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्येय चक्षुर्गोचरे प्रदेगे । तथाच 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्धयति' ॥२८॥

भा०:-उक्त पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म कहा गया है, अथ वन्हीं पांच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक २ अपर कर्म कहा जाता है ॥२७॥ जिस किमी को भोग की इच्छा हो, वह "वृक्ष इव" मन्त्र से सूर्योपस्थान करे। जिस स्थान में उन प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थल में वह अनुष्ठान किया जावे, ऐसा ही करने पर वह प्रयोजन निश्चय होगा ॥ २८ ॥

द्वितीययाऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद् वृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः ॥२९॥

पत्रं, वाहनम्, वृहत्पत्र इत्यश्व्यादि, 'वृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' "ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह । आकाश उपनिरञ्जतु मक्षान्मक्ष मघोऽश्रियम्" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ४, १०)-इत्यनयर्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' 'अक्षत तण्डुलान्' 'जुहुयात्' । "वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्योचन्द्रमसोः कराः । मालाभा द्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु सः स्मृतः" ॥-इति ।

भा०:-हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थ "ऋतं सत्ये" इस द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हुवन करे । जिस समय सूर्य मण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह किया जावे ॥ २९ ॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययन कामः ॥३०॥ चतुर्थ्यादित्य मुपस्थायाथान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थ-वानागच्छति ॥३१॥

क्षुद्रपशवो गोमेपादयः, तत्स्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया "अभिभा-गोऽसि सर्वस्मिन् तदु सर्वं त्वयि जितम् । तेन सर्वेषां सर्वो मा विवासन विवा-सय" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ४, ११)-इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव काल 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥३०॥ 'चतुर्थ्या' "कोश इव पूरणो वसुना त्वं प्रीतो ददसे । अष्टष्टोष्ट माभर सर्वान् कामान् प्रयच्छ मे" ॥१२॥ (सा० ब्रा० २, ४, १२)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाया' 'अर्थान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान्' सन्, आगच्छति' गृह्णानिति ॥३१॥

भा०:—गौ, भेड़ आदि छोटे २ पशुओं के कल्याण चाहने वाले “अभिभ-
गोऽसि” इस तृतीय मन्त्र से कई एक तिल तण्डुल होम करे, जिस समय च-
न्द्रमण्डल में परिवेप उपस्थित हो, उसी समय यह कर्म किया जावे ॥ ३० ॥
“कोश इव” इस मन्त्र से सूर्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने
से प्रयोजन सिद्ध कर निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३१ ॥

पञ्चम्यादित्य मुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहा-
नागच्छति स्वस्तिगृहानागच्छति । ३२ ॥ ५ ॥

‘पञ्चम्या’ “आकाशस्यैव आकाशे यदेतद् भाति मण्डलम् । एवं त्वा वेद यो
वेद वेदेशानेशान् प्रपच्छ मे” ॥ १३ ॥ (च० ब्रा० २, ४, १३)—इत्यनयर्वा ‘आ-
दित्य मुपस्थाय’ ‘गृहान्’ अभिलक्ष्य ‘प्रपद्येत’ यात्रां कुर्वीत, तेन सः प्रवा-
सात् प्रतिचलितः ‘स्वस्ति’ यथा स्यात्तथा ‘आगच्छति’ प्रत्यायाति । द्विवचनं
खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् । ३२ ॥ ५ ॥

इतिसामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यामंसमाप्तम् ॥ ५ ॥

भा०:—“आकाशस्यैव” इस पञ्चम मन्त्र से सूर्योपस्थान कर अपने घर
को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३२ । ५ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ अध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ५ ॥



भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुज्जीत न पापरोगान्नाभि
चाराद्वयम् ॥ १ ॥

भूर्भुवः स्वरोऽथ सूर्य इव हृशे भूयास नमिरिव तेजसा वायुरिव प्राणेन
सोन इव गन्धेन सृहस्पतिरिव बुद्ध्याऽश्विनाविव रूपेणोन्द्रांगी इव बलेन
ब्रह्मभाग एवाहं भूयासं पाप्माभागा मे द्विपन्तः” ॥ १४ ॥ (च० ब्रा० २, ४, १४) ‘इति’
अनकाममारं; इच्छामरणसाधनं मन्त्रं ‘नित्यं’ सतत मेव, प्रतिदिनं वा ‘प्रयुज्जी-
त’ ‘तेन’ ‘न’ ‘पापरोगात्’ कुष्ठादितः, ‘न’ च ‘अभिचारात्’, शत्रुकृतात् ‘भयम्’ स्यात् ॥

भा०:—जो लोग बिना कष्ट उचित समय (अपनी पूरी आय में) मृत्यु
को इच्छा करें । अर्थात् दुःख के साथ अकाल मृत्यु न हो, ये “भूः” इस मन्त्र
को सतत लप करें; इस मन्त्र के प्रभाव से शत्रुकृत मारण आदि से भय नहीं
रहता एवं कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया ॥ २ ॥

[प्र०४ खं०५ सू०३२, खं०६ सू०१-६] आत्मदेहरक्षादिकानकर्मणि ॥ १८५

मूर्ध्नाधि मे वैश्रवणाञ्छिरसोऽनुप्रवेशिनः । ललाटाद् घस्वरान् घोरांश्च
विघ्नान् विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो
मे ऽनुप्रवेशिनः । मुखान्मे यद्वदान् घोरांश्च विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ २ ॥ वा-
ह्यभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि । उरस्तो यद्वदान् घोरांश्च विघ्नान्
विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ ३ ॥ वङ्गक्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पङ्क्ति-
हानधि । कुरुभ्यो नित्रिलयो घोरांश्च विघ्नान् विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥
जङ्घाभ्यां मे यतो यतः पाप्यर्योरुत्तु तानधि । पादयो र्यिकारान् विद्वहामि वः
(स्वाहा) ॥ ५ ॥ परिधार्धं यजामहेऽणु जङ्घ्यं शशलोदरम् । योनोऽय परिवा-
धते दानाय च भगाय च (स्वाहा) ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १-८) 'इति'
अष्टधंस्य सूक्तस्य 'एकैकया' अथा एकैका आहुतिर्हीतव्या । अयं मेव पूर्वोक्तो
यजनीयप्रयोगः-इत्युच्यते । एतस्य हि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्णादः' दा-
रिद्र्यनाशः भवेदिति ॥ २ ॥

भा०-"मूर्ध्नाधि मे" इत्यादि मन्त्रों से एक २ आहुति प्रदान करे । यह यज-
नीय प्रयोग में गणनीय है । इस क्रिया के फल से दरिद्रता दूर होती है ॥२॥

या तिरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्ध्वं महाव्याहृतयः प्रजा-
पत इत्युत्तमया ॥३-६॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, चा मन्त्रपाठक्रमात् "अपेहि
त्वं परिधाध ना विधाध विधाध्रयाः । सुगपन्थानं मे क्षुद्र येन ना धन मेऽप्यति"
(स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ५, ७)-इत्यनया प्राप्ता परं न तथाभीष्टा; अपि
तस्याः स्थाने "या तिरश्ची (?)"-इत्येया प्रयोक्तव्या । किञ्च; ततो 'वामदे-
व्यर्ध्वः' (उ० ब्रा० १, १, १२, १)-'महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः "प्रजा-
पते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्त
जो अस्तु वयथंस्यान् पतपो रयीणाथं" (स्वाहा) ॥८॥ (म० ब्रा० २, ५, ८)
इत्यनया अष्टम्या अथा अष्टमी आहुतिर्हीतव्येति ॥३-६॥ अथ यशस्कामकर्म ।

भा०-इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होगी, उनमें सप्तम मन्त्र
से सप्तम आहुति न दे कर "या तिरश्ची" इस मन्त्र से सप्तम आहुति
होगी एवं उस के पश्चात् 'वामदेव्य' (उ० ब्रा० १, १, १२, १) इन तीन मन्त्र
से और उस के पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे इह के पश्चात् "प्रजा-
पते" इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देनी चाहिये ॥ ३-६ ॥

यशोऽहं भवामीति यशस्काम आदित्य मुपतिष्ठेत पू-

वर्हामध्यन्दिनापराह्णेपु प्रातरह्णस्येति सन्नामयन् ॥७॥

‘यशस्कामः’ पुरुषः, “यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशः सत्यस्य भवानि भवानि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्ना यन्तु देवता या मदपचक्रमुः । महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥१०॥ रूपं रूपं मे दिशः प्रातरह्णस्य तेजसः । अन्नमुग्रस्य प्राशिष मस्तु मयि । मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥११॥ यदिदं पश्यामि चतुषा त्वया दत्तं प्रभाषया तेन ना भुञ्ज तेन भुक्षिणीय तेन ना विश ॥ १२ ॥ अहर्नो अत्यपीपरद्राघ्निरनो अतिपारयत् । रात्रिनो अत्यपीपरदहर्नो अतिपारयत्” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ५, ९-१३) —‘इति’ पञ्चमं सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं ‘प्रातरह्णस्येति’ पदं ‘सन्नामयन्’ यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्तयन्, पूर्वार्हाह्णपराह्णेपु’ त्रिष्टेव कालेषु ‘आदित्य मुपतिष्ठेत’ ॥ ७॥ अथ स्वस्त्ययनक्रामकर्म—

भा०—जिन्हें यश की कामना हो, वे “यशोऽहं” इन पांच मन्त्रों से प्रातः मध्याह्न, और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करें ‘प्रातरह्णस्य’ यह पाठ यथा काल परिवर्तन करें । अर्थात् मध्याह्न कालमें उस के स्थान में “मध्यन्दिनस्य” और सायं समय ‘अपराह्णस्य’ ऐसा कहें ॥ ७ ॥

सन्धिवेलयोरुपस्थानं स्वस्त्ययन मादित्यनाव मिति ॥८॥

‘सन्धिवेलयोः’ उभयोरेव “आदित्यनाव सारोक्षं पूषणामपरिपारिणीम् । अश्विद्वान् पारयिष्णीश्च शतारिब्राह्मणस्वस्तये ॥ (ओक्षम् आदित्याय नम आदित्याय नम आदित्याय) ॥१४॥ (म० ब्रा० २, ५, १४) —‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘उपस्थानं’ कर्तव्यम् तथाच ‘स्वस्त्ययनं’ सिध्येत् ॥८॥

भा०—प्रातः और सायं दोनों सन्धि वेला में “आदित्यनावं”—मन्त्र से उपस्थान करे, इस से स्वस्त्ययन (कल्याण) होगा ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानुदियांस मिति पूर्वार्हं प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठास मित्यपराह्णे ॥ ९, १० ॥ आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः ॥ ११ ॥

तत्र, पूर्वार्हं ‘उद्यन्तं त्वादित्यानुदियाम्’ ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १५) ‘इति’ यजुष्य प्रयोक्तव्यम् । ‘अपराह्णे’ च “प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासम् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २५, १६) —‘इति’ च यजुः प्रयोक्तव्यमेव ॥ ९, १० ॥ अथ आचितशतकामकर्म । ‘आचितशतकामः’ पुनप, ‘अर्द्धमासव्रतः’ स्यात् ॥ ११ ॥

[प्र० ४ खं० ६ सू० १-१४, खं० ५ सू० १-२] यज्ञमादिकाम कर्माणि ॥ १८३०

भा०:—इस उपस्थान काल में 'विशेषतः प्रातः सन्धि काल में "उद्यन्त" मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में "प्रतिष्ठन्त" मन्त्र भी व्यवहृत होंगे ॥ १० जो कोई १०० आचित (२५ मन, वा एक गाड़ी वोफ) की कामना करे, वह अर्द्धमास-व्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधायदित्य मभिमुखो जुहुयाद्बलाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति ॥ १२ ॥ एतयैवावृतापरौ तामिस्रौ ॥ १३ ॥

'तामिस्रादौ' कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां 'व्रीहिकांसौदनं' पक्त्वा, तेन च 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा' 'अपरासु' द्वितीयादिषु 'सन्धिवेलासु' 'तस्य' व्रीहिकांसस्य 'कणान्' "भलाय स्वाहा ॥११॥ भल्लाय स्वाहा ॥१२॥ (म०ब्रा०२,४, ११,१८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात् । कुत्र प्रदेशे ? 'प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे' 'अग्निमुपसमाधाय, आदित्य मभिमुखः' सन् ॥ १२ ॥ 'एतया एव आवृता' पूर्वोक्तया एव रीत्या 'अपरौ' द्वौ 'तामिस्रौ' कृष्णपक्षी व्यवहर्त्तव्यौ । तदेवं त्रिभिः कृष्णपक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

भा०:—कृष्ण पक्ष की परिवा तिथि को सन्धि वेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, उसे कई एक ब्राह्मणों को भोजन करावे । इस के अनन्तर अमावास्या पर्यन्त प्रति सन्धिवेला में गांव के बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जला कर उस में 'भलाय' और 'भल्लाय' इन दोनों मन्त्रों से, सूर्य के सम्मुख हो कर इस तण्डुल के करो आदि से होम करे ॥१२॥ इसी पूर्वोक्त रीति से और भी दो कृष्ण पक्ष में अनुष्ठान करे । इस से तीन कृष्णपक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होगा ॥ १२, १३ ॥

तामिस्रान्तरेषु ब्रह्मचारीस्यादासमापनादासमापनान् ॥१४॥

'तामिस्रान्तरेषु' कृष्णपक्षमध्येष्वहोरात्रेषु व्रती पुरुष 'आसमापनात्' व्रत-समाप्ति यावत् 'ब्रह्मचारीस्यात् ॥ १४ ॥ ६ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके पष्ठमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१४६॥

भा०:—जिम तीन कृष्णपक्ष में यह "अर्द्धमास व्रत" अनुष्ठान किया जावे, उस में व्रत की समाप्ति पर्यन्त व्रती को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये ॥ १४६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थअध्याय के छठे खण्ड का भावानुवाद पूरा हुआ ॥१४६॥

अवसानं जोषयेत् ॥ १ ॥ समं लोमश मविभ्रंसि प्राच्य
उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तैरक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका
यत्रोपधयः स्युः ॥ २ ॥

‘अवसानं’ विरामलक्षणं अन्यथास्तुभिरवेष्टितं यद्व्यमाणलक्षणं भूखण्डं ‘जो-
षयेत्’ सेवेत यासायेति ॥ १ ॥ तच्च अवसानं ‘समं’ समतलं स्यात् । तच्च
‘लोमशं’ घासविशिष्टं स्यात् । तच्च ‘अविभ्रंसि’ विभ्रंशोऽघः पतनं न यत्र स-
म्भाव्यते तादृशं स्यात् । ‘यत्र’ ‘प्राच्यः उदीच्यः वा’ ‘आपः’ नद्यादिकाः ‘प्रव-
र्त्तैरन्’ विद्येरन् । ‘यत्र’ व समीपे एव ‘अक्षीरिण्यः’ ‘अकण्टकाः’ ‘ओपधयः’ स्युः ॥ २ ॥

भा०:-अन्यान्य मकान से यथा सम्भवदूर पर, अपने रहने का मकान बनाने
के लिये उपयोगी प्रशस्त (अच्छी) भूमि लेवे ॥ १ ॥ उक्त घास भूमि समतल
होवे, घासों से छिपी रहे, तालाब आदि से हटात् गिर जाने का भय न हो,
ऐसे स्थान के निकट पूर्व, या उत्तर दिशा में बृहत् जलाशय हो, एवं जिस
स्थान के समीप में क्षीरी, कण्टकी, और कटु औषधि वृक्ष न हों, ऐसा स्थान
घास के लिये पसन्द करे ॥ १, २ ॥

गौरपाथ्सु ब्राह्मणस्य लोहितपाथ्सु क्षत्रियस्य कृष्ण-
पाथ्सु वैश्यस्य । ३।४।५ । स्थिराघात मेकवर्ण मशुष्क मनु-
पर ममरुपरिहित मकिलिनम् ॥ ६ ॥

पांसयो रेणवः । एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तुनि-
र्माणं कारयेयुरिति भावः । ३-५ । ‘स्थिराघातं’ स्वरूपाघातेनैव यन्नावटीभवेत्
तत् । ‘एकवर्णं’ क्वचिद्गीर मेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम् । ‘अशुष्कं’
यत्रोत्पद्यमाना औषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम् । ‘अनूपर’ यत्रोत्तं धीजं
प्ररोहेदेव, तादृशम् । ‘अमरुपरिहितम्’ मरुभूमिभिः अवेष्टितम् । ‘अक्लिन्नम्’
क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम् । एवम् अवसानं जोषयेत्-स्वेध ॥ ६ ॥

भा०:-जिस स्थानकी धूलि का रंग गौर, ब्राह्मण लोग अपने लिये ऐसीही
घास भूमि स्वीकार करें; क्षत्रिय लोगों के लिये लाल रंगकी धूली वाली घास
भूमि उपयुक्त एवं वैश्यगण काली मट्टी वाली घास भूमि बनायें । ॥३-५॥
जिस स्थान में थोड़े चोट या आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान
की धूलि अनेक रंग की न दीख पड़े, जिस स्थान में किसी फूल के पंड़
रोपने से बृहत् मूल जाये, जिस स्थान में शस्य आदि के उपजने की शक्ति
भी हो, जिस के प्रायः चारो ओर मरु भूमि न हों, एवं जिस स्थान में जल
न हो,-ऐसी भूमि घामार्थ लेवे ॥६॥

दभंसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्वलकामस्य मृ-
दुतृणैः पशुकामस्य । ७-६ ॥

‘ब्रह्मवर्चसकामस्य’ ब्राह्मणस्य ‘दभंसम्मितं’ कुगायकुग स्थान स्थान त-
थाच दीयं पित्र्यं वा कर्म कर्तुं कुगाहरणाय क्लेशो न भवेत् । ‘वलकामस्य’ क-
त्रियस्य ‘मृदुतृणैः’ आकीर्णं स्थान मुचितम्, तथाचाखादीनां भोजनं दुर्गमं
स्यात् । ‘पशुकामस्य’ वैश्यस्य मृदुवर्णैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच
पशुचारणं सुकरं भवेदिति ॥ ७-६ ॥

भा०—जिस स्थान में समधिक कुग लम्बता हो, ऐसा स्थान ब्राह्मण के लिये
घासोपयोगी है, जिस स्थान में घोड़ा आदि के खाने योग्य वही घास आदि
बहुत पाई जावे, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य है । और जिन स्थान में
कोमल घास हो, चारण (चराने के लिये) भूमि के लिये चिन्ता न करनी
पड़े, ऐसी भूमि वैश्यके लिये उपयुक्त है ॥ ७-६ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः
स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः । १० । अनुद्वारञ्च ॥ ११ ॥

शादा इष्टका सञ्चयते, तत्सम्मितम् चतुष्कोण मित्यर्थः । मण्डलं घर्तुं न
मुच्यते, नध्योक्तं क्रमादमितो निम्नं यत्र, तद्द्वीप मुच्यते । तथाच द्वीप-
निय मध्योर्ध्वं घर्तुं नपि स्थानं न दीयावहम् । अपि ‘वा’ ‘यत्र’ स्थाने ‘स्वयं’
खाताः’ शकृन्निनाः ‘सर्वतोऽभिमुखाः’ ‘श्वभ्राः’ गताः ‘स्युः’ तत् अचतुरस्र न-
द्वीपवर्तुल नपि यासाहं भिति । १० । ‘अनुद्वारञ्च’ गृहे मनुष्यादिप्रवेगाय या-
मुप्रवेशाय वा यायन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषां भेद समसूत्रपातानुकृतानि द्वा-
राणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्येतित्येयम् । तत्र नेत्यनुवर्तते अत्रसक्तस्य नियेनाप्रवृत्तेः ११

भा०—रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण हो; गोल होनेसे भी हानि नहीं;
किन्तु उसका मध्यभाग क्रम से ऊँचा हो । यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो,
तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण, प्रभृति स्थान भी मकान के लिये स्वीकार
करे, परन्तु यदि ऐसे स्थानके चारों ओर शकृन्निम कोई गड़हा हो ॥ १० ॥ घरमें
चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिये जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि
के समसूत्रपात से, उन के समान अन्य द्वार भी रहना चाहिये ॥ १ ॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो वलकामः कुर्वीतोद्ग-
द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारं सर्वकामो न प्रत्यग्द्वारं

कुर्वीत । १२ । गृहद्वारं यथा न संलोक्य स्यात् ॥ १३ ॥

‘तत्र’ तादृशे स्थाने ‘यशस्कामः’ ‘बलकामः’ पुरुषः ‘प्राग्द्वारम्’ ‘श्रवसानं’ वासगृहं ‘कुर्वीत’ । पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः ‘उदग्द्वारम्’ श्रवसानं कुर्वीत ‘सर्वकामः’ पुरुषः ‘दक्षिणाद्वारम्’ श्रवसानं कुर्वीत । ‘प्रत्यग्द्वारं’ पश्चिमद्वारं मयसानं न कोऽपि कुर्वीतेति । १२ । तथा कुर्वीतेति ॥ १३ ॥

भा०—ऐसे स्थान में रहने का घर बनावे । उन में से जो विशेषतः यश और बल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्वमुख रखें । जो विशेषतः पुत्र और पशु की इच्छा करें, वे उत्तरमुख (रुख) दरवाजा बनवावें; जिन्हें कोई विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही प्रकार की कामना हो, वे दक्षिणमुख मकान करें, परन्तु पश्चिममुख मकान का दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥ मकान के भीतर के घर के द्वार आदि इसप्रकार रहें, जिस में घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीख पड़ें ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधो मपराद् देशादुत्तराञ्चाप्युदुम्बरम् ॥ अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडा मक्ष्यामय मुदुम्बरात् ॥ आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षोयमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥ १४ ॥

‘अश्वत्थः’—बलदलः, स च आदित्यदेवतः, तं पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत् पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात् । प्लक्षः=पर्कटी, स च यमदेवतः तं दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत्; दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् हनितास्य प्लक्षान् अलपायुषः स्युस्तत्र घातिन इति ब्रूयात् । न्यग्रोधः=वटः, स च वृक्षः ‘वारुणः’ वरुणदेवतः, तम् अपरादेशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत् पश्चिमस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत् । उदुम्बरः—यशदलः, स च प्राजापत्यः प्रजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत्, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामय मक्षिरोगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

भा०—पीपल के पेड़ की देवता सूर्य, मकान के पूर्वदिशा में पीपल एक न रखे, पूर्वभाग में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है । पाकड़ (पेड़) की देवता यम, मकान के दक्षिणभाग में पाकड़ का पेड़ रहने से घ्रायुकी हानि होती है। वट वृक्ष की देवता वरुण है, घरके पश्चिमभाग में वट का पेड़

[प्र० ४ खं० १ सू० १३-२४] वास्तुनिर्माण कामकर्मवास्तुयागश्च ॥ २०१६९-

रहने से शस्त्राघात का भन्देह रहता है। गूलरवृक्ष की देवता 'प्रजापति' हैं
अन्य मकान से उत्तरभाग में गूलर रहने से, नेत्ररोग होता है ॥ १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीतैतार्चच देवता अभियजेत ॥ १५ ॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिष्ववस्थितान् 'अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेष्व
उत्थाप्यान्वाभिलषितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत'; अपि 'च' तत्तदुत्थापनकाले
'एताः देवताः' तत्तद्वृक्षदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्चयेत् ॥ १५ ॥

भा०-अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर
उपयुक्त स्थानमें रोप कर उस वृक्षकी उन २ देवताको होमादिसे पूजाकरे ॥ १५ ॥

मध्येऽग्निं मुपसमाधाय कृष्ण्या गवा यजेताजेन वा
श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा ॥ १६-१८ ॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रशाल्य
'कृष्ण्या गया' कृष्णायाः गोः मासादिना 'यजेत'-इति प्रथमः कल्पः । 'श्वेतेन
अजेनवा' यजेतेति द्वितीयः । 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयो
रन्यतरेण चेति तृतीयः । 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यथनः कल्पः ॥ १६-१८ ॥

भा०-वास्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के मांस आदि से याग
करे, सफेद खाग के मांस, द्वारा भी यह 'याग' हो सकता है, काली गौ का
मांस, या सफेद खाग के मांस के साथ यदि 'पायस' हो तो और भी उत्तम
हो, न हो तो केवल पायस ही से याग करे ॥ १६-१८ ॥

वसा माज्यं माथ्सं पायस मिति संयूयांष्टगृहीतं गृही-
त्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यञ्चो महाव्याहृतयः
प्रजापतय इत्युत्तमा । २०-२१, २२, २३-२४ ॥

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्यमिश्रितं तत्
'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीतं मिव गृहीत्वा 'जुहुयात्' । तत्र 'वास्तोष्पते' प्रतिजानीत्या-
स्मान्दृष्ट्वाष्टौ अग्नीषो भवानः । यते गृहे प्रतितप्तौ जुषस्व शनो भव द्वि-
पदे शं चतुस्पदे" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १)-'इति' मन्त्रेण 'प्रथमा' आहुतिः । ततो
'वामदेव्यञ्चः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः । ततश्च 'महाव्याहृतयः' प्रयोक्तव्याः । ततः
'प्रजापतये'-'इति' एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण 'उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति । २०-२४ ॥

भा०-वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार (सामग्री) को एकत्र मिला
कर (जिस प्रकार चार बार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिवार ॥
, यज्ञ करता हुआ होम करे। उन में से "वास्तोष्पते" मन्त्र से पहिली आहुति

देवे; अनन्तर 'वामदेव्य' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उनके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे "प्रजापतये"—इस मन्त्र से ग्रंथ आहुति देवे ॥ २०-२४ ॥

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशमवान्तरदेशे
शेषानुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ॥ २५ ॥

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तर मेघ 'प्रतिदिशं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोणेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'शानु-पूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ॥ २५ ॥ बलीनां स्थानानि मन्त्रांश्चोपदिशति-

भा०:-वास्तु होम करके उस के पीछे प्रदक्षिणानुसार प्रति दिशा में और प्रति कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ॥ २५ ॥

इन्द्रायेति पुरस्ताद् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महाराजायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे वासुक्य इत्यधस्ताद्बृहध्वं नमोब्रह्मण इति दिवि ॥ २६-३३ ॥

मुस्पष्टान्येतानि ॥ २६-३३ ॥

भा०:-रहने के मकान से पूर्व दिशा में, तत्पश्चात् अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, तत्पश्चात् नीचे ऊपर, इन दश दिशाओं में 'इन्द्राय' प्रभृति दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ॥ २६-३३ ॥

प्राच्यदूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरेसंवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिन मेघ बलिहरणं कर्तव्यम्; एवञ्चैव नित्यप्रयोगः-इति कस्यचिन्मतम्। स्वमते तु संवत्सरे मन्वत्सरे यदा यदा नवयज्ञी ग्रीह्यश्चो ययपञ्च भवतः तदा तदैवासा मपि तिसृणां बलिहरणं मिति गम् ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेषु चतुर्थप्रपाठके मन्त्रमन्त्रवृत्त्यवधारयानं मन्त्रम् ॥ ३४ ॥

भा०:-इन्द्र देवता के लिये ऊपर की पूर्व दिशा में ब्रह्म देवता के लिये, एवं नीचे की वायुकि देवता के लिये, प्रतिदिन बलिकर्म करे, या प्रति वर्ष जिस समय नया अमास हो, और जिस समय यथ आदि गम्भ्य मूलनक्षत्रों उस २ नवाक्षर समयमें इनतीन बलिके करने से भी होमकता है ॥ ३४-३५ ॥ गोमिनगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्यायके सप्तमखण्डका भाषानुयादपूरा हुआ ॥ ३५ ॥

[प्र० ४ खं० १ सू० २५-३५ खं० ८ सू० १-४] श्रवणाग्रहायणी शेषकर्म ॥ १६६

श्रवणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्टा प्राड्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निं मुपसमाधाय हये राके इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ॥ १॥

पुरस्तादुक्ते 'श्रवणाग्रहायणी' कर्मणी । तयोः अक्षतवलिपञ्च विहिताः । तत्र सर्वैरेवाक्षतेर्बलिहरणं भूत्वा कतिचित् 'अक्षतान्' 'अग्निं' बलिशेषभूतान् रक्षित्वा तैरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना' "हये राके सिनीवालि सिनीवालि एष्टुके । शुभद्रे पश्ये रेवति यथा नो यश आग्रह (स्वाहा) ॥२॥ ये यन्ति प्राज्ञः पन्थानो य उ वोत्तरत आययुः । ये चेमे सर्वे पन्थान स्तेभिर्नो यश आग्रह (स्वाहा) ॥३॥ यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम् । एवं ना श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ यथा समदूर्ध्वं स्रवन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः । एवं ना सखायो ब्रह्मचारिणः समवयन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ५ (म० ब्रा० २, ६, २-५)" - 'इति' सूक्तान्तर्गतानां अतसृणां सूचाम् 'एकैकया' 'जुहुयात्' । स च होमः, 'ग्रामात्-प्राड्वा उदङ्वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथेऽग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्तव्य इति ॥१॥

भा०—इसके पहिले 'श्रवणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं । उक्त दोनों कर्मों में 'अक्षतबलि' भी कहा गया है । इस अक्षतबलि के समय समस्त अक्षत आदि बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रखते । इसी को एक २ अञ्जलि कर 'हये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे । यह होम गांव से बाहर निकल कर पूर्व, या उत्तरदिशा में किसी चौराहे पर आग जला कर, करे ॥ १ ॥

प्राडुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूर्ध्वं मुदीक्षमाणो देवजनेभ्यस्तिर्यङ्मिदृत्तरजनेभ्योऽर्वाङ्वेक्षमाणोऽनपेक्षमाणः प्रत्येत्याक्षतान् प्राश्नोयादुपेतैरमात्यैः सह ॥ २—४ ॥

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं द्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भण मिति यावत्, तत् कृत्वा तत्र पश्येय यत्र कुत्रचित् 'प्राड्' प्राड्मुखः, 'ऊर्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य "वसुवन एधि वसुवन एधि वसुवन एधि" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ६) - 'इति' मन्त्रं पठेत् । ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अर्वाङ्' अधः 'अवेक्षमाणः' 'इतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य त मेव मन्त्रं पठेत् । ततः 'अनपेक्षमायाः' पश्चादवलोकनं भूत्वा प्रत्येत्य' स्ववासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रो'

पस्थितैः 'अमात्यैः' 'वन्धुवर्गैः' 'सह' 'अक्षतान्' होमावशिष्टान् 'प्राप्नीयात्' बुद्धीत २-४

भा०:-उसके पश्चात् मकान में फिरने के लिये, चल कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुंह होकर, देवताओं के लिये 'यसुधन एधि' इस मन्त्र का पाठ करे। पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख। अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, उसी तिरछा होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे। अनन्तर पीछे न देख कर अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हैं, उन के साथ, होम से बची सामग्री भोजन करे ॥ २-४ ॥

स्वस्त्ययनम् ।५। वशङ्गमौ शङ्खश्चेति पृथगाहुती व्रीहियव-
होमौ प्रयुञ्जीत यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः ।६,७।

उक्तेन अवगायहायणीशेषाक्षतवलिकर्मणा 'स्वस्त्ययनं' फलं भवेत् तथा च स्वस्त्ययनकाम एयास्याधिकारी । ५ । अथ प्रसादकामकर्म ।- 'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्त्रे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः "वशङ्गमौ देवयानौ युवश्चस्थौ यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति, एवं समासौ वशमेतु (स्वाहा) ॥१॥ (म० ब्रा० २, ६, ६) - शङ्खश्च जन आयुश्च देवयानौ युवश्चस्थौ यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति एव समासौ वशमेतु (स्वाहा) " ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ८) - 'इति' आभ्या मन्त्राभ्या 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रवपकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्त्या वशङ्ग-साधिति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शङ्खश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । नित्यप्रयोगः तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्त्तव्य इति ॥ ६, ७ ॥

भा०:-उक्त अवगाया और आयहायणी दोनों कर्मों के अवशिष्ट अक्षत-वलि कर्म का फल-स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, उन्हें जो यह करना चाहिये ॥५॥ जिस किसी व्यक्तिकी प्रसन्नता चाहे वह 'वशङ्गमौ' मन्त्र से व्रीहिहोम और 'शङ्खश्च' मन्त्र से यवहोम करे। जबतक उद्देश्य सिद्ध न हो, तबतक प्रतिदिन यही प्रयोग, अनुष्ठान करे ॥ ५-७ ॥
एकाक्षर्याया मर्द्धमासघ्नते द्वे कर्मणी ।८। पौर्णमास्याथरात्रौ
खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान् वधकामः ॥९,१०॥

'एकाक्षर्यायाम्' 'आकूर्तो' देवो ममगा प्राप्ये यज्ञस्य मातरश्च सहया मे अस्तु । पर्याप्त एक भस्त्र पर ३ सहस्रा अयुतं च गारास्तस्ये याचे निदये जुहोम्या मा यरो गच्छतु धीयंश्च (स्वाहा) ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ९) "

[प्र० ४ खं० ८ सू० ५-१२] प्रसादकामकर्मं शङ्खुशतस्थण्डिल होमीच ॥ २३ ॥
इत्यस्या मृचि 'द्वे कर्मणी' अनुपदयश्यमाणे विद्योते, ते च द्वे एव 'अहुं-
मासघ्नते' वेदितव्ये । ८ । तत्र प्रथमं कर्म शङ्खुशतहवनं नाम, तच्च कामना-
द्वयभेदात् द्विविधम्, तद् द्विविधभेदोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयु-
ष्कामः' पुरुषः 'खदिरशङ्खुशतं' खादिराणां शङ्खुनां कीलकानां शतं जुहुयात्,
स्वस्य अपरस्य वा अययन्मघ्रेत् 'आयसान्' लोहविकृतान् शङ्खून् शतं जुहुया-
दिति । कदेत्युच्यते, 'पीर्यमास्यां रात्री' इति । ९ । १० । अथ स्थण्डिलहोमः ।

भा०:- 'आकूतिं देव्यो' इस मन्त्र की एकाक्षरी कहते हैं । इस एकाक्षरी
मन्त्र विषयक जा दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों की 'अहुंमास-
घ्नत' जानो ॥ ८ ॥ यदि अपनी या दूसरे की आयु बढ़ने की कामना हो, तो खद
की १०० कील होम करे । और अपनी या दूसरे की आयु के हानि की इच्छा
हो, तो लोहे के १०० कीलकों का होम करे; ये दोनों कार्य पूर्णिमा की रात
में करे और इस में एकाक्षरी मन्त्र का व्यवहार करे । यही शङ्खुशत होम
नामक पहिला कर्म है ॥ ८, १० ॥

अथापरम् ॥ ११ ॥ प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य च-
तुप्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं
मनसानुद्भूत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी'-इति, तत्र नवमदशमसूत्राभ्यां द्विविधं शङ्खुशतहवनं
मुक्तम्; 'अय' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवनं मिदं उपदि-
श्यते । अपिचान्नापि द्विविध्यमस्ति । ११ । 'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्'
पूर्वाभिमुखः, 'उदङ्' वा' अपवा उत्तराभिमुखः 'निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतु-
प्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'वारण्यैः गोमयैः', 'स्थण्डिलं' लोहपात्रं 'प्र-
ताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलरूपान् 'अपोह्य' दूरी-
कृत्य, 'मन्त्रं' प्रकृत मेक्षाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्भूत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव
प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' खमुरेन 'सर्पिः' घृतं जुहुयात् ॥ १२ ॥

भा०:- पहिले ही (८ सं० सूत्र में) कहा गया है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र
द्वारा दो कर्म सिद्ध होते हैं, उनमें से इसके पूर्व दो प्रकार 'शङ्खुशत होम
कर्म' कहा गया है । अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है ।
यह दो प्रकार का है ॥ ११ ॥ गांवकी वस्ती से पूर्व, या उत्तर आकर किसी एक
चौराहे, या पहाड़ पर जङ्गली कण्डे से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी प्रकार

तपा कर, उस अङ्गार आदि को हटाकर, इस एकक्षरी मन्त्र को मन ही मन गीघ्र पाठ कर, अपने मुंह में घी लेकर उस से होम करे ॥ १२ ॥

ज्वलन्त्यां द्वादशग्रामाः धूमे त्र्यवराद्व्या अमोघं कर्मत्याचक्षते ॥ १३-१५ ॥

सादृशे होमे हुते 'ज्वलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्रामाः' लभ्याः भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' सति त्र्यवराद्व्याः अवराध्वंशद्व्योऽन्यूनवचनः अत्रान्यूनतोऽपि त्रयो ग्रामाः भवेयुः, ज्वालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्यः प्रागवर्त्तमानाभल्पत्वबहुत्वे। एवञ्चेतत् सर्वथाप्यनिष्फलमिति 'अमोघं कर्म' - 'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः। तदेतत् 'स्थण्डिलहोम'-नाम एकाक्षर्या द्वितीयं कर्म। १३-१५ स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलाभ्तरजन-कत्वं मुच्यते।

भा०:-उस आहुति के देते ही, यदि गीघ्र ज्वाला उठे तो, अनुष्ठाता को १२ प्राग लाभ होंगे और यदि कुछ भी ज्वाला न हो, वरण धूम दीख पड़े, तभी तांत गांध मिलेगे। (सर्वथा निष्फल न होगा) इसी कारण बूढ़ लोग इसको 'अमोघ कर्म' कहते हैं। यह भी 'अर्द्धमासव्रत कहलाता है' ॥ १३। १४। १५॥
वृत्त्यविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुह्यात् १६

यजमानः यदि 'वृत्त्यविच्छित्तिकामः' वृत्तिर्जीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवङ्कामः स्यात्, तर्हि तत्रैव आरयगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले सर्पिर्होमनिगिनयतः 'हरितगोमयान्' सद्योविस्पृष्टगोमयान् तेनैव आरयेनैव 'सायं प्रातः' 'जुह्यात्' इति समाप्त मेकाक्षरीकृत्यम्। १६। अथ पण्यहोमः।

भा०:-यजमान अगर चाहे कि 'हमारी जीविका का नाश न हो', तो जङ्गली गोबरसे तप्त किया हुआ वेदीपर, घी होम न करके, सायं और प्रातः-काल तात्कालिक गोबर को मुंह में रकर, उससे होम करे ॥ १६ ॥

त्रिरात्रोपोषितः पण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माणमिति वाससरतन्तून् गोवालानेव मितरेभ्यः पण्येभ्यः ॥ १७-२० ॥

काम्येषु कर्मसु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र० ४ खं० ५ सू० ८) पण्यहोमोऽपि काम्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्तमिति विज्ञेयं विधत्ते, - 'त्रिरात्रोपोषितः' उपवासस्तु अल्पभोजनं न त्वभोजनमित्युक्तं पुरस्तात् (प्र० खं० ५ सू० १३-२६, प्र० १ खं० ६ सू० १-८) 'पण्यहोमं' पण्यं विक्रयद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम्। "इदमाह निगं विश्वकर्माणं श्रीयत्स मभिगुहोमि (स्याद्वा)" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २-५, १०) 'इति मन्त्रेण 'जुह्यात्'। किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते, - 'वाससः'

[प्र०४खं०सू०१६-२२, खं०९ सू०१-२] पयसोमो यशसादि कामकर्मसिच ॥ २०७

यामः पयसं चेत् तस्य 'तन्तून्' दद्यात्सूत्राणि जुहुयात् । गीः पयसं चेत्, तस्य 'गीः' 'वालान्' पुच्छलोमानि जुहुयात् । 'इतरेभ्यः' घञादिकादिभ्यः पयस्यो-
ऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिकं मुद्घृत्य जुहुयादित्येव । १७-२० । अथ यश-
स्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ ॥

पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः
पूर्वांशसहायकाम उत्तराम् ॥ २१, २२, ॥ ८ ॥

'पूर्णहोमः' "पूर्णहोमं यशसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वर मस्मै ददाति, वरं
वृषो यशसा भानि लोके (स्वाहा)" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ६, ११) '—इति होमः
"इन्द्रामवदात् तनो यः परस्तात् । अहं यो उयोतिर्मा नभ्येत सर्वं (स्वाहा)"
॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १२)"—इति' मन्त्रेण 'य' होमः 'यजनीयप्र-
योगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः । तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋधम्
प्रयुज्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋधम् प्रयुज्जीतेति । २१, २२ ॥ ८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेऽष्टमः एवमव्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥

भा०:-यदि ऐमी इच्छा हो कि इन जोषिर्द्वयद्वार करें, उस की उन्नति हो
उस २ द्रव्य में का, एक २ अंश लेकर जैसे—कपड़े का व्यवसाय करने की प्र-
वृत्ति हो, तो कपड़े के किनारे में मूत निकाल ले, गौ का व्यवसाय हो तो गौ
की दुध में से कुछ घाल ले इत्यादि "इदमहनिमं" मन्त्र से होम करे ॥१७, २०॥

भा०:-"पूर्ण होमं यशसे जुहोमि" इस मन्त्र से होम करे और "इन्द्रामव-
दात्" इस मन्त्र से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीयप्रयोग' है, उन में से यश
की इच्छा होने पर, प्रथम मन्त्र का प्रयोग करे और 'सहायता' की कामना
हो तो शेष मन्त्रका व्यवहार करे ॥ २१ । २२ ॥ ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अष्टम एवमव्याख्यान का आपानुयाय पूरा हुआ ॥४॥



पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्र मभुक्तौदुस्मरान्तस्त्वचमसे-
धमानुपकल्पयित्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामास्त्रिक्रम्य चतुष्प-
थेऽग्निं मुपसमाधायाज्यं मादित्यं मभिमुखो जुहुयादन्नं वा
एकच्छन्दस्यथ्यश्रीर्वा एपेति च ॥ १, २ ॥

पुरुषाणां सैनिकानां साधारणानां वानिकेषाम् आधिपत्यं यदि कामयेत्,
तर्हि तेन अष्टरात्रं भोजनं कर्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे, औदुम्बरान् सुवादीन्

प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्तुवादीन् गृहीत्वा 'ग्राह्यं उदङ्वा ग्रामात् निष्क्रम्य' यं कञ्चिदपि चतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं द्युस्थम्' 'अभिमुखः' "सन् अन्नं वा एकः शब्दस्य मन्त्रश्चोक्तं भूतेभ्यश्च हवति (स्वाहा)" ॥१३॥ (म० ब्रा० २, ६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्' । ततः "श्रीर्वा एषा यत्सत्त्वानो, विरोचनो मयि सत्त्वः सवदधातु (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'अ' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ॥ १, २ ॥

भा०:-यदि किसी की ऐसी इच्छा हो कि हमें 'पुरुषाधिपत्य' हो (सेनापति, अभूति बड़ा ओहदा, या बहुत लोग हमारा मान्य करें) तो, वह व्यक्ति आठ रात भोजन न करे, इसी बीच में गूलर की एकट्टी का स्तुवा घमस और ईधन संग्रह कर, सब को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर, बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्निस्थापन कर "अन्नं वा" मन्त्रसे घीकी आहुति देवे एवं उसी के पश्चात् लगातार "श्रीर्वा एष" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥१, २॥

अन्नस्य घृतमेवेति ग्रामे तृतीयां गोष्ठे पशुकामो विदूयमाने चीवरम् ॥ ३-५ ॥

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः सम्पत्कामो जुहोमि (स्वाहा)" ॥१५॥ (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात् आज्यस्येव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे होतव्यां ता आहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात् । तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्यं निति ॥ ३-५ ॥

भा०:-अनन्तर ग्राममें वापस आकर "अन्नस्य घृतमेव" इस मन्त्रसे तृतीय आहुति देवे । उस पुरुषाधिपत्य चाहने वाले व्यक्ति को, यदि यह भी इच्छा हो कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे । और यदि वह गोशाला गीली हो, तो उस स्थान में घी की तीसरी आहुति न करके, लोह चूर्ण होम करे (घी के बदले में) ॥ ३, ४, ५ ॥

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् वध्रीतोपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ॥६, ७॥

'अध्वनि' मार्गे 'प्रतिभये' भयहेती उपस्थिते 'वसनवतः' महृषारिषो पान्थजानान् 'उपेत्य' तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (म० ब्रा० २, ६, १३-१५) इत्यादिभिस्तिष्ठुभिः ऋग्भिः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'वध्रीत' । एतेन कर्मणा

‘सहायानां’ सहचारिणा मपि पथिकानां ‘स्वस्त्ययनं’ भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यै-
कस्य तस्येति ॥ ६, ७ ॥ अथ आचितसहस्रकामकर्म—

भा०—यदि रास्ते में दैवयोग से एकाएक किसी प्रकार का भय आपड़े,
तो भट्ठति सहस्रारी मुसाफिर के पास हो कर पूर्वोक्त “अन्नं वा” इन तीन
मन्त्रों से स्वाहाकारान्त जप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बांधें।
इस से उक्त भय भीत व्यक्ति का भय तो दूर हो ही गा, किन्तु उस की साथी
पथिक गण को भी सङ्गल होगी ॥ ६, ७ ॥

आचितसहस्रकामोऽक्षतसत्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥८॥

ताभिस्त्रिभूमिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्होतव्येति ॥ ८ ॥

भा०—जो कोई सहस्र आचित (२५ मन अर्घात् एक गाढ़ी का घोक) की कामना
करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत-सत्त्व की १००० आहुति देवे ॥ ८ ॥

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥९॥

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः ‘वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं
जुहुयात्’ स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्त्रिभूमिरेवर्गिभिरिति ॥ ९ ॥ अथ क्षुद्रपशुकामकर्म

भा०—यदि किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे गी आदि बड़े २ पशु हों, तो
वह दो बड़ों के सुखे गोवर से उक्त तीन मन्त्र द्वारा १००० आहुति देवे ॥ ९ ॥

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ॥ १० ॥

अविमिथुनयोः शुष्कः पुरीषैरिति, ताभिस्त्रिभूमिः स्वाहाकारान्ता
भिरिति ॥ १० ॥ अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म—

भा०—जिस किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे भेड़ आदि छोटे २ पशु हों तो
वह दो भेड़ के सुखे गोवर से उक्त तीन मन्त्रों से १००० आहुति देवे ॥ १० ॥

**वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे
स्वाहा क्षुत्पिपासाभ्याश्च स्वाहेति ॥ ११ ॥**

‘कम्बूकान्’ तुषान् ; फलीकरणककशानिति टीकान्तरम् । अन्यद् व्या-
ख्यातमिवैव । ११ । अथ विषदोपनाशकामकर्म—

भा०—यदि किसी को यह इच्छा हो कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे,
यह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल “क्षुधेस्वाहा” मन्त्र से तुष की आहुति देवे ॥ ११ ॥
मा भैपीर्न मरिष्यसीति विषवता दष्ट मद्भिरभ्युक्षन्जपेत् ॥ १२ ॥

‘विषयता’ सर्पेण, वृश्चिकादिना वा ‘दण्ड’ स्थानम् ‘अग्निः अभ्युक्षन्’
 “मा भैषीर्न मरिष्यसि जरदष्टि भञ्चिष्यसि । रसं विषस्य नापिद मुपं केन नि-
 वास्यम्” १८ (म० ब्रा० २, ६ १८) इति मन्त्रं जपेत् ॥ १२ ॥ अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्न-

भा०-विषधर सांप आदि के डसने पर, उस काटेहुए स्थान को धोकर
 “मभैषीर्न” इस मन्त्रका जप करे । इससे सब प्रकारके विषदोष दूर होंगे ॥ १२ ॥

तुरगोपांयेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्ड मुप-
 निदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ॥ १३ ॥

‘स्नातकः’ कृतसमावर्तनो द्वितीयाश्रनाय उद्युक्त, ‘संवेशनवेलायां’ शयन-
 समये ‘स्वस्त्ययनार्थम्’ “तुरगोपाय ना नाय गोपाय ना । अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः
 स्वस्त्ययन मसि ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १९)”-‘इति’ मन्त्रेण ‘वैणवं दण्ड’
 वंशयष्टिम् ‘उप’ समीपे स्वस्थैव ‘निदधीत’ स्थापयीत ॥ १३ ॥ अथ क्रिमिनाशकामक्षणं

भा०-स्नातक गणा (पूर्वोक्त ३ प्रकार के) अपने कएयाणार्थ, शयनकाल
 में “तुरगोपाय” इस मन्त्रसे बांसकी एक छड़ी वा लाठी अपने पास रखे ॥ १३ ॥

हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देश मद्विरभ्यु-
 क्षन् जपेत् ॥ १४ ॥

‘क्रिमिमन्तं देशम्’ व्रणादिक मधुवदरादिकञ्च ‘अग्निः अभ्युक्षन्’*“हतस्ते
 अत्रिणा क्रिमि हंतस्ते जमदग्निना । गोतमेन तिनीकृतो ऽत्रैव त्या क्रिमे ब्रह्म-
 यद्यमवद्य ॥ १ ॥ भरद्वाजस्य मन्त्रेण, सन्तिनोमि क्रिमे त्या । क्रिमिथंह वक्त्र-
 सोदिनं, क्रिमिमान्त्रानुचारिणम् । क्रिमिं द्विशीर्षं मर्जुनं, द्विशीर्षंथंह चतुर्हनुम्
 ॥ २ ॥ हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता । अथैषां भिन्नकः कुम्भो य
 एषा विषधानकः ॥ ३ ॥ *** क्रिमि सिन्द्रस्य बाहुभ्या मवाध्वं पातयामसि । हता
 क्रिमयः साशतिकाः सनीलमक्षिकाः ॥ ४ ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, ७, १-४)”-‘इति’
 चतुर्ध्वं च सूक्तं, ‘जपेत्’ । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १४ ॥

भा०-जिस किसी (घाय, जलम आदि) स्थानमें कीड़े पड़गये हों उस स्थानको
 जल से धोकर “हतस्ते” इत्यादि चार मन्त्रों का जप करे; इसी से यथापेट का,
 यथा किसी घाय के कीड़े क्यों न हों, सब ही कीड़े नष्ट हो जायेंगे ॥ १४ ॥

* अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले क्रिमिनाश के विधि का विचार किया था, सोइये यमदग्नि, एवं उस ने
 बाद गौतम ऋषि ने । ०० आरुद्रवान् अत्रि के मन्त्रणा प्रभाव से अत्रिगुरु के विधि की मशहदा से तीन प्रकार के
 क्रिमियों से नारा परना हूँ । ००० इन्द्रयव (यौंविधि) से अत्रिगुरु नाम की विधि से ।

[प्र०४ सं०१ सू०१३-१५ सं० १० मू०१-२] स्नातकस्वस्त्ययनादि कर्माणि ॥ २११

पशूनाञ्चेच्चिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ट माहृत्य वैहायसीं
निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पाथं शुभिः परिकिरन् जपेत् ॥१५॥

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां भवादीनां 'चिकीर्षेत् चेत्', तर्हि
'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्टं' साङ्गलोत्पं लोष्टम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशं
'निदध्यात्' अनावृते ऊर्ध्वे स्थापयेदिति यावत् । ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे'
एव कालं 'तस्य' लोष्टस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिमन्त्रं प्रदेशम् 'परि-
'किरन्' अथैव सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १५ ॥ ८॥
इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेनयमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥ ८॥

भा०:-यदि पशु आदिके कीड़ों को नाश करने की इच्छा हो, तो किसी
दिन दो पहर के पीछे, इस जोतने से जो डेला निकला हो, यह डेला लेकर
खुले मैदान में ऊपर की भूला रखे, उस के दूसरे दिन उस डेले को फोड़ कर
उपकी धूलि, जहां कीड़े पड़े हों, उस पर छोट २ कर उक्त ४ मन्त्र जप करे।
इसी से गो आदि पशु के मय प्रकार के कीड़े नष्ट हो जायेंगे ॥ १५ ॥ ८ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठके नवम खण्डका अनुयाद समाप्त हुआ ॥ ४, ८ ॥



उत्तरतो गां बह्वध्वोपतिष्ठेरन्महर्हणा पुत्रवाससेति ॥ १ ॥
इदमह मिमां पद्यां विराज मन्त्राद्यायाधितिष्ठामीति प्रति-
तिष्ठमानो जपेद्यत्रैन महंयिष्यन्तः स्युर्यदा बार्हयेयुः ॥ २ ॥

आचार्यादीनां पशूनां मन्यतनस्य अर्हणीयस्य 'उत्तरतः' 'गां बह्वध्वा' "अ-
र्हणां पुत्रवासमा धेनु रभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरात्सन्नाम् ॥१॥
(म० ब्रा० २, ८, १)"—'इति' मन्त्रं पठन्, तमर्हणीयम् 'उपतिष्ठेरन् ॥१॥ 'यत्र'
स्थाने 'एनम्' अर्हणीयम् 'अर्हयिष्यन्तः' शिष्यादयः 'स्युः' 'यदा वा' यस्मिंश्च
काले ते 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः, तत्रैव स्थाने, तदेव काले, सः अर्हणीयः आचार्या-
दीनां मन्यतनः 'प्रतितिष्ठमानः' दण्डायमानः "इदमह मिमां पद्यां विराज
मन्त्राद्यायाधितिष्ठामि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० २, ८, २)"—'इति' मन्त्रं 'जपेत्' ।
विष्टादीनां पशूनां त्रिस्त्रिर्वेदनीयता साह, ।

भा०:-आचार्य्यं प्रभृति अर्हणीय व्यक्ति के उत्तर भाग में गौ बान्ध कर
रखे और "इदमह पुत्र वासमा" मन्त्र से उन अर्हणीय व्यक्ति के आने पर
अनुमोदन करे ॥१॥ जिस स्थान में इन "अर्हणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये

शिरस्य आदि की इच्छा हो, एवं जिस समय अर्चनेना करनी सम्भव हो, उमी स्थान में उसी समय, अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर “इदं नहं मिनां” मन्त्र पढ़े ॥२॥

विष्टरपाद्याध्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रिंश्वेदयेरन् ॥३॥

विष्टरादीन् पञ्च ‘एकैकशः’ प्रत्येकं ‘त्रिः त्रिः’ उचचार्य ‘वेदयेरन्’ निवेदयेरन्, अर्हयितार इति शेषः ॥ ३ ॥ विष्टरग्रहणविधिः ।

भा०:-विष्टर (बिछावन) पाद्य (पेर धोने का जल) अर्घ्य (हाथ धोने का जल) आचमनीय (कुल्ला करने का जल) और मधुपर्क (खाने की वस्तु) ये पांच, इन में से एक २ करके तीन २ बार निवेदन करे ॥ ३ ॥

या ओषधीरित्युदञ्चं विष्टर मास्तीर्याध्युपविशेत् ॥४॥
द्वौ चेत् पृथग्गृह्याम् ॥ ५ ॥

‘अर्हणीयो जनः विष्टरं प्राप्य “या ओषधीः सोमराक्षी बंह्वीः शतविष-
क्षणाः । ता मस्य मस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्मन् यच्छत ॥ ३ ॥ ” “या ओषधीः
सोमराक्षी विंष्टिताः पृथिवीमनु । ता मस्य मस्मिन् पादयो रच्छिद्राः शर्मन्
यच्छत ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ३, ४)”—‘इति’ द्वयं सूक्तं पठन्, तं विष्टरम्
‘उदञ्चम्’ ‘उत्तरायम्’ कृत्या आसने ‘आस्तीर्य’ पातयित्वा, ‘अधि’ तदुपरि
‘उपविशेत्’ (आसने इति तु मन्त्रलिङ्गाद् ज्ञायते) ॥ ४ ॥ ‘द्वौ’ विष्टरी
प्राप्ती चेत्, द्वावेव तौ ‘पृथग्गृह्यां’ पूर्वसूत्रोक्ते या ओषधीरिति सूक्ते श्रुताभ्यां
विभिन्नाभ्यां व्यवहार्यौ ॥ ५ ॥

भा०:-अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर “या ओषधीः” इन दो मन्त्रों का
पाठकर उत्तराय आसन पर बैठे ॥ ४ ॥ यदि पूजा करने वाला दो विष्टर
देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक २ को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ॥५॥

पादयोरन्यम् ॥ ६ ॥ यती देवीरित्यपः प्रेक्षेत ॥ ७ ॥
सव्यं पादं भवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

तत्र एकं विष्टरम् आमनोपरि आस्तीर्याध्युपविशेदित्युक्तम्, ‘अन्यम्’
द्वितीयं तु ‘पादयोः’ अपस्ततात् आस्तीर्याध्युपविशेदित्येव । ६ । पाद्यग्रहण-
विधिः ॥ अर्हयित्रा पाद्याय दत्ताः ‘अपः’ ‘यती देवीः प्रतिपश्याम्यापस्ततो
गा राद्धि रागच्छतु ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ५)”—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘प्रेक्षेत’
अर्हणीयो जन इति (पाद्यरदिमन्त्रांस्तस्या एव टीकायाः परिशिष्टे) । ७ ।

“सव्यं पादं भवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे” ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ६)

‘इति’ पठन् अहंशीयः सः ‘सव्यं’ वामं ‘पादं’ प्रक्षालयेत् । ८ ।

भा०—एक विष्टर आमन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रखे ॥ ६ ॥ पूजा करने वाले से, जल पैर धोने के लिये दिये जाने पर, उस जल को “यतो देवी” इस मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षर करे ॥ ७ ॥ अनन्तर वह मान्य व्यक्ति घोड़ा जल देकर “सव्यं पादं भवनेनिजे” इस मन्त्र का पाठ कर अपना बायाँ पैर धोवे ॥ ८ ॥

• दक्षिणं पादं भवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ।
पूर्वं मन्यं मपरं मन्यं सित्युभौ शेषेण ॥ १० ॥

ततः “दक्षिणं पादं भवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयामि” ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ७) — ‘इति’ मन्त्रं पठन् स अहंशीयः ‘दक्षिणं पादं’ प्रक्षालयेत् । ८ । ‘शेषेण’ अवशिष्टेन पाद्योदकेन ‘उभौ’ पादोऽभ्यां दक्षिणौ एकत्रीकृत्य प्रक्षालयेत्, तत्र च “पूर्वं मन्यं मपरं मन्यं सुभौ पादावभवेनिजे । राष्ट्रस्य द्ध्यौ अभयस्यावस्तूष्यै” ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८) — इति मन्त्रः प्रयोक्तव्यः । १० । अर्घ्यग्रहणविधिः ।

भा०—उस के पश्चात् “दक्षिणपादं भवनेनिजे” इस मन्त्र का पाठ कर अपना दहिना पैर धोवे ॥ ८ ॥ बाकी जल से दोनों पैर एकत्र धोवे इसी समय “पूर्वं मन्यं” इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १० ॥

अन्नस्य राष्ट्रिरसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ यशोऽसीत्याचमनीयमाचामेत् ॥ १२ ॥ यशसो यशोऽसीति मधुपर्कं प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

“अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८) — ‘इति’ मन्त्रं पठन्, स अहंशीयः, अर्हयित्रा दत्तम् ‘अर्घ्यम्’ प्रतिगृह्णीयात् । ११ । आचमनीयग्रहणविधिः । “यशोऽसि यशो नयि चेहि” ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ८, १०) — ‘इति’ मन्त्रं पठन्, स अहंशीयः अर्हयित्रा दत्तम् ‘आचमनीयम्’ आचमनार्थं मुदकं गृहीत्वा ‘आचामेत्’ आचमनविधिना आचमनं कुर्यादिति । मधुपर्कग्रहणविधिः । ततोऽर्हयित्रा दत्तं ‘मधुपर्कं’ “यशसो यशोऽसि” ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ११) — ‘इति’ मन्त्रं पठन् अर्हयिता प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥ भा०—“अन्नस्य राष्ट्रिरसि” इस मन्त्र का पाठ कर वह मान्य व्यक्ति अर्ह-

यिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ॥११॥ अनन्तर अर्हयिता (पूजक) द्वारा आचमनीय जल देने पर, उस जल से “यसोऽसि” इस मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि अनुसार, मान्य व्यक्ति आचमन करे ॥ १२ ॥ उस के पश्चात् अर्हयिता ने ‘मधुपर्क’ दिये जाने पर मान्यव्यक्ति “यशसो” यह मन्त्र पढ़ कर उसे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यशसो भक्षोऽसि महसोभक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि त्रियं
मयि धेहीति त्रिः पिवेत्तूष्णीं चतुर्थम् । १४, १५ ॥

गृहीतश्च तं नधुपर्कं “यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि त्रियं मयि धेहि ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १२.)”—‘इति’ मन्त्रेण ‘त्रिः’ त्रिवारं ‘पिवेत्’ ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रक मेव ‘चतुर्थं’ पान मिति ॥ १४, १५ ॥

भा०—लिये हुये उस मधुपर्क को “यशसो” इस मन्त्र का तीनवार पाठ करे एवं उस के अनन्तर चतुर्थ बार बिना मन्त्र पढ़े पान करे ॥ १४, १५ ॥

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १६ ॥

मधुपर्काधिक्यञ्चेत् ‘भूयः’ पुनरपि पञ्चमवार मपि अमन्त्रक मेव ‘अभिपाय’ ‘शेषं’ पानावशिष्टं ‘ब्राह्मणाय’ अर्पयते यस्मै कस्मै चित् ‘दद्यात्’ । १६ बह्वुगोमुक्तिप्रकारः

भा०—यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, (जो चार बार पीने पर भी न निघटे) तो पञ्चम बार भी पीवे, इस बार भी मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ १६ ॥

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिभूयात् ॥ १७ ॥

ततश्च ‘आचान्तोदकाय’ स्वस्थचित्ताय अर्हणीयाय ‘नापितः’ गद्यादिविगसिता ‘गौः’—इति पदं ‘त्रिः’ त्रिवारं ‘भूयात्’ । वारत्रयगोपदोधारणमात्रेण वदूध्वा गौरिदानी मालव्यव्या न ‘वा ?’ इति अर्हणीय मुद्दिश्य विगसिता नापितः पृच्छेदिति । १७ । ततस्तं नापितं किं प्रतिभूयादित्याह ।

भा०—पीछे जय यह मान्य व्यक्ति मुंह आदि धो कर स्वस्थ चित्त होय, तब गद्य हाथ में ले नापित आकर उन मान्य व्यक्ति को तीनवार लतलावे, “गौ । ” अर्थात् इसी समय क्या गौ काटनी पड़ेगी ? (यही वृद्धि से जि. जाना करे) । ॥ १७ ॥

[प्र० ४ सं० १० सू० १४-२३] मधुपर्कदहकविधिर्वदुगोमुक्तिप्रकारश्च २१५

मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विपन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्य-
मुष्य चोभयोरुत्सृज गा मत्तु तृणानि पिवतूदकमिति ब्रूयात् ॥१८॥

“मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विपन्तं मेऽभिधेहि ॥१३॥ (म० ब्रा० २, ८, १३)”

—‘इति’ मन्त्रं “तं जह्यमुष्य, चोभयो * रुत्सृज, गा मत्तु तृणानि, पिवतूदकम्
॥ १४ ॥ (म० ब्रा० १, ८, १५)” —‘इति’ मन्त्रं च तं नापितं ब्रूयात्—इमौ
मन्त्रौ पठकृद्द्वितीयो गोमोचनायादेशं कुर्यादिति ॥ १८ ॥

भा०—अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति “मुञ्चगां” मन्त्र एवं “तं
जह्यमुष्य” मन्त्र, इन दो मन्त्रों को पढ़ कर गौ छोड़ने की आज्ञा देवे ॥१८॥

माता रुद्राणा मित्यनुमन्त्रयेत् ॥१९॥ अन्यत्र यज्ञात् ॥२०॥

तादृशादेशेन मुक्तायां गवि ता मेव गा मवलोक्षयन्हंशीय एव “माता
द्राणांदुहिता वसूनां स्वसादिस्थाना ममृतस्पनाभिः । प्र नु योचं चिकितुषे
नाय सा गा मनागा मदितिं यधिष्ट ॥ १५ ॥ ८ ॥ २ (२, ८, १५) —‘इति’
मनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रणं कुर्यादिति । १९ । गवालम्भनानालम्भनयोर्व्यव-
धानाह—‘यज्ञात्’ यज्ञः श्रौतसूत्राद्यनुमार्तोऽनुष्ठेयो ज्योतिष्टोमादि, तस्मात्
अन्यत्र’ गृह्यसूत्रोक्तविवाहादी पूर्वोक्तो गोमोचन-विधिः विद्यादिति ॥ २० ॥

भा०—मान्य व्यक्ति की उसप्रकार की आज्ञा सुन, यथार्थ बांधी गौ को खूटेसे
नापित छोड़ दे, मान्य व्यक्ति, “माता रुद्राणां” इस मन्त्र से उसगौ को अनु-
मन्त्रण करे ॥१९॥ श्रौतसूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होते,
उस से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्य सूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में, उक्त गौ
मोचन व्यवस्था समझनी चाहिये ॥ २० ॥

कुरुतेत्यधियज्ञम् । २१ । षडध्यार्हा भवन्ति । २२ । आ-
चार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति ॥२३॥

‘अधियज्ञम्’ यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु ‘कुरुत’ बहुवायाः तस्याः गाः
आलम्भनम् ‘इति’ एव । २१ । अर्हंशीयपरिगणनम्—अध्यार्हाः अर्घ्यप्राप्तियो-
ग्याः ‘यट्’ एव भवन्ति । २२ । के ते २ इत्याह,—‘आचार्यः’ कल्पादिसंहितसम-
ग्रवेदाध्यापकः, ‘ऋत्विक्’ होत्रादीना मन्यतमः, ‘स्नातकः’ कृतसमावर्तनाङ्ग-
स्नानः, ‘राजा’ अभिषिक्ती राज्ये, ‘विवाह्यः’ विवाहं कर्तुं मागतः, ‘प्रियोऽतिथिः’
विद्यादिगुणवानभ्यागतः—इति यट् । २३ । अर्हंशकालनिर्णयं करोत्याचार्यः ।

भा०—यज्ञ में—खूटे में इसप्रकार बंधेहुए गौको मोचनार्थ पृथ्ने पर “करो.”

अर्थात् उस "गौ" को बध करो" यही आदेश करना चाहिये ॥२१॥ छः व्यक्ति-
मान्य वा अर्हणीय होने हैं ॥२२॥ आचार्य, ऋत्विग्, स्नातक, राजा, वर और
गुणवान् अतिथि, ये छः व्यक्तिमान्य अर्हणीय है ॥२३॥

**परिसंवत्सरानर्हयेयुः । २४ । पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्य-
ज्ञविवाहयोश्च ॥ २५ ॥**

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत् । तथाच प्र-
तितृतीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनर्हणीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय
इति । २४ । संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्स-
रत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येष । द्विवचन सध्यायसमाप्तिस्त्वक-
निति शम् । २५ ॥ १० ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशमस्य

खण्डस्य व्याख्यानं सामग्रमिकृतं समाप्तम् ॥ ४ । १० ॥

॥ चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

भा०-अन्यून प्रति-तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ॥
॥ २४ ॥ यज्ञ और विवाह के अवसर पर-मान्य लोग (उक्त छः) तीन वर्षके
बीच में भी (जब जरूरत हो) यदि आवें तो उन का यथावत् सत्कार करो ॥२५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के दशम खण्ड का भाषानुवाद समाप्त
हुआ । चतुर्थ प्रपाठक भी समाप्त हुआ और गोभिलगृह्यसूत्र भी समाप्त हुआ ।

श्रीमान् माननीय बाबू शिवराम सिंह जी के कनिष्ठ पुत्र
क्षत्रियकुमार उदयनारायण सिंह (मधुरापुर डा० विदुदू-
पुर जि० मुज़फ्फरपुर) कृत गोभिलगृह्यसूत्र
का भाषानुवाद पूरा हुआ ।



टीकापरिशिष्टम् ॥



इह गृह्यसूत्रे यानि कानिचित् दुर्योधपदादीनि विद्यन्ते, तेषां
मर्यादिवोधनायेदम् ।

गृह्याकर्माणि ॥ १ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याद्यापरे सुताः । गृह्या इति सनाख्याता
पञ्चमानस्य दायकाः ॥ ३५ ॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्मक्रियासु च । आ-
चार्यविहितः कल्पस्तस्माद् गृह्या इति स्थितिः” ॥ ३६ ॥ इति गृह्यासङ्ग्रहः ॥ १ ॥

एवञ्च गोभिनाचार्यप्रणीता इयं स्मृतिः ‘गृह्या’—इत्युच्यते, तस्यां यानि
कर्माणि वक्ष्यमाणानि, तान्येव गृह्याकर्माणि । इत्येकोऽर्थः । अपरार्थस्तु मूलेन
साकमेव मुद्रितः । केचित्तु ‘गृह्या’—इति कर्माणीत्यस्य विशेषणं, पृथक् पदं, सु-
पाञ्चलुगित्वात्वेच रूप मिति मन्यन्ते, तथाच ‘गृह्येऽग्नौ अनुष्ठेयानि कर्माणि’
इति तृतीयोऽर्थः सस्पद्यते ।

अन्वाहार्यवन्ति ॥ ५ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“यत् ग्राह्यं कर्मणा सादी या चान्ते दक्षिणा भवेत् । अमाधार्यां द्वितीयं
यत् अन्वाहार्यं तदुच्यते ॥” क० प्र० ३ । अन्वाहार्यं विद्यते येषां कर्मणा तानी-
मानि अन्वाहार्यवन्ती—त्यर्थः । तत्रापि विशेषोऽस्ति, तथाह्युक्तं कर्मप्रदीपे—
“नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न ग्राह्ये ग्राह्ये निष्यते । न सोप्यन्ती—जातकर्म—प्रोपिता
गत-कर्मसु ॥”—इत्यादि ।

अभिरूपभोजनम् ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“यत्र विद्या च वित्तं च सत्यं धर्मः शनो दमः । अभिरूपः स विज्ञेयः
स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः ॥” गृ० स० २ । १२

अन्त्यां समिधम् ॥ ७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्याग्नौ विधिर्यया । प्रणीतेऽग्नौ समिद्ध्याद-
न्त्या सा ब्रह्मचारिणाम् ॥” गृ० २ । १८ “नाहुगुप्तादधिका ग्राह्या समित् स्मू-
लतया क्वचित् । न वियुक्तत्वाच्चैव न सकीटा न पाटिता । प्रादेशाच्चाधिका नोना
न तथा स्याद्विशिष्टा । न सपर्णा न निर्वायां होमेषु च विज्ञानना क० प्र० १ ।

अभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम् । न्यक्षताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चाधो-
क्षणं मतम् ॥” शृ० १ । १०३ भा०

लक्षणावृत् ॥ १० ॥ प्र० १ खं० १ ।

अथाहरणाद्यभ्युक्षणान्तं लक्षणं मुच्यते, तस्य आवृत् रीति रिति । गृह्या-
संग्रहे तु—“लक्षणं तत् प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतश्च यत् ॥४७॥ XXXXतस्मात् फलेन
पुरपेण पर्णेनाथ कुशेन वा । प्रोस्त्रिखेद्वर्णं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥ ४८ ॥
सर्वं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोस्त्रिखेद् दक्षिणेन तु । तावन्नोत्थापयेत् पार्श्वं यावद-
ग्निं निधापयेत् ॥ ४९ ॥ प्राग्गता पार्थिवी ज्ञेया आग्नेयी चाप्युदग्गता ।
प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कता स्मृता ॥ ५० ॥ उत्तरं गृह्य रेखा-
भ्योऽग्निमात्रे निधापयेत् । द्वारमेकन्तु द्रव्याणां प्राग्गुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५१॥
पार्थिवी चैव सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले । एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये
उभे स्मृते ॥ ५२ ॥ षडङ्गुलान्तराः कायो आग्नेयी सहितास्तु ताः । पार्थिवा-
यास्तु रेखायास्त्रिस्तु उन्नरोत्तराः ॥ ५३ ॥ शुक्लवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी,
लोहिता भवेत् । प्राजापत्या भवेत् कृष्ण नीलामैन्द्री विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥
पीतवर्णेन सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम् । एष लेखविधिः प्रोक्तो गृह्याकर्मसु
सर्वसु ॥ ५५ ॥ सूत्रमास्ता ऋजवः कार्ये लेखास्ताः सुसमाहिताः ॥” ५६ ॥ १ ।

अग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“कपालैर्भिज्जपात्रैर्वा न त्वामैर्गोमयेन वा । अग्निप्रणयनं कार्यं यजमान
भयावहम् ॥ ६४ ॥ अस्यः प्रणीतो विच्छिन्नोऽसमिद्ध्यापरिश्रुतः । त्वरया पुन-
रानीतो यजमानभयावहः ॥ ६५ ॥ तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु ।
अग्निप्रणयनं कुर्यात् यजमान-सुखावहम् ॥ ६६ ॥ शुभं पात्रन्तु कास्यं स्यात् ते-
नाग्निं प्रणयेद् युधः । तस्याभावे शरावेण भवेनाभिसुखञ्च तम् ॥” ६७ ॥ शृ० सं० १ ।

अग्निसमाधानम् ॥ १४ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक् । (१) अन्तर्या समिद्धि,
(२) विवाहश्च, (३) विभागः, (४) परमेष्ठिनः ॥” शृ० सं० १ । ७६ गोभिलीया-
नान्तु त्रयएव कालाः । विभागकालस्तु गौतमीयानाम् ।

मथित्वा ॥ १७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

अरणिद्वयमिति श्रेयः । अरणिद्वयलक्षणं त्येवम्,—“अश्वत्थो यः शमीगर्भः

प्रशस्तोर्वासमुद्रयः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीपी वोर्ध्वगापि वा । अरणि-
स्तन्मयी प्रोक्ता, तन्मध्यवोत्तरारणिः ॥ इत्यादि क० प्र० १ “देवयोनिः स
विशेषस्तत्र मशयो हुताशनः ।” गृ० सं० १ । ८०

उदिते, अनुदिते ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“रेतामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च सनन्वितम् । उदयं तं विजानीयात् होमं
कुर्वाद् विचक्षणः ॥” गृ० सं० १ । ७५ “रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्रभूपिते ।
अनुदयं विजानीयाद् होमं तत्र प्रकल्पयेत् ॥” गृ० सं० १ । ७३ समयाध्युपितकाले
अपि होमो मन्त्रादिभिरुपदिष्टः, परं न तत्कौघुमानाम्, गोभिलानुक्तेः । तत्का-
लवक्षणं त्वेत्रम्,—“ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रश्मिभिश्च न दृश्येत
समयाध्युपितं स्मृतम् ॥” गृ० सं० १ । ७४

यज्ञोपवीतम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० २ ।

“त्रिषुदूर्ध्वं घृतं कार्यं तन्तुत्रय मघोषृतम् । त्रिघृतञ्चोपवीतं स्यात् तस्यैका
ग्रन्थिरिष्यते ॥” क० प्र० १ “यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् * * * *

* । द्विगुणं त्रिगुणं वापि एकग्रन्थिकृतं विदुः ॥” गृ० सं० १।४८-५१ ॥

जुहुयात्, कृतस्य, अकृतस्य ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“होमपात्र मनादेशे द्रवद्रव्ये स्तुवः स्मृतः । पाणिरिवेतरस्मिंस्तु क्षुधा चात्र
न हूयते ॥” क० प्र० १ “यवप्रोक्ष्यकृतं क्षेयं तण्डुलादि कृताकृतम् । ओदनं तु
कृतं विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥” गृ० सं० १।९३ ॥

चरुस्थाल्या, सुवेण ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० २ ।

“तिथंगूढर्ध्वं समिन्मात्रा हृदा नातिदृहन्मुखी । मृन्मयीदुन्धरी वापि
चरुस्थाली प्रशस्यते ॥” क० प्र० २ “सादिरो वाण पात्रौ वा द्विवितस्तिः स्तुवः
स्मृतः । स्तुक् याहुमात्रा विज्ञेया घृतस्तु मप्रहस्तयोः ॥ स्तुवाग्ने प्राशवत् खातं
द्वयङ्गुष्ठपरिमण्डलम् । जुह्वाः शराववत् खातं, स्तुवार्धं षडङ्गुलम् ॥” क० प्र० १

अपराजितायां ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० २ ।

प्रक्रमणे तयोद्वाहे होमेष्विष्टकृते तथा । यस्यां दिशि विधिं प्राहुस्तामा-
हुरपराजिताम् ॥” गृ० सं० २।७८ ॥

उपाथंशु ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“शनैश्चरयेन्मन्त्रं मीपदोष्टी मचालयन् । किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्याद्
पांशु म जपः स्मृतः ॥” म०

अतिथिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥” मनुः ३।१०२ ॥

फलीकरणानाम्, आचामस्य ॥ ३१ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

“कञ्चुकाश्च कणाश्चैव फलीकरखककुगाः ॥” गृ० भा० “ओदनायद्रवं प्राहु-
राचामं हि सनीषिणः ॥” गृ० भा० ॥

सन्ध्यां उपवसन् ॥ ३ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

“अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्यात-
मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥” उपवासदिनकर्त्तव्यताकर्त्तव्यत्वे स्थपमेवोक्ते “उपा-
सस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशेष-
णम् ॥” इति च स्मृत्यन्तरम् ।

पूर्णः ॥ १०, ११ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

“राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते” ।

स्थण्डिलं, इध्मान्, मेक्षणम्, औपवसथिकम् ॥ १३-१६ प्र० १ खं० ५

“वेदिः परिष्कृता भूभिः समे स्थण्डिलचत्वरे ।” इत्यमरः । “प्रादेशद्वयमि-
ध्मस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ।” क० प्र० २ ॥

“इध्मः सज्जहनादानं चरुश्रपणं मेव च । तूष्णीं मेतानि कुर्वीत समस्तद्वि-
धम् माददेत् ॥” गृ० सं० १ । १०२ “इध्मजातीय मिध्माहुं प्रमाणं मेक्षणं भवेत्
वृत्तद्व्याहृगुष्ठपृथ्वप्र मक्षदानक्रियात्मकम् ॥ एयैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्तु महं द्रुवे
दर्वी द्व्यङ्गुलपृथ्वया तुरीयो नन्तु मेक्षणम्”-इति क० प्र० २

औपवसथिकं नाश्राति-इत्यादि ॥ १-६ ॥ प्र० १ । खं० ६ ।

उपवासदिननियमितखाद्यमौपवसथिकमित्यर्थः । तद्योक्तं,—“लघणं सधु
मांसञ्च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत नीरुरात्री कथञ्चन ॥” क० प्र० ३
अतएवाह स्मृतिः,—“शुद्धस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्रंसत्पश्येत् । प्राणाग्निहोत्र
लोपेन अवकीर्णो भवेत्तु सः ॥”-इति, “अनङ्गान् ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च
ते त्रयः । अन्नन्त एव सिध्यन्ति तेषां सिद्धिरनश्वताम् ॥”-इति च ।

दर्भवट्म् ॥ २१ ॥ प्र० १ खं० ६ ।

“ऊर्ध्वमेगोभवेद् ब्रह्मा लम्बकेशरतु विष्टरः । दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा
वामावर्त्तः तु विष्टरः ॥ कतिभिश्च कुशे ब्रह्मा ? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ? पञ्चा-

शङ्खः कुशैर्ग्रन्था तदह्नेन च विष्टरः ॥” गृ० १ । ८८, ८९” द्विरावृत्त्याय मध्ये ये
अर्द्धं वृत्त्यान्त देगतः। ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तः स ब्रह्मग्रन्थिसंज्ञकः ॥”-इति पु०
“यज्ञावास्तुनि मुष्ट्याश्च स्तस्ये दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता धिष्टरा-
स्तरणेष्वपि ॥”-इति च क० प्र०

उलूखलमुसले, शूर्पम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० ७

“मुसलोऽलूखले यार्त्तं स्वायते शुद्धे तथा । इच्छामनाणे भवतः शूर्पं वैशाख
मेव च ॥”-इति क० प्र० २

हविर्निर्वपति ॥ २ । ३ ॥ प्र० १ खं० ७

“ब्रूहाकर्मणि सीमन्ते यद्य् पाकः सदा गृहे । विवाहे चैव लाजानां नो-
क्तो निर्वपणो विधिः ॥” गृ० स० २ । ३९

अभिचार्योद्वास्य प्रत्यभिचारयेत् ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० ७

“पवित्रान्तर्हितं कृत्वा चर्तुं प्राप्नोऽभिचारयेत् । उद्वास्य चैवं विधिना एवं
तन्त्रं न लुप्यते । चतुर्मुष्टिद्वयः कार्यद्यतुर्णामुत्तरोऽपि वा ॥” गृ० स० २ । ६९

परिधीन् ॥ १६ ॥ प्र० १ खं० ७

“बाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्यचोऽव्रणाः । त्रयो भवन्त्यशीर्णाद्या
एकेषास्तु चतुर्दिशम् । प्रागप्रावभितः पश्चादुदगम् नयापरम् । न्यसेत् परिधि
मन्यश्च उदगम् स पूर्वतः ॥” क० प्र० २

प्रणीता ॥ १७ । १८ ॥ प्र० १ खं० ७

“विहितप्रतिपिहान् प्रणीतां नोपकल्पयेत् ॥” गृ० स० १ । ८६

आज्यं, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥ १९।२० प्र० १ खं० ७

“अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरेव यत् पूतं तदाज्य
मितरद् घृतम् ॥ १०६ ॥ घृतं वा यदि वा तैलं, पयो वा यदि वा यवाकम् । आज्य-
स्थाने निपुक्ताना मान्यशब्दो विधीयते ॥ १०७ ॥ आज्यानां सर्पिरादीना सं-
स्कारे विधिबोदिते । अनधिश्चरणं दध्नः शेषाणां अयणं स्मृतम् ॥ १०८ ॥ यथा
सीमन्तिका नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एव मान्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिबो-
दिते ॥” १०९ ॥ इति गृ० स० १ ।

पवित्रे ॥ २१-२३ ॥ प्र० १ खं० ७

“अनन्तगर्भिणं सायं कौशं द्विदल मेघ च । प्रादेशमात्रं विधीये पवित्रं यत्र
कुत्रचित् ॥” क० प्र० १

सम्पूय, उत्पुनान्ति ॥ २४ ॥ प्र० १ खं० ७

“पवित्र मन्तरे कृत्वा स्थाप्या भाज्यं समावपेत् । एतत् सम्पूयनं नाम पञ्चादुत्पयनं स्मृतम् ॥” गृ० सं० १ । १०६

आज्यम् ॥ २६ ॥ प्र० १ खं० ७

आज्यसहितं गाज्यपात्रं आज्यस्थाली मिति यावत् । “आज्यस्थाली च कर्तव्या तैजमद्रव्यसम्भवा । महीमयी वा कर्तव्या सर्वास्वाज्यहुतीषु च ॥ आज्य-
स्थाल्या यथा । तु यथाकर्म तु पारयेत् । सुहृदा मय्यानां भद्रा आज्यस्थालीं प्रचक्षते ।” गृ० सं० २

उपघातम् ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

“पाणिना मेकलोभाय सुष्ठेक्षेत्रं तु यद्वृषिः । हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स चक्षते ।” इति गृ० सं० १ । १११

महाव्याहृतिभिः ॥ २ प्र० १ खं० ८

“भूराद्यास्तिस्र एयैता महाव्याहृतयोऽज्ययाः” । इति क० प्र० ब्रीहयः शालयो मुक्ता गोधूमाः सयंपास्तिलाः । यवाञ्जीपथयः सप्त विपदी गन्धि धारिताः ॥—इति क० प्र० भा० ।



सुरोत्तमेन ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १

‘सुरा’--इति निघण्टी उदकनामसु (१ अ० १२ खं०) पाठभेदेन पञ्चविंश-
तितमं पदं मस्ति, तदेवात्र ग्राह्यं मित्याधुनिकानाम् । परं तत्र तथा निगमा-
दर्शनात् उदकार्थस्य सुराशब्दस्याभाव एवानेकेषां मतएवात्र;—

“स्वर्णोभिरनिन्द्याभिरद्भिरक्षतमिश्रितैः स्नानं चतुर्भिः कलशैः स्त्रीभिः स्त्री यत्र प्लावनम् ॥ १५ ॥ गौडी पीटी च माध्वी च विद्येयास्त्रिविधाः सुराः । पाणिकर्मणि गौडी स्यात् सत्या माध्वयधमा सुराः ॥” १६ ॥ इति गृ० सं० २ ।

प्राजनेन, ध्रुवणा मपां, लाजाम् ॥ १३-१६ ॥ प्र० २ खं० १

“अवसिक्तन्तु विधिना पाणिग्राहन्तु प्राजनी । रक्षणार्थं मनुगच्छेत् सप्ताहं ज्यह मेव वा ॥” गृ० सं० २ । ३५ “सहानदीषु या आपः कौट्यान्याश्च हृदेषु च । गन्धवर्णरसैर्युक्ता ध्रुवारता इति निश्चयः ॥” गृ० सं० २ । २५ “अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते । भृष्टास्तु ब्रीहयो लाजा घटा खाशिक उ-
च्यते ॥” क० प्र० ३

प्रपदेन ॥ ६ ॥ प्र० २ खं० २

“पादाग्रं प्रपदम्”—इत्यमरः २।६।७१।

प्रदक्षिणमग्निं परिणयति ॥ ४-१० ॥ प्र० २ खं० २

“लालानाज्यं सुवर्णं कुम्भं प्राजनाशमानं मेव च । प्रदक्षिणानि कुर्वीत द-
म्पती तु विना ग्रही ॥” गृ० स० २।२९ ‘ग्रही’—इति उदकग्राहम्प्राजनाशमानं ग्राह्यं
विनेत्यर्थः ।

अनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥ प्र० २ खं० ३

“स्पृशन्नानामिकाग्रं क्वचिदालोकयन्नपि । अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सर्वदैवानु-
मन्त्रयेत् ॥” इति क० प्र० ।

अर्घ्यम् ॥ १४ ॥ प्र० २ खं० ३

“पहर्ष्याहां भयन्ति”—इत्यादि वक्ष्यत्वाचार्यः स्वयं मेव (४।१०।२२)

हविष्यम् ॥ १७ ॥ प्र० २ खं० ३

“अयुक्तं मन्त्रमवस्यैरपर्युषितं मेव च । हविष्यं मेतदन्नाद्यं नक्षुरेऽप्यसंयु-
तम् ॥” गृ० स० २।७६

नदीः ॥ २ ॥ प्र० २ खं० ४

“नासद्वर्षं आघणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्ज-
यित्वा समुद्रगाः ॥ धनुः सहस्रायपट्टी च गतिर्पासां न विद्यते । न ता नदी
शब्दवहा गतास्ते परिकीर्तिताः ॥” क० प्र० १

सुवसम्पातम्, ह्रासयित्वा ॥ २-६ ॥ प्र० २ खं० ५

“हुत्वाज्यं परिशेषेण यद् द्रव्यं मुपकरिष्यतम् । सुप्रेषेण तु सत् स्पृष्टं स-
म्पातं चैव तं विदुः ॥” गृ० स० १।११४ “द्रव्यं नक्षब्धेदी रोमच्छेदनं मेव
च । स्वंसमं मेखलायाश्च ह्रासनानि विदुर्युधाः ॥” गृ० स० २।३८

न्यग्रोधशुद्धां, व्रतवती, ब्रह्मन्धूः ॥ ६-१२ ॥ प्र० २ खं० ६

“लताग्रपल्लवो बुध्नः शुद्धेति परिकीर्त्यते ।

पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथाश्रुताः ॥” क० प्र० ३

शलादुग्रन्थम् ॥ ४ ॥ प्र० २ खं० ७

“शलादु नीलं नित्युक्तं ग्रन्थः स्तवक उच्यते ।”—इति क० प्र० ३

“आमे फले शलादुः स्यात्”—इत्यमरः २।३।१५

दर्भपिञ्जलीमिः, ॥ ५ ॥ प्र० २ खं० ७

“एतत्प्रमाणा भवैके कौशी भेवाद्रंमञ्जरीम् । शुष्कां वा शीरां कुक्ष्यां पि-
ञ्जूलो परिधत्ते ।” क० प्र० १ ‘एतत्प्रमाणा’ प्रादेशप्रमाणा मिति यावत् ।

वीरतरेण, शलल्या ॥६॥ प्र० २ खं० ७

“त्रिभिः श्वेतैश्च शलली, प्रोक्तो वीरतरः शरः ।” गृ० सं० १ । ८५

“श्याविच्छलाका शलली तथा वीरतरः स्मृतः ।” क० प्र० ३

कृसरः ॥६॥ प्र० २ खं० ७

“तिलतण्डुलसम्पक्कः कृसरः सोऽभिधीयते ।” क० प्र० ३

कपुष्णिकां, कपुच्छलम् ॥१८॥ १९॥ प्र० २ खं० ६

“कपुष्णिकाभितः केशा मूहूर्त्तिं पश्चात् कपुच्छलम् ।” इति क० प्र० ३

यथागोत्रकुलकल्पम् ॥ २५ ॥ प्र० २ खं० ६

“दक्षिणाकपर्दाः शिष्टा आत्रेयास्त्रिकपर्द्दिनः ।

आङ्गिरसः पञ्चषष्ठा मुण्डा भृगोः शिखिनोऽग्नये ॥” गृ० सं० २ । ४७

उपनयेत् ॥१॥ प्र० २ खं० १०

“यक्ष्योक्तकर्त्तव्या येन समीपं नीयते गुरोः ।

बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः ॥” इति स्मृ०

येणेयरौरवाजानि ॥६॥ मुञ्जकाशताम्वल्यः ॥१०॥ प्र० २ खं० १०

“अनृची भाणवको क्षेपः, एषाः कृष्णसृगः स्मृतः ।

रुर्गौरसृगः प्रोक्तः, ताम्बलः शृण उच्यते ॥” क० प्र० ३

स्नानम् ॥२०॥ प्र० ३ खं० १

जलक्रीडादिपूर्वकं नज्जनमेव स्नानमिहेष्यते । “न गात्रोत्सादनं कुर्यादना-
पदि कपञ्चन । जलक्रिया जलह्वारं व्रतौ दण्ड इवाप्तयेत् ॥” क० प्र० ३

वरः ॥ ४५ ॥ प्र० ३ खं० २

“गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते । न ततोऽन्यद् वरं यस्माद् तस्माद्
गौर्वर उच्यते ॥” इति क० प्र० ३

अक्षतधानाः ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ३

“अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते ।” क० प्र० ३

पक्षिणीम् ॥ ११ ॥ प्र० ३ खं० ३

“द्वायद्वावेकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते ।” इति शु०

निर्घाते ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ३

टीकापरिशिष्टम् ॥

“यदान्तरिक्षे यलवान् मारुतो मरुताहतः । पतत्यधः स निर्घातो जाय
वायुसम्भवः ॥” इति ज्यो०

शिष्टाचारः ॥ २६ ॥ प्र० ३ खं० ३

“धर्मैणाधिगतो वैस्तु वेदः सपरिवृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा क्षत्रियाः
तिप्रत्यक्षहेतवः ॥” रघु०

अद्भुते ॥ ३० ॥ प्र० ३ खं० ३

“प्रकृतिविरुद्धं महभुतमापदः प्राक् प्रयोधाय देवाः सृजन्ति” इत्यापर्ययः

अनग्निका ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

“नग्निकां तु वदेत् कन्यां यावन्नक्तं मती भवेत् । ऋतुमती त्वनग्निका, तां
प्रयच्छेत्त्यनग्निकाम् । १७ अप्राप्ता रजसो गीरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी । अव्य-
ञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका । १८ वृषज्जनेस्तु सपुत्रपत्नैः सोमो भु-
ञ्जीत कन्यकाम् । पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्तितः । १९ तस्मादव्य-
ञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा । अमुका चैव सोमाद्वैः कन्यका न प्रशस्यते ॥”
२० इति गृ० सं० २ ।

मनुरपि—“देवदत्तां पतिर्भार्या विन्दते नेच्छयात्मनः ।”—८, ८५

विलयनम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६

“दध्यर्द्धमपित सधं तद्वै विलयनं स्मृतम् ।” इति गृ० भा० सप्तमखण्डे—

प्रक्रमे ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ७

“संसक्तपदविन्यासस्त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः । स्मार्ते कर्मणि सधं प्रीते
त्वध्वयुधोदितः ॥” इति गृ० भा०

कपालम् ॥ ७ ॥ प्र० ३ खं० ७

“कपालं मृगमयं पात्रं चक्रापटितं मुच्यते । आशुर्, चक्रपटितं द्वैवे पैत्रे
च वर्जयेत् ॥” इति गृ० सं० २ । ७८ भा०

न्यञ्जौ पाणी ॥ १७ ॥ प्र० ३ खं० ७

“दक्षिणं यामतो वाह्यं मात्माभिमुखं मेव च । करं करस्य कुर्वीत करणे
न्यञ्जकर्मणः ॥” क० प्र० २

स्थालीपाकवृतान्यत् ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ७

“स्थालीपाकावृतान्यत् यत्र संज्ञा निपात्यते । तत्राज्यभागी हुतवैव स्रुष
भास्तीर्षाद्यदि ॥” गृ० सं० १ । ११५

पृषातके प्रायसश्चरुः ॥ १ ॥ प्र० ३ खं० ८

“पयो यदाज्यसंयुक्तं तत् पृषातक मुच्यते । दध्येके । तदुपासाद्य कर्त्तव्यः प्रायसश्चरुः ॥ क० प्र० ३

गोनामभिः ॥ ३ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

“काम्या प्रिया च हव्या च इहा रन्ता सरस्वती । मही विश्रुता चाग्नया च गोनामानि विदुर्बुधाः ॥” इति गृ० स० २ । ६०

नवयज्ञे ॥ ८ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

“गरद्वसन्तयोः केचिलवयज्ञं प्रचक्षते । धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः ॥ आश्वयुज्यां तथा कृष्ट्यां वास्तुकर्मणि याज्ञिकाः । यज्ञार्थतत्त्वेत्तारो होम मेवं प्रचक्षते ॥” क० प्र० ३

फलवतीम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“सफला वद्रीशाखा फलवत्यभिधीयते ।” क० प्र० ३

जातशिलासु ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“घना विकसिताशङ्गाः स्मृता जातशिलास्तु ताः ।” क० प्र० ३

स्वस्तरम् ॥ १२ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“स्वस्तरे सर्वे मासाद्य यथा यदुपयुज्यते । दैवपूर्वं ततः आहुं सत्वरः शुचिरारभेत् ॥” क० प्र० २ “पारिभाषिक एव स्यात् कालो गोवाजियज्ञयोः । अन्यस्यानुपदेशात् स्वस्तराग्रेहणस्य च गृ० स०

अपूपाम्, त्रैयम्बकप्रमाणान् ॥ ८, १० ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“त्रैयम्बकं करतल नपूपा नगहकाः स्मृताः ।” क० प्र० ३

उल्मुकेन ॥ १८ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“अङ्गारोऽग्लात मुल्मुकम्”—इत्यमरः २, ९, ३० ।

स्रोतांश्च ॥ २५ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“सप्त तावन्मृदुं न्यानि तथा स्तनघृतद्वयम् । नाभिः श्रोणिरपानवृ गोः स्रोतांसि चतुर्दश ॥” क० प्र० ३



सर्वाङ्गेभ्यः ॥ १ ॥ प्र० ४ खं० १ ।

“हजिह्वाक्रीडसक्यीनि यकृद्दृक्कौ गुदं स्तनाः । श्रोणिः स्कन्धसटा पाङ्ग्वे पशवङ्गानि प्रचक्षते ॥

एकादशाना गङ्गाना मयदानानि भृङ्क्ष्वया । पार्श्वंस्व वृक्कसक्तानोद्य द्वित्या-
दाहुयस्तुदंश ॥० क० प्र० ३

वृषीम् ॥ १५ ॥ प्र० ४ खं० २ ।

“वृषीं कुपादुदह्मुखीम्” ०५ सं १ । ३८ काष्ठासनमित्यर्थः । “शङ्कुश्चघो-
पवेगद्य द्वादशाङ्गुल इष्यते” ग० सं० १ । ८४ । वृष्यपरपर्याय उपवेशः इति
भारायणोपाध्यायः ।

स्थगरम् ॥ १७-२० ॥ प्र० ४ खं० २ ।

“स्थगरं” सुरभि क्षेपं चन्दनादि विलेपनम् । ॥ क० प्र० २ ।

पूर्वस्यां कर्जाम् ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“पुरतो धातमनः कर्जुः सा पूर्वा परिकीर्त्यते । मध्यमा दक्षिणीनास्यास्त-
दृक्षित उत्तमा ॥ क० प्र० २ ।

एवमेवेतरयोः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“पितुरुत्तरकर्ण्यन्ते मध्यमे मध्यमस्य तु । दक्षिणे तरिपतुष्टेय पिण्डान्
मर्धन्ति नियपेत् ॥” क० प्र० २ ।

पिण्डम् ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

पिण्डप्रमाणं दद्यात् “पिण्डान् दत्त्वा विलयप्रमाणकान् ।” क० प्र० १

वृद्धिपूर्त्तेषु ॥ ३४ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“वृद्धिः पुरुषसंस्कारः”-इत्येष भट्टभाष्यम् । “वापीकूपतडागादि देवताय-
तनानि च , अन्नप्रदान भारामाः पूर्त्ते मित्यभिधीयते ॥” जातूकर्णः ।

गोलकानां ॥ २५ प्र० ४ खं० ४ ।

“गालागा गोलकाश्चैव” क० प्र० ३ ।

परिस्मूहेत् ॥ ५ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“कृत्याग्न्यभिमुखी पाणी स्थस्थानस्थी सुचयती । मदक्षिणं तथासीनः कु-
पात् परिस्मूहनम् ॥” क० प्र० २ ।

वैरूपाक्षः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“विरूपाक्षोऽसि-इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ॥ ५

प्रपदः ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“तपश्च तेजश्च”-इति मन्त्र । म० ब्रा० २, ४, ५

अविदासिनि ॥ २६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“मध्ये स्थण्डिल मन्ते च वारिणा परिसंवृतम् । अविदाग्निं हृदं विद्या-
त्तादृशं कर्मणो विदुः ॥” इति गृ० स० २-१२

उपतिष्ठेत ॥ २८ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“तदसंसक्तपाष्णिर्वा एकपादद्वुपादपि । कुर्यात् कृताञ्जलिर्वापि कर्ध्व-
वाहुरवापि वा ॥” भ० मा० ।

परिविप्यमाणे ॥ २९ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“घाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभाः प्रोत्रि दृश्यन्ते
परिवेपस्तु च स्मृतः ॥—इति भरत-धृत-साहसङ्ग ।

आचितशतकामः ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

“शुक्लविस्ती हेमनोऽग्रे कुरुविस्तस्तु तरपले । तुला स्त्रियां पलशतं भारः
स्याद् विंशतितुलाः । आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः ॥” इति
अमरकोशे २, ९, ८७ ॥

ब्रीहिकांसौदनं, कणान् ॥ १२ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

“द्वीणः स्यात् कांसमानकः” ब्रीहीणां कांसं ब्रीहिकासम्, तस्य औदनं भक्तं
ब्रीहिकांसौदनम्, तम् । “कञ्जुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकङ्कशाः ।” गृ० मा० ॥

अनुपरम्, अमरुपरिहितम्, अकिलिनम् ॥ ८॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“उर्वरा सर्वसस्याद्या स्याद्रूपः क्षारमृत्तिका । ऊपयानूपरो द्वायव्यन्यलिङ्गी
स्थलं स्थली ॥” अ० को० २, १, ५, “किलिनं सजलं प्रोक्तं दूरखातदको मरुः ।” क० प्र० ३

दर्भसम्मितम् ॥ ९॥ प्र० ४ खं० ७ ।

दर्भः सस्मित आच्छन्नम् । अतएव गृह्यान्तरे,—“यस्मिन् कुशयीरणप्रभूतम्”
शादासम्मितं, मण्डलद्वीपसम्मितम्, सर्वतः ॥ १०॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“शादा चैवेष्टका स्मृता” (क० प्र० ३) । तथा सम्मितं तुल्यं चतुरस्रं निति
यायत् । मण्डलं यत्तुलम् । “द्वीपं मुसत माख्यातम्” (क० प्र० ३) । तत्सम्मितं
तत्सुल्यं निति । “दिशास्तु विदिशाश्चैव यत्र नोक्ता विचारणाः । सर्वतस्तत्र शब्दोऽर्थ
विधियोगे निपात्यते ॥” गृ० स० १, २६ ॥

इन्द्राय, पितृभ्यः ॥ २६-३३ ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“अमुष्मै नम इत्येवं यन्निदानं विधीयते । यन्निदानप्रदानार्थं नमस्कारः
कृतो यतः ॥”—इति, “स्थपाकारेण निनयेत् पित्र्यं बलि मतः नदा ।”—इति
च विगेपोपदेशात् “इन्द्राय नमः”—इत्यादि “पितृभ्यः स्थपा”—इति च धोष्यम् ।

एकाक्षर्याम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"आकूतिं देवीं मनसा प्रपद्ये (म० ब्रा० २, ६, ९)"-इत्येतस्मिन् मन्त्रे "एक मक्षरम्" -इति दर्शनादय मेव मन्त्र एकाक्षरीति व्यपदिश्यतेऽत्र ।

खदिरशङ्कुशतम् ॥ ९ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"मन्त्रयः शङ्कुवः कार्यास्तीक्ष्णाया वीतकण्टकाः । ममिहसकमयुक्तः सूची-
तुल्यास्तथायताः॥" क० प्र० २ "शङ्कुश्चोपवेपथ्वद्वादशङ्गुल इष्यते" । गृ० सं १ । ८५

पूर्णहोमः ॥ २१ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

पूर्णहोमं यशसे जुहोमि (म० ब्रा० २, ६, ११)"-इति पूर्णशब्दान्वितमन्त्रेण होमः ।

चीवरम् प्र० ४ ख० ९ ।

"लीहचूर्णान्तु चीवरम्" क० प्र० ३

कम्बूकान् ॥ ११ ॥ प्र० ४ ख० ९ ।

"फलीकरणककुगान्"-इति भट्टभाष्यम् । कणान्-इत्येव तन्निष्कर्षार्थे इति मत्सुहृदः । तुपानित्पेवास्मद्गुरुवचनम् । तदत्रार्थनिर्णये भूमिदेवाः प्रमाणम् ।

संवेशनवेलायाम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ ख० ९ ।

"स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि ।" श्र० की० १, ७, ३६

विष्टरम् ॥ ४ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

"ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते । ऊर्ध्वक्षेत्रे भवेद् ब्रह्मा लम्ब-
क्षेत्रे तु विष्टरः ॥ ८८ ॥ कतिभिस्तु भवेद् ब्रह्मा? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः? पञ्चाशद्भिः
शुश्रूषंस्तु तदर्थेन तु विष्टरः ॥" इति गृ० सं १ । ८९ ॥ "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याश्च
स्तम्बे दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ।" क० प्र० १

अपः=पादम् ॥ ७ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

"पादार्थमुदकं पादं केवलं जल मेव तत् । तत्तैश्चसेन पात्रेण शङ्खेनापि
निवेदयेत् ॥" शुद्धान्तरम् ।

अर्घ्यम् ॥ ११ ॥ प्र० ख० १० ।

"दध्यक्षतसुमनस आपश्चेति चतुष्टयम् । अर्घ्यं एष प्रदातव्यो गृह्ये अर्घ्या-
होः स्मृताः ॥ " गृ० २ । ६२ अष्टाङ्गमर्घ्यलक्षणञ्चैवम्, -"दध्यक्षतसुमनसो घृतं
सिद्धार्णवा यवाः । पानीयश्चैव दर्भाश्च अष्टाङ्गो ह्यर्घ्य उच्यते ॥ " गृ० सं २, ६, ३
'कांस्येनैवाहंणीयस्य निनयेदर्घ्यं मल्लौ । " क० प्र० ३

मधुपर्कम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

"सर्विषा मधुमा दध्ना अर्चयेदहं यन् सदा । अग्निप्रोक्तेन विधिना मधुपर्कल
पाक्षिकः ॥ ६४ ॥ कंसे त्रितय मासिच्य कंसेन परिमंथ्यतम् । परिश्रितेषु देयः स्या-

मधुपर्क इति ध्रुवम् ॥” ॥५॥ इति गृ० सं० २। “साक्षतं सुमनायुक्त मुदकं द।
युतम्। अर्घ्यं दधिमधुभ्याश्च मधुपर्कं विधीयते। कांस्यापिधानं कांस्यस्थं
पर्कं समर्पयेत् । क० प्र० ३ “दधनि पयमि वाथवा कृतान्ने नु
दाहुः। दधिमधुसलिलेषु सक्तवः पृथगेति विहितास्त्रयस्तु मन्याः” इति गृ० सं०

शेषम् ॥ १६ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

पीतावशिष्टम्। नास्योच्छिष्टता; तथाहि—“मधुपर्कं तथा सोमे अण्डु प्रा
हुतीषु च। अनुच्छिष्टो भवेद् विप्रो यथा वेदविदो विदुः ॥६६॥ प्राणाहुतिषु सो
मधुपर्कं तथैव च। आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥६७॥—इति गृ० सं०

आचार्यः, ऋत्विक् ॥ २३ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

“उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यञ्च त
चार्यं प्रचक्षते ॥” ग० सं० २ । १४० “अग्न्याध्वयं पाकयज्ञानग्निहोमादिकान्
खान् । यः करोति वृतो यस्य स तस्य त्विगिहोच्यते ॥” ग० सं० २ । १४३

—००:०—०—०—०:०—

अग्निनामानि (गृ० सं० १ प्र०)

“लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः । अग्निस्तु मारुतो ना
गर्भाधाने विधीयते ॥२॥ पु० सं० सवने चान्द्रमसः शुक्लाकर्मणि शोभनः । सीमर
मङ्गलो नाम प्रागल्भो जातकर्मणि ॥ २ ॥ नाग्निं स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्र
शने च शुचिस्तथा । सभ्यनामाग्न्य चूडे तु व्रतादेशे समुद्रवः ॥ ४ ॥ गोदा
सूर्य्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते । वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योज्य
स्मृतः ॥ ५ ॥ चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे । आवसश्ये भवो ज्ञेयं
वैश्वदेवे तु पावकः ॥ ६ ॥ ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा । विष्
राहवनीये तु अग्निहोत्रे त्रयोमयः ॥ ७ ॥ सप्तहोमे तु वह्निः स्यात् कोटिहो
हुताशनः । प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥ ८ ॥ देवानां हव्यवा
हस्तु पितॄणां कव्यवाहनः । पूर्णाहुत्या मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥ ९ ॥
पौष्टिके वलदश्चैव श्लोघोऽग्निश्चाभिचारके । वश्यायै कामदो नाम वनदाहो ह
दूतकः ॥ १० ॥ कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे । समुद्रे वाहवो ज्ञेय
ज्ञेये संवत्सको भवेत् ॥ ११ ॥ एतेऽग्नयः समारूपाताः आवयेद् ब्राह्मणः सदा
सप्तत्रिंशतिविरूपाता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु ॥ १२ ॥”

इति टीकापरिशिष्टम् समाप्तम् ॥

इति श्रीसामगाचार्यसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्यविरचितया ‘व्याख्यान’-नाम-
टीकया तत्परिशिष्टेन च समन्वितं सत्रिय कुमारोदयनारायणसिंह कृत
भाषानुयादेन च सविद्वत् ।

गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

गोभिलगृह्यसूत्रस्य शुद्धिपत्रम् ॥

३	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१८	कुशाद्यपकर-	कुशाद्युपकर-	८८	२६	कारणो	करण
		रणानि	रणानि	८५	२०	काठन	काठने
३	२६	परिसमुद्धो	परिसमुद्धो	८८	१५	(दोपार	(दोपहर
८	५	ऊर्द्धं	ऊर्द्ध्वं	९८	१८	एणैय	ऐणैय
१३	१	सू० १०-२२	सू० १०-२३	१०५	११	दृद्	हृद्
१४	१८	उपने	उठने	११३	१८	अथाहि	अथापि
११	१	सू० २३-३२	सू० २४-३२	११५	८	'वर्षन्त'	'वर्षन्त'
१५	१३	तत्वम्	तत्त्वम्	१२०	८	आचाय	आचार्य
२०	२५	निययवाक्स्व	निययवाक्स्व	१२३	२८	सहित्	सवित्
२२	१८	अनुनिधानम्	अनुविधानम्	१२८	१२	ग्वाचीनाः	ग्वाचीनाः
२३	२०	अग्रान्द्य	अग्रान्द्य	१२८	३०	स्फुटयति	स्फुटयति
२८	२८	रुद्रायरमः	रुद्रायनमः	१२८	६	विद्यत्	विद्यत्
३३	२५	सर्वतः	सर्वतः	१३०	१८	पाठन	पाठन
३८	१५	यजुर्वा	यजुर्वा	१३५	२६	सूर्य	सूर्य
४१	१	पवित्रान्त-	पवित्रान्त-	१४२	२३	सायधानो	सायधानो
		हिता	हितान्	१४५	१८	गोपु	गोपु
४१	१	तण्डुलान्	तण्डुलान्	१४६	१३	तन्त्रो	तन्त्रो
४४	३	केने	केन	१५३	२६	मान	मान
४७	१४	स्विष्टकृते	स्विष्टकृते	१५८	२८	अग्ने	अग्ने
४८	६	अभिष्टारण	अभिष्टारण	१६२	२१	अपुपाएक	अपुपाएक
५४	२६	नैमित्तिकेषु	नैमित्तिकेषु	१६४	२३	गौ की	गौ की
५८	५	अगाद्य	अगाद्य	१६६	१	तदय	तदय
५८	१२	अगाधि	अगाध	१७२	२४	चरु	चरु
१८	१०	गृह्णीयात्	गृह्णीयात्	१७४	१६	यजमानस्य	यजमानस्य
६५	८	नहो	न हो	१८५	१०	तत्रय	तत्रय
७१	१	अस्त्रधर्म	अस्त्रधर्म	१८६	२३	चहे	चहे
७३	१५	तपि	पति	१८८	१३	अपेदिति	अपेदिति
७३	३०	अकि	अक्	१८२	२२	मन्तेय	मन्तेय
७८	३	यद्	यद्	१८८	१६	मनूपर	मनूपर
७८	५	विष्टरे	विष्टरे	२०३	२५	एपि	एपि
८०	३१	कृत्वात्	कृत्वात्	२०६	१	एकसरी	एकसरी
				२०८	२०	मुक्	मुक्

आर्यभटीय सटीक सानुवाद । मूल्य १)

महामति पं० आर्यभट्ट कुमुदपुर निवासी ने वेद के अनुकूल आपा में यह अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ गाके ४२१ में, बनाया था । इसी पुस्तक पृथिवी का भ्रमण साफ लिखा है । इस की भूमिका में समुद्रमयत, राक्षस आदि पुराणोक्त उपाख्यातों का विचार किया गया है । यह ग्रन्थ आपा हिन्दुस्तान में नहीं छपा था हम ने इस को जर्मन देश से मंगवाकर मूल्य पं० परमेश्वर कृत टीका और भाषानुवाद सहित छपवाया है ॥ मूल्य १

सूर्यसिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका सहित मूल्य

यह ग्रन्थ-सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन मान्य है । भारतवर्ष में ज्योतिष के अनुसार पञ्चांग आदि बनने तथा आदि सिद्धान्त ज्योतिष के विषय सम्बन्धी विवाद होने पर-इसी ग्रन्थ प्रामाण्य माना जाता है । आज तक इस अमूल्य ज्योतिष के ऊपर ऐसा विचार नहीं किया गया था । इस की भूमिका के १५० पृष्ठों में प्रायः २ ज्योतिष, अंगरेजी आदि ज्योतिष, वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों से भारत ज्योतिषशास्त्र का गौरव सिद्ध किया गया है । केवल इस एक ही पुस्तक पढ़ने से बिना गुरु प्रायः ज्योतिष के विषयों का ज्ञाता हो सकता है ॥

गौतमीय न्यायशास्त्र सभाष्य सानुवाद—मूल्य ३॥

वेद, उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षा-हमारे ऋषियों ने उपाङ्ग स्वरूप-छः दर्शन शास्त्र रचे हैं । इन दर्शनों में (अपने २ तरीके वेदोक्त सत्य समारोह धर्म की युक्ति तथा प्रमाणों से बड़े २ नास्तिक आक्षेपों का उत्तर देकर-हमारे वेदोक्त धर्म की रक्षा किया गयी है । छः दर्शनों में से सब से अधिक हमारे गौतम ऋषि ने चावोंक, बीध, आ जैन आदि मतों का अकाट्य उत्तर दिया है । इस दर्शन में एक बड़ी विशेषता यह है कि इस का ठीक २ सत्क लेने पर, शास्त्रार्थ वा वहम की र सूत्र मालूम हो जाती है और चाहे कैसा भी प्रयत्न नास्तिक क्यों न हो शास्त्र के जानने वाले के सामने नहीं उठ सकता । इस न्याय सिद्धा "तर्क," सन्तिक या Logic कहते हैं । गौतम मुनिकृत ५३० सूत्रों पर वाट्स यन मुनिकृत संस्कृत भाष्य या-अत्युम सरल भाषानुवाद, स्थान २ पर उप टिप्पणी दीयी गयी है और यह प्रति १३ शुद्ध प्रतियों से मिला कर, अतः शुद्ध छापी गयी है । इस में एक और विशेषता है कि इस की भूमिका आग्निह और नास्तिक दर्शनों पर युक्ति और प्रमाणों द्वारा विचार कि गया है और-छः दर्शनों का परस्पर विशेषमात्र-के धर्म को दूर किया गया

पता-उदयनारायणसिंह-शास्त्रप्रकाश कार्यालय

मधुरापुर, ब्रिहद्रपुर, मुजफ्फरपुर